Approved & enlisted by UGC (Sr. No. 185, J.No. 40741)

ISSN : 2277-4351 RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies

Vol./वर्ष-6 January–June 2018 No./अंक 10

(Special Issue)

Vedic (Ancient Indian) Psycology

सम्पादक

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्षचर, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India

http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।। यजु. 34/1

पदार्थः—(यत्) (जाग्रतः) (दूरम्) (उदैति) उद्गच्छति (दैवम्) देव आत्मनि भवं देवस्य जीवात्मनः साधनमिति वा (तत्) यत्। व्यत्ययः। (उ) (सुप्तस्य) शयानस्य (तथा) तेनैव प्रकारेण (एव) (एति) अन्तर्गच्छति (दूरङ्गमम्) यद्दूरं गच्छति गमयति वाऽनेकपदार्थान् गृह्णाति तत् (ज्योतिषाम्) शब्दादिविषयप्रकाशकानामिन्द्रियाणाम् (ज्योतिः) प्रकाशकं प्रवर्त्तकमात्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति महर्षिवात्स्यायनोक्तेः। (एकम्) असहायम् (तत्) (मे) मम (मनः) संकल्पविकल्पात्मकम् (शिवसंकल्पम्) शिवः कल्याणकारी धर्मविषयः संकल्प इच्छा यस्य तत् (अस्तु) भवतु।

अन्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन् वा! भवदनुग्रहेण यद्दैवं दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं जाग्रतो दूरमुदैति। तदु सुप्तस्य तथैवान्तरेति तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञासेवनं विद्वत्संगं कृत्वा, अनेकविधसामर्थ्ययुक्तं मनः शुद्धं सम्पादयन्ति यज्जागृतावस्थायां विस्तृतव्यवहारं तत्सुषुप्तौ शान्तं भवति यद्वेगवतां वेगवत्तरं साधकत्वादिन्द्रियाणामपि प्रवर्त्तकं निगृह्णन्ति तेऽशुभव्यवहारं विहाय शुभाचरणं प्रेरयितुं शक्नुवन्ति।

पदार्थ—हे जगदीश्वर वा राजन्! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) आत्मा में रहने वा जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर जाने, मनुष्य को दूर लेजाने वा अनेक पदार्थों का ग्रहण करनेवाला (ज्योतिषाम्) शब्द आदि विषयों के प्रकाशन श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रवृत्त करनेहारा (एकम्) एक (जाग्रतः) जागृत अवस्था में (दूरम्) दूर दूर (उत्, ऐति) भागता है (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा, एव) उसी प्रकार (एति) भीतर अन्तःकरण में जाता है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) संकल्प विकल्पात्मक मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी धर्म विषयक इच्छावाला (अस्तु) हो।

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन और विद्वानों का सङ्ग करके अनेकविध सामर्थ्ययुक्त मन को शुद्ध करते हैं, जो जागृतावस्था में विस्तृत व्यवहारवाला है वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है। जो वेगवाले पदार्थों में अतिवेगवान् ज्ञान के साधन होने से इन्द्रियों के प्रवर्त्तक मन को वश में करते हैं वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रवृत्त कर सकते हैं।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय- वैदिक मनोविज्ञान *vii*

हिन्दी संभाग

1. **वैदिक वाङ्मय में मनोविज्ञान** 1
   —आचार्य राजवीर शास्त्री, प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
2. **अन्तःकरण के विभाग** 132
   —स्व. नारायण स्वामी जी महाराज
3. **आधुनिक मनोविज्ञान** 137
   —प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
4. **वैदिक मनोविज्ञान** 151
   —डॉ. कपिलदेव द्विवेदी
5. **वेदान्त दर्शन में मनोविज्ञान का स्वरूप** 163
   —डॉ. उधम सिंह, डॉ. ईश्वर भारद्वाज
6. **वैदिक-मनोविज्ञान** 181
   —DG ज्ञानचंद्रा
7. **योगिराज श्रीअरविन्द और उनका वेदाधारित नवीन मनोविज्ञान** 187
   —DG ज्ञानचंद्रा
8. **सृष्टि में मन का योगदान** 191
   —डॉ. मोनिका मिश्रा
9. **वैदिक वाङ्मय में मन का मनोवैज्ञानिक विवेचन** 195
   —रश्मि पाल
10. **श्रीमद्भगवद्गीता में आनन्द का स्वरूप** 202
    —उदय प्रकाश वर्मा, अरुण कुमार

11. यज्ञ का मनोवैज्ञानिक महत्त्व **212**
–पवन कुमार, नवीन

12. सौन्दर्यशास्त्र की भारतीय अवधारणा : एक मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि **217**
–प्रो. ज्ञान चन्द रावल

13. वैदिक सिद्धान्तों के आलोक में उदारीकृत भौतिकवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उपभोक्ता व्यवहार का मनो-आर्थिक विश्लेषण **227**
–डॉ. हरवीर सिंह चौधरी

14. वैदिक मनोविज्ञान (सुभाषित-संग्रह) **233**
–डॉ. कपिलदेव द्विवेदी

English Section

15. The Mind : As described in the Vedic Literature 241
- Prof. Dinesh Chandra Shastri (Editor)
- Dr. Amit Kumar (Haridwar)

16. Mental Health and Mind in Indian Perspective 247
- Naveen Pant

17. *Gayatri Mantra* : A Technique of Relaxation 256
- Dr. KC Barmola

18. Yoga : Control of Divergent Modifications (Vrittis) of Mind 264
- Rajjan Kumar

19. Research Paper Review : 270
वैदिक चिन्तन के आलोक में गॉड पार्टिकल (हिग्स बोसोन)
–ममता भारद्वाज

✦✦✦

सम्पादकीय

वैदिक मनोविज्ञान

हमारा प्राचीन वैदिक वाङ्मय अमित ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य निधि है, उसका सम्यक् अनुशीलन तथा समन्वय न होने से हम ज्ञान से वञ्चित ही रह जाते हैं। आज शिक्षा-क्षेत्र में मनोविज्ञान की चर्चा अवश्य है, किन्तु वैदिक मनोविज्ञान से वह पर्याप्त दूर ही उक्त हो रहा है। और उसमें अनेक भ्रान्तियाँ भी विद्यमान हैं। इस वैदिक मनोविज्ञान विशेषांक की सामग्री उन आप्त पुरुष ऋषि-मुनियों के स्वानुभूत ज्ञान के प्रकाशक प्रामाणिक ग्रन्थों पर आधारित है, जो उस विषय के साक्षात्द्रष्टा थे। ईश्वरीय शाश्वत ज्ञान वेद तथा उनके व्याख्या-ग्रन्थों से मन-विषयक सामग्री में तथा दर्शनों में परस्पर कहीं भी मतभेद नहीं है, अतः इसकी महत्ता और भी बढ़ गई है। दर्शन-ग्रन्थों में प्रत्येक विषय का लक्षण व परीक्षा करके निर्णय किया गया है। लेखकों ने यहाँ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्त पांच दर्शनों से विषय का संकलन करने का जहां पूर्ण प्रयास किया है वहीं मनोविज्ञान सम्बन्धी अन्य वैदिक बातों को भी उद्घाटित किया है। क्योंकि लक्षण-परीक्षा क्रम से उपदिष्ट बातों का हार्दिक प्रभाव पड़ता है।

मानव-जीवन में मन का अपना विशिष्ट स्थान है। क्योंकि आत्मा का मन करण है, उसी से आत्मा धर्म-अधर्म कार्यों में प्रवृत्त होता है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः" अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है, यह ठीक ही कहा गया है। वैसे तो समस्त जीवन में मानसिक क्रियाओं की उपयोगिता सदा बनी रहती है, किन्तु बाल्य-काल में विद्यार्जन के लिए मनोवृत्तियों का संयम करके मानव ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति से दानवता को छोड़कर मानव ही नहीं, प्रत्युत देवता बन जाता है। वेद में लिखा है–

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। (अथर्व० 10.2.31) अर्थात् यह हमारा शरीर देवों की एक नगरी है, जिसमें आठ चक्र और नौ द्वार हैं। और दूसरे स्थान पर लिखा है–**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे** (यजु. 34/55) अर्थात् सात ऋषि (नेत्र, कर्णादि विषयों का साक्षात्कार करने से ऋषि हैं) इस शरीर में कार्य कर रहे हैं। इस देवों की नगरी तथा ऋषियों की यज्ञभूमि का निर्माता मन ही तो है। मन के शिवसंकल्प तथा सुसारथि होने पर यह शरीर यथार्थ में देवों की अयोध्या=अपराजित नगरी बन सकता है। 'जगत् जितं केन मनो हि येन' अर्थात् संसार को कौन जीत

सकता है, जिसने अपने मन को जीत लिया है। इसलिए कहा जाता है–'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार'। वेद में इसके विषय में कैसा सुन्दर वर्णन किया है–

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते। (यजु० 34.3)

इस मन के बिना आभ्यन्तरिक तथा बाह्य कोई क्रिया सम्भव नहीं है। ऐसे ज्ञान-विज्ञान के साधक, बन्ध-मोक्ष के कारण जन्म-जन्मान्तरों में साथ जाने वाले अमृत, अजिर=जीर्ण न होने वाले, जविष्ठ=अतिशय वेग वाले तथा सुसारथि मन का ज्ञान यदि मानव नहीं कर पाता, तो मानव जीवन की क्या सफलता है?

प्राचीन ऋषियों ने इस मनोविज्ञान का गम्भीराध्ययन, मनन एवं चिन्तन किया था, और अपने जीवनों को श्रेष्ठतम बनाने का भागीरथ प्रयत्न किया था। सभी भारतीय प्राचीन दर्शनकार एक मोक्ष-पथ के ही पथिक बने हैं, और उन्होंने मन की वृत्तियों के निरोध को ही योग, मिथ्या-ज्ञान को दूर करके ज्ञान का प्रापक तथा दु:ख और दु:ख के कारणों से पृथक् होकर सुख-प्राप्ति का परम-सहायक मन को ही माना। इस मन में जन्म-जन्मान्तरों में संचित कर्म-राशि तथा उनकी वासनाएँ भरी हुई हैं। वे अपने-अपने उद्बोधक कारण तथा समय पर प्रस्फुटित, पल्लवित तथा फलित होती रहती हैं।

इन मानसिक संस्कारों के वशीभूत होकर ही मानव कार्यों में प्रवृत्त हो रहा है। इनमें शुभाशुभ उभयविध संस्कार विद्यमान होते हैं। शिक्षा के समय शुभ संस्कारों का उचित वातावरण तथा उचित साधनों से विकास करना और अशुभ संस्कारों को दग्धबीजवत् प्रसव-योग्य न रहने देना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होता है। और अन्त:करण के मलों और मलीन वासनाओं को धोकर शुद्ध ज्ञानामृत से पूर्ण करना ही शिक्षा का चरम लक्ष्य है।

प्राचीन शिक्षाशास्त्रियों एवं दर्शनकारों ने मिलकर तथा योजनाबद्ध होकर इस लक्ष्य की प्राप्ति की थी। वह संचित ज्ञानराशि तप-साध्य होने से नवीन-सभ्यता में पालित-पोषित तथा सांसारिक भोगविलासों में निरत व्यक्तियों को हेय प्रतीत हो रही है। किन्तु सत्य तथा हितकर होने से कल्याण उसके बिना सम्भव नहीं। आजकल प्रचलित मनोविज्ञान बिना परिमार्जन के कैसे अपवित्र-पात्र में पवित्र ज्ञानामृत डालकर मानसिक संस्कारों का परिष्कार कर सकता है? यह एक कल्पना ही प्रतीत होती है।

अबोध बालक के मन में छिपी हुई विविध शक्तियाँ रहती हैं। प्रत्येक गुरु या आचार्य को इतना मनोविज्ञान तो अवश्य आना चाहिए कि वह बालकों की आकृति, उसके रहन-सहन के ढंग, उसके खेल-कूद के चुनाव और उसकी अन्य प्रवृत्तियों से बालकों के अंत:करण में छिपी शक्तियों को जान सके। क्योंकि शक्तियों के जानने के बाद ही आचार्य उनको प्रस्फुटित, पल्लवित तथा विकसित करने में

सहायक हो सकता है। आचार्य बालक के अन्तःकरण के अनुकूल संकल्पों को जन्म देकर बालक के भावी कार्यक्रम का निर्धारण भी कर सकता है। जिससे उसके प्रसुप्त संकल्प जागृत होकर शनैः-शनै विशाल तरुवर का रूप धारण कर लें। माता, पिता और आचार्य इस संकल्प-तरु को समय समय पर सींचकर मुर्झाने न देवें। वे बालक बहुत ही भाग्यशाली हैं, जिन्हें ऐसे मनोवैज्ञानिक, योग्य माता, पिता तथा गुरुजन प्राप्त होते हैं।

मन की सत्ता मानने की क्या आवश्यकता है? हमारे शरीर में मस्तिष्क, सुषुम्णा, हृदय, ज्ञानतन्तु, कर्मतन्तु आदि जो ज्ञान और क्रिया में अन्तःकरण के सहायक साधन माने जाते हैं। इन साधनों से ही ज्ञान और क्रिया सम्बन्धी कार्य सम्पन्न हो सकता है फिर अन्तःकरण (मन) की पृथक् सत्ता मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि मन की सत्ता स्वीकार करने में निम्नलिखित कारण हैं–

(1) संस्कारों का आधार और उन संस्कारों के द्वारा होने वाली स्मृति का साधन मस्तिष्कादि को नहीं माना जा सकता। पैदा होते ही बच्चे की स्तन-पान की प्रवृत्ति, लेटे-लेटे ही अचानक कभी हंसना अथवा रोना, पूर्व-जन्म की घटनाओं का स्मरण होना, और अल्पायु में ही किसी का प्रगल्भ विद्वान् बन जाना, तथा किसी को प्रयत्न करने पर भी कुछ न आना इत्यादि बातें पूर्व जन्मगत संस्कारों को सिद्ध करती हैं। और उनका आधार मस्तिष्कादि को कभी न नहीं माना जा सकता। क्योंकि ये तो शरीर के साथ भस्म हो जाते हैं। इन स्मृतियों का कारण माता पिता को भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन घटनाओं का माता-पिता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। और एक ही माता-पिता के भिन्न 2 संस्कारों व प्रवृत्ति के बच्चों का होना और विद्वान् माता-पिता की मूर्ख तथा मूर्ख माता-पिता की विद्वान् सन्तान का होना इस बात की पुष्टि कर देता है कि पूर्व जन्म के संस्कार अवश्य होते हैं। और उनका आधार मन (अन्तःकरण) है।

पूर्व जन्म के सभी संस्कारों की स्मृति इस जन्म में क्यों नहीं होती? इसका भी कारण है। यह ठीक है कि संस्कारों का आधार अन्तःकरण होता है किन्तु सभी संस्कारों की स्मृति न होने के कुछ कारण हैं–

(क) संस्कारों की दृढ़ता और निर्बलता।

(ख) संस्कारों के उद्बोधक कारण का उपस्थित होना या न होना।

संस्कारों की दृढ़ता के दो कारण होते हैं एक तो ज्ञान के समय ही संस्कारों की गहरी छाप पड़ना और दूसरा एक ही संस्कार की बार बार स्मृति होना। इस जन्म में ही हमें बहुत से संस्कारों की स्मृति नहीं रहती। निर्बल या अनावश्यक होने के कारण संस्कार छिपे पड़े रहते हैं। एक जन्म से दूसरे जन्म पाने तक भिन्न-भिन्न प्रकार

के वायुमण्डलों में रहना भी स्मृति न होने के कारण है। क्योंकि उनके संस्कार निर्बल हो जाते हैं। और बहुतसी घटनाओं की विस्मृति हो जाती है। इसी प्रकार उद्‌बोधक कारण के उपस्थित न होने पर भी स्मृति नहीं होती। जैसे इसी जन्म में कई वर्ष पूर्व किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर देखा था और उसके स्थानान्तर होने पर कालान्तर में उसको भूल गए। यदि संयोग वश अनेक वर्षों के बाद वही व्यक्ति या उसको दी हुई चीज देखने को मिल जाती है तो उद्‌बोधक का कारण होने से वे स्मृतियाँ पुनः उद्‌बुद्ध हो जाती हैं।

(2)हम सभी यह अनुभव करते हैं कि अनेक बार हम सुनते हुए भी नहीं सुन पाते और देखते हुए भी नहीं देख पाते। इसका कारण क्या है? मस्तिष्क आदि के होते हुए भी कौन सा कारण है कि जिसके संयोग के बिना ज्ञान नहीं हो रहा? वह मन ही है। हम सब भी ज्ञान न होने पर यही उत्तर देते हैं कि मेरा ध्यान नहीं था। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अन्वयव्यतिरेक न्याय से इसका कारण मन ही को माना है। यदि मन की सत्ता को कोई स्वीकार नहीं करता, तो उसे दो प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। एक तो यह कि हम बहुत बार देखते हुए भी क्यों नहीं देखते,और सुनते हुए भी क्यों नहीं सुनते? दूसरा प्रश्न यह है कि मस्तिष्कादि सभी साधनों के होते हुए भी एक समय में अनेक ज्ञान क्यों नहीं होते? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर मन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बनता।

मनोविज्ञान के प्रसङ्ग में आत्मा का वर्णन नवीन मनोवैज्ञानिक अनावश्यक मानकर नहीं करते। किन्तु जैसे शरीर के साधनों व इन्द्रियों के बिना मन का कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार मन के बिना आत्मा भी कुछ नहीं कर सकता यद्यपि आत्मा की प्रेरणा और उसी के नियंत्रण में मन कार्यों का संचालन करता है, किन्तु सुख-दुःखादि उपलब्धि का कारण मन ही है।

आत्मा चेतना का आश्रय है। हमें अपने अन्तःकरण के द्वारा जितने भी ज्ञान प्राप्त होते हैं उन सबका ज्ञाता आत्मा ही है। हमारी इन्द्रियाँ अन्तःकरण तथा मस्तिष्कादि सब जड़ पदार्थ हैं। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियां तथा अन्तःकरण प्रकाश के साधन होने से प्रकाश कहे जाते हैं परन्तु जो प्रकाश आत्मा में है, वह इन में नहीं। जिस प्रकार सूर्य वृक्ष पर अपना प्रकाश डालकर उसे प्रकाशित कर देता है, परन्तु जड़ होने के कारण यह नहीं जान सकता कि यह वृक्ष है। वैसे ही मन और ज्ञानेन्द्रियाँ भी सूर्य की भांति ही वृक्षादि को प्रकाशित तो कर देती हैं, परन्तु वे यह नहीं जान सकतीं कि यह वृक्ष है। आत्मा मनादि से प्रकाशित वृक्षादि का चैतन्य के बल से अनुभव करता है। इस अनुभव का साधन जो आत्मा में चैतन्य है, उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियाँ और मन नहीं कर सकते। अपने इस ज्ञान का प्रत्यक्ष या तो आत्मा स्वयं करता है या

इसके ज्ञान का प्रत्यक्ष ईश्वर को होता है। इस प्रकार आत्मा के और ईश्वर के ज्ञान या चैतन्य को जानने में इन्द्रियाँ या मन अशक्त हैं। चैतन्यता इनकी पहुँच से परे है। इसलिए उपनिषत्कार कहते हैं 'न तत्र सूर्यो भाति।' उस चैतन्य ईश्वर के प्रकाश के समक्ष सूर्य नहीं चमकता। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ईश्वर का प्रकाश सूर्य-चन्द्र सदृश नहीं है। अन्यथा सूर्य से सहस्त्रों गुणा ईश्वरीय प्रकाश नेत्रों से सूर्य के प्रकाश के समान अवश्य दीखता और ईश्वर के तो हमारे अत्यन्त समीप होने के कारण आंखें चकाचौंध हो जातीं। अत: ईश्वर का प्रकाश भी आत्मा के ज्ञान के समान अनुभव करने योग्य है। इसके लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' अर्थात् ईश्वर के प्रकाश से सूर्यादि सब चमकते हैं, इस का अभिप्राय यह है कि ईश्वर का ज्ञान इतना अगाध है कि संसार का प्रत्येक अणु और उसकी शक्तियां उसमें स्पष्ट रूप से भास रही हैं। यह अणुओं की शक्तियों को जानकर ऐसी रचना करता है कि सूर्यादि पदार्थ अनेक रूपों में चमकने लगते हैं। ईश्वरीय ज्ञान के बिना ऐसी विचित्र रचना सम्भव नहीं है।

अत: स्पष्ट है कि आत्मा चेतनावान् तत्त्व है। उसे चेतना तथा अनुभव के द्वारा सांसारिक पदार्थो का ज्ञान होता है। इन्द्रियां, मन, मस्तिष्कादि सब ज्ञान के साधन मात्र हैं। इसलिए आत्मा का मन आदि साधनों के साथ साधक-साधन भाव का सम्बन्ध है।

चरक-सुश्रुतादि आयुर्वेद के ग्रन्थों में आत्मा या उसके निवास स्थान का वर्णन नहीं किया, क्योंकि उन्हें आत्मा की चिकित्सा आयुर्वेद का विषय न होने से आत्मा के वर्णन की आवश्यकता भी न थी। पुनरपि हृदय का वर्णन करते हुए 'चेतनास्थानमुत्तमम्' हृदय को चेतना का उत्तम स्थान माना है।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के नवम-समुल्लास में लिखा है कि 'न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यन्त ईश्वर का ध्यान करने से मनादि पदार्थों का साक्षात् होता है।' अत: ईश्वरोपासनादि से पराङ्मुख व्यक्ति यथार्थ में मनोविज्ञान को नहीं समझ सकते। महर्षियों के स्वानुभूत ज्ञान-प्रकाशक ग्रन्थों में अविरुद्ध सिद्धान्त के होते हुए भी कतिपय मनादि विषयों में विद्वानों को भी भ्रान्तियाँ होती रही हैं। जैसे कुछ विद्वानों का मत है कि–

(क) मन आत्मा की ही शक्ति है, उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। क्योंकि अचेतन मन ज्ञानादि का प्रकाशक नहीं हो सकता।

(ख) कुछ विद्वान् मन की सत्ता ही नहीं स्वीकार करते हैं। उनके विचार में मस्तिष्कस्थ ज्ञानतन्तु ही ज्ञान के साधन हैं, मन नहीं।

(ग) कुछ विद्वानों के विचार में मन और बुद्धि दो पृथक् तत्त्व हैं। और दर्शनादि शास्त्रों के समझने में भी उन्हें भ्रान्ति ही हुई है। इत्यादि मतभेदों का जहां इससे उन्मूलन होगा, वहां सत्य-ज्ञान का प्रकाश भी होगा। दर्शनग्रन्थों के मनादि विषयक स्थलों की व्याख्या में भी कुछ भ्रान्तियां हुई हैं, उनमें कुछ निम्नलिखित हैं–

(1) सांख्यदर्शन में 'महदाख्याद्यं कार्यं तन्मनः' (सां० 1।71) सूत्र में मन की व्याख्या=मनन साधन निश्चयात्मक अन्तःकरण (श्री स्वामी ब्रह्ममुनि आदि) की है। पं. राजवीर शास्त्री के अनुसार यह सांख्यदर्शन की अपनी अन्तःसाक्षी से भी विरुद्ध है। क्योंकि इसी दर्शन में 1।61 सूत्र में 'उभयमिन्द्रियम्' से मनादि ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी है। और 'उभयात्मकं च मनः' (सां० 2।26) सूत्र में स्पष्ट रूप से मन को उभयात्मक माना है। और यदि मन की गणना (1।61) सूत्र में नहीं की जाए, तो 25 तत्त्वों की पूर्ति नहीं होती। अतः मन जो इन्द्रिय व अन्तःकरण है, उसकी उत्पत्ति अहङ्कार से होती है, ऐसा ही सांख्यदर्शन में करण प्रकरण में स्वीकार किया गया है। किन्तु (1।71) सूत्र में 'मनः' का अर्थ 'महत्तत्त्व' ही करना चाहिए। मन का अर्थ धात्वर्थ के अनुसार अवबोधन है। महत्तत्त्व प्रकृति की अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था का बोध कराने से 'मनः' कहलाता है। मनुस्मृति में भी महत्तत्त्व के अर्थ में 'मनः' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'मनः' शब्द से संकल्प-विकल्पात्मक मन कदापि अभिप्रेत नहीं है।

(2) सूक्ष्म शरीर के लिए सांख्य में 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' (सां० 3।9) सूत्र पठित है। इसका भाष्य भी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। जैसे–

(क) 13 करण और 5 तन्मात्राएँ, ये अठारह तत्त्व सूक्ष्म शरीर में होते हैं। (श्री उदयवीर जी शास्त्री)

(ख) 5 तन्मात्राएँ, 11 इन्द्रियाँ, 1 अहंकार, 1 महत्तत्त्व, ये अठारह तत्त्व सूक्ष्मशरीर में होते हैं। (श्री स्वामी ब्रह्ममुनि)

(ग) 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार, 5 तन्मात्राएँ, यह सूक्ष्मशरीर है। (श्री स्वामी दर्शनानन्द जी)

परन्तु महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ० नवमसमु० में सूक्ष्मशरीर के 17 तत्त्व माने हैं–5 प्राण, 5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि। क्या इनमें पाठकों को विरोध प्रतीत नहीं होता? फिर किसको सत्य माना जाए? ऋषियों की गूढ़ बातों को ऋषि ही समझ सकते हैं। जौहरी ही हीरों की परख कर सकता है। अतः मेरी दृष्टि में महर्षि दयानन्द का लेख ही प्रामाणिक होने से मान्य होना चाहिए। और इसमें सांख्यदर्शन की साक्षी भी है। सांख्य में सूक्ष्मशरीर को सूत्र (3।14) में अणुपरिमाण=सूक्ष्म माना है और अन्य सूत्रों (सां० 3।3 तथा 3।4) में सूक्ष्म शरीर को मुक्ति पर्यन्त

जन्म-जन्मान्तरों में जीवात्मा के साथ जाने वाला माना है। कर्मेन्द्रियों का जीवात्मा के साथ मरणोत्तर जाना कैसे सम्भव है? और श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने ज्ञान का वाचक बुद्धि को मानकर सूक्ष्मशरीर में बुद्धि को नहीं रक्खा है। किन्तु बुद्धि शब्द ज्ञान का वाचक होते हुए अन्तःकरण की वृत्ति भी है। इसके लिए पृथक् से देखने की कृपा करें।

(3) **बुद्धि क्या है?** 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग न्याय० (1।1।15) में ज्ञान के अर्थ में माना है। और वैशेषिक ने भी बुद्धि को ज्ञानवाची मानकर गुणों में इसको गिना है। यहां *बोधनं बुद्धिः* ऐसा अर्थ करके संगति लगानी चाहिए। इसी प्रकार महत्तत्त्व अर्थ में 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग होता है। जैसा कि 'प्रकृतेर्महान्०' सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने महान्=बुद्धि अर्थ किया है। किन्तु यहां 'बुध् अवबोधने' धात्वर्थ के अनुसार ही अर्थ लगाना चाहिए। क्योंकि अव्यक्त प्रकृति का प्रथम कार्य महत्तत्त्व अपेक्षाकृत व्यक्तावस्था होने से बोधावस्था है। सम्भव है महर्षि दयानन्द ने सूक्ष्म-शरीर के वर्णन में जो 'बुद्धि' तत्त्व गिनाया है, वह महत्तत्त्व ही हो। क्योंकि ज्ञानार्थ में वहां बुद्धि शब्द का प्रयोग नहीं है ज्ञान तो आत्मा का गुण है ही। और अन्तःकरण की अन्यतम वृत्ति होने से बुद्धिवृत्ति का 'मन' में समावेश हो जाता है।

परन्तु *'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः'* इस विग्रह से जो अर्थ 'बुद्धि' का है, वह मन की ही एक वृत्ति है। न्यायदर्शन में 1।1।1 सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–*"मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्–बुध्यतेऽनयेति बुद्धिः।"* अर्थात् इस सूत्र में (प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः) 'बुद्धि' शब्द से 'ज्ञान' अर्थ नहीं लेना चाहिए क्योंकि यहां 'बुद्धि' शब्द 'मन' के लिए आया है। इसी की पुष्टि वात्स्यायन भाष्य (न्याय० 3।2।3) में भी की है–*"बुध्यतेऽनयेति बोधनं एवोच्यते।"* इसका कारण यह है कि सूत्र में प्रवृत्ति का वर्णान किया गया है। प्रवृत्ति (व्यापार) ज्ञान की नहीं, अपितु मन की होती है। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद के शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या में निश्चयात्मक वृत्ति तथा स्मरणात्मक वृत्ति मन की ही मानी है। अतः पाठकों को इस रहस्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, (विशेष कर शास्त्रीय चर्चा में) कि बुद्धि शब्द का प्रयोग कहाँ किस अर्थ में हुआ है। अथर्ववेद के ***'मनसे चेतसे धिये, आकूतये उत चित्तये। मत्यै श्रुताय चक्षसे, विधेम हविषा वयम्'*** (6.41.1) मन्त्र में मन और इसके विज्ञान से सम्बन्धित निम्न सभी विषयों का उल्लेख हुआ है–

(1) 'मनसे' के द्वारा संवेदना (Sensation) और प्रेरणा (Motivation)। (2) 'चेतसे' के द्वारा चेतना (Consciousness) और चिन्तन (Thinking)। (3) 'धिये' के द्वारा ध्यान या अवधान (Attention)। (4) 'आकूतये' के द्वारा अनुभूति (Feeling) और संवेग (Emotion)। (5) 'चित्तये' के द्वारा चित्त के धर्म स्मरण (Remembring)

और तदभावरूप में विस्मरण (Forgetting)। (6) 'मत्यै' के द्वारा बुद्धि (Intelligence)। (7) 'श्रुताय' के द्वारा श्रवण। (8) 'चक्षसे' के द्वारा चक्षु-कार्य, दर्शन या प्रत्यक्षीकरण (Perception) अभिप्रेत है।

(4) शरीर में मन का स्थान कहाँ है? इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद विद्वानों में है। परन्तु वेदादि शास्त्रों में मन का स्थान हृदय में माना है (वेद में तो स्पष्ट लिखा है–*'हृत्प्रतिष्ठम्' हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य* अर्थात् मन का स्थान हृदय में है। किन्तु महर्षि दयानन्द ने हृदय का स्थान बताते हुए लिखा है–

(क) "कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं।"

(ऋ०भू० मुक्तिविषयः)

(ख) ऋ०भू० में सृष्टिविद्याविषय में हृदय के वाचक दशाङ्गुल शब्द की व्याख्या में महर्षि ने –5 प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अंहकार तथा दशम जीव माना है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मन बुद्धि आदि का स्थान हृदय ही है। और मनादि सूक्ष्म-शरीर के घटक हैं। सूक्ष्म-शरीर से जीवात्मा आवेष्टित रहता है। इससे भी स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त हो जाता है कि मनादि का स्थान हृदय ही है, मस्तिष्कादि नहीं।

मन के विषय में एक यह भी भ्रान्ति है कि मन शरीर के बाहर जाकर दूसरे शरीरों में कार्य कर सकता है। वैसे तो यह सूक्ष्म विषय होने से सर्वजन बोध्य नहीं है। पुनरपि इस विषय में निम्न बातों से यही निश्चित होता है कि जीवात्मा के बिना मन कदापि बाहर जाकर कार्य नहीं कर सकता। (क) मन आत्मा का एक साधन है। साधन अचेतन होने से स्वयं कभी कोई कार्य नहीं कर सकता। (ख) न्याय० 3।2।61 वात्स्या० भाष्य में लिखा है–**'मनसः खलु यो सेन्द्रियस्य शरीर वृत्तिलाभो नान्यत्र शरीरात्'॥**

अर्थात् मन की प्रवृत्ति शरीर में इन्द्रियों द्वारा ही होती है, शरीर से बाहर नहीं। (ग) महर्षि दयानन्द ने शिवसंकल्प मन्त्र में पठित 'दैवम्' पद की व्याख्या में लिखा है–*देवे=आत्मनि भवं दैवं (मनः)* अर्थात् मन को दैव इसलिए कहा जाता है कि यह देव=आत्मा के आश्रय से ही रहता है। अतः मन जीवात्मा के बिना नहीं रह सकता।

नवीन वैज्ञानिक मन को ही चेतन मन मान बैठे हैं। यह उनकी भ्रान्ति है। मन के द्वारा जीवात्मा ज्ञान-प्राप्ति तथा प्रवृत्ति करता है। मन की प्रवृत्ति स्वतः नहीं है। जैसे हम व्यवहार में कह देते हैं कि आंख देखती है, कान सुनता है इत्यादि गौण प्रयोग हैं। यथार्थ में जीवात्मा के संयोग बिना इन साधनों की प्रवृत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

यजुर्वेद के शिवसंकल्प मन्त्रों में मन को 'अमृत' शब्द से कहा गया है। उससे भी कुछ भ्रान्ति फैली है कि यदि मन प्रकृति का विकार है, तो यह अमृत=नित्य कैसे? वास्तव में ***मन को 'अमृत' कहने का भाव इतना ही है कि यह इस नश्वर शरीर के साथ नहीं होता। यह जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों में भी रहता है।***

सांख्यादि दर्शनकारों ने मन और इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी है, पञ्चभूतों से नहीं। और पञ्चभूतों की उत्पत्ति पाञ्च तन्मात्राओं से होती है। अतः 11 इन्द्रियाँ अभौतिक ही हैं। किन्तु अहंकार का विकार होने से प्रकृति से बनी हुई हैं और स्वयं जड़ हैं। परन्तु न्यायदर्शन के 1।1।4 सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में लिखा है–

'भौतिकानीन्द्रियाणि, मनस्त्वभौतिकम्।' अर्थात् इन्द्रियाँ भौतिक हैं, और मन अभौतिक। इससे उपर्युक्त सांख्यादि वचनों से विरोध प्रतीत होता है। परन्तु न्याय के ही 'भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्' (न्याय० 3।1।60) सूत्र से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्थात् ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के भूतों के गुणों का ग्रहण कराने के कारण ही भौतिक कहलाती हैं। जैसे–नेत्र रूप का ग्रहण, कान शब्द का ग्रहण, तथा नासिका गन्ध का ही ग्रहण करती है। इसलिए उन्हें भौतिक कहा गया है। यथार्थ में इनकी उत्पत्ति अहंकार से होने से ये अभौतिक ही हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म-शरीर के साथ-साथ जन्म-जन्मान्तरों में भी जाती हैं। पृथिवी आदि भूतों से जो इन्द्रियों के गोलक शरीर में बने हैं, वे कभी भी साथ नहीं जा सकते।

सांख्यादि दर्शनों में मन का परिमाण अणु=सूक्ष्म माना है। और मन सूक्ष्म शरीर का घटक है, जो कि स्वयं सूक्ष्म है। इसलिए मन कदापि विभु नहीं है। अन्यथा यदि शरीर में व्यापक हो, तो सब इन्द्रियों से सदा सम्पर्क होने से युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिए। किन्तु ऐसा न होने से मन एकदेशी और सूक्ष्म है। और वह क्रम से ही इन्द्रियों से सम्पर्क कर सकता है।

इस विशेषांक में विद्वानों ने उपर्युक्त विवादास्पद विषयों से भिन्न निम्न विषयों पर वेद, दर्शन, स्मृति आदि शास्त्रों के अनुसार विचार किया है–

(1) मन प्रकृति का विकार होने से जड़ है और यह अहंकार का विकार है। (2) मन इन्द्रिय है और इसका सम्बन्ध सब इन्द्रियों से होने से मन को 'उभयात्मक' कहते हैं। (3) मन अतीन्द्रिय तथा प्रतिशरीर में एक है। (4) मन की चतुर्विध वृत्तियाँ हैं–मनन, स्मरण (Remembring), अहंकार और निश्चय करना। महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में लज्जादि को भी मन की वृत्ति माना है। (5) मन सूक्ष्मशरीर का एक घटक है, और यह जन्म-जन्मान्तरों में जीव के साथ रहता है,

मुक्ति तक। (6) मन आत्मा से भिन्न है। (7) मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय। (8) मन में परिमाण नित्यता है, कूटस्थ नित्यता नहीं। (9) मन अन्य इन्द्रियों में प्रधान है। (10) मन क्षणिक नहीं है। (11) मन का व्यापार मोक्षप्राप्ति तक ही है। (12) मन में वासनाएँ अनादिकाल से हैं। (13) मन (चित्त) का ज्ञान हृदय में होता है। (14) मनस्थ संस्कारों में जाति, देश तथा काल के कारण बाधा नहीं होती। (15) मनादि प्रकृति-विकारों का मोक्ष में अभाव रहता है। (16) अन्त:करण के मल (विक्षेप) और उनकी शुद्धि के उपाय। (17) मन के एकाग्र करने के उपाय। (18) चित्त की मूढादि पांच अवस्थाएँ। (19) मन की क्लिष्टाक्लिष्ट भेद से द्विविध वृत्तियां हैं। (20) मन अन्त:करण है। (21) मन द्रव्य है, गुण नहीं। (22) योगियों को पूर्व जाति का ज्ञान आनुमानिक होता है। चित्तस्थ संस्कारों को जानकर पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। (23) मानसिक कर्म और उनके फल। (24) मन की त्रिगुणप्रधानता का वर्णन। (25) स्मृति के कारणों का वर्णन। (26) ज्ञान की प्रक्रिया क्या है? (27) मोक्ष में मनादि परक शास्त्रीय वचनों का क्या अभिप्राय है?

इत्यादि उपर्युक्त मन सम्बन्धी विषयों पर शास्त्रीय वचनों का यथामति यहाँ संकलन तथा समन्वय किया गया है, और परस्परविरुद्ध प्रतीत होने वाले विषयों की संगति भी अन्त:साक्षी के आधार पर लगाने का पूर्ण प्रयास किया है। विद्वज्जन प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के मनोवैज्ञानिकों के खोजपूर्ण विचारों को पढ़कर लाभान्वित होंगे। मनोविज्ञान से सम्बन्धित कुछ अन्य विषय भी इस अंक में समाहित किये गये हैं।

-प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (1-131) January-June 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक वाङ्मय में मनोविज्ञान

-आचार्य राजवीर शास्त्री
-प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

वेद में मनोविज्ञान–

वेद में सब सत्यविद्याएँ हैं, अतः मन के विषय में भी वेदों में इतनी सारगर्भित तथा मौलिक चर्चा है, जिसको स्वयं अनुभवी व्यक्ति ही अधिक समझ सकते हैं। यजुर्वेद के 34 वें अध्याय के प्रथम 6 मन्त्रों में मन के विषय में विशेष गम्भीरता से विचार किया गया है। इन मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय=देवता 'मन' है। आधुनिक-युग में वेदों के पुनरुद्धारक महर्षि दयानन्द परम-योगी होने से मन आदि तत्त्वों के जहां विशेषज्ञ थे, वहां वेदों के अद्भुत भाष्यकार भी थे। उन्होंने इन मन्त्रों में विद्यमान मनोविज्ञान का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, यह दर्शनीय ही है।

इन मन्त्रों के अर्थों का 'शिवसंकल्प' ऋषि ने सर्व प्रथम साक्षात्कार किया है। महर्षि दयानन्द ने इन छः मन्त्रों के विषय का वर्णन करते हुए लिखा है–

'अथ मनसो वशीकरणविषयमाह'

अर्थात् अब मन को वश में करने के विषय का वर्णन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मन के स्वरूपादि ज्ञान के बिना उसका वशीकरण भी सम्भव नहीं है।

प्रथम मन्त्र का महर्षि कृत अर्थ–

ओम् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु. 34/1)

अर्थः–हे जगदीश्वर विद्वन् वा! भवदनुग्रहेण (यत्) (दैवम्) देव आत्मनि भवं देवस्य जीवात्मनः साधनमिति वा (दूरङ्गमम्) यद्दूरं गच्छति गमयति वाऽनेक-पदार्थान् गृह्णाति तत् (ज्योतिषां ज्योतिः) शब्दादि विषयप्रकाशकानामिन्द्रियाणां प्रकाशकं प्रवर्त्तकम् 'आत्मा मनसा संयुज्यते न इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति महर्षि वात्स्यायनोक्तेः' (एकम्) असहायम् (जाग्रतः) (दूरम्) (उदैति) उद् गच्छति। (तत्) यत् (उ) (सुप्तस्य) शयानस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण (एति) अन्तर्गच्छति (तत्) (मे) मम (मनः)

संकल्पविकल्पात्मकम् (शिवसंकल्पम्) शिवः=कल्याणकारी धर्म-विषयःसंकल्प इच्छा यस्य तत् (अस्तु) भवतु।

भाषार्थ—हे जगदीश्वर वा विद्वन्! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) आत्मा में रहने वाला अथवा जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर-दूर जाता है, या मनुष्यों को दूर-दूर ले जाता है या अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है, (ज्योतिषां ज्योतिः) शब्दादि विषयों का प्रकाशकः श्रोत्रादि इन्द्रियों को प्रवृत्त करने हारा है, (एकम्) एक है, (जाग्रतः) जागृत अवस्था में (दूरम्) दूर-दूर (उदैति) भागता है, (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) जो सोते हुए का (तथैव) उसी प्रकार (एति) भीतर अन्तःकरण में जाता है। (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) संकल्पविकल्पात्मक मन (शिवसंकल्यम्) कल्याणकारी धर्मविषयक इच्छा वाला (अस्तु) होवे।

इस मन्त्र के भावार्थ में मन के विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

'अनेकविधसामर्थ्ययुक्तं मनः शुद्धं सम्पादयन्ति यज्जागृतावस्थायां विस्तृतव्यवहारं तत् सुषुप्तौ शान्तं भवति, यद् वेगवतां वेगवत्तरं ज्ञानस्य साधकत्वाद् इन्द्रियाणामपि प्रवर्त्तकम्०।'

अर्थात् मन अनेकविध सामर्थ्य से युक्त है। यह जागृत-दशा में अपने व्यवहार को विस्तृत कर लेता है और सुप्तावस्था में शान्त हो जाता है। यह वेगवाले पदार्थों में अतिवेगवान् है, ज्ञान के साधनभूत इन्द्रियों को प्रवृत्त कराने वाला है।

विशेष—उपर्युक्त महर्षि के मन्त्रभाष्य से मन के विषय में निम्न बातों का स्पष्टीकरण होता है—

(1) इस शरीर में मन एक है। (2) मन का स्थान आत्मा के समीप है, और यह आत्मा का साधन है। (3) मन जागृत दशा में दूर-दूर भागता है और प्रसुप्तावस्था में शान्त हो जाता है अर्थात् बाह्य विषयों से सम्पर्क नहीं करता। (4) यह मन ज्ञानेन्द्रियों को प्रवृत्त कराने वाला है। अर्थात् ज्ञान का साधन है। (5) मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक है। (6) यह अनेकविध सामर्थ्यवाला और अत्यधिक वेग वाला है। (7) मन शरीर से बाहर कदापि नही जाता। महर्षि दयानन्द ने इस बात का स्पष्ट निर्देश 'दैवम्=आत्मनि भवं जीवात्मनः साधनं वा' कह कर किया है। जो मन आत्मा के आश्रय से रहता है अथवा उसका साधन है, वह जड़ मन बिना आत्मा के शरीर से कैसे जा सकता है?

इस मन्त्र का महर्षि स०प्र० (स० समु०) में अर्थ इस प्रकार करते हैं—

"हे दयानिधे! आपकी कृपा से जो मेरा मन जागते में दूर-दूर जाता, दिव्य गुण युक्त रहता है, और वहीं सोते हुये मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में

दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह मेरा मन शिवसङ्कल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करने हारा होवे, किसी की हानि करने की इच्छा-युक्त कभी न होवे।"

दूसरे मन्त्र का महर्षि-कृत अर्थ–

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० 34।2)

अर्थः–हे परमेश्वर विद्वन् वा! भवत्सङ्गेन (येन) मनसा (अपसः) अपः कर्म तद्वन्तः सदा कर्मनिष्ठाः (मनीषिणः) मनस ईषिणो दमनकर्त्तारः (धीराः) ध्यानवन्तो मेधाविनः (यज्ञे) अग्निहोत्रादौ धर्मेण संगतव्यवहारे योगाभ्यासे वा (विदथेषु च) विज्ञान-युद्धादिव्यवहारेषु (कर्मणि) कर्तुरीप्सिततमानि क्रियमाणानि (कृण्वन्ति) कुर्वन्ति (यद्) (अपूर्वम्) अनुत्तम-गुणकर्मस्वभावम् (प्रजानाम्) प्राणिमात्राणाम् (अन्तरे) मध्ये (यक्षम्) पूजनीयं संगतं वा वर्तते, (तत्) (मे) मम (मनः) मननविचारात्मकम् (शिवसंकल्पम्) धर्मेष्टम् (अस्तु)।

भाषार्थ–हे परमेश्वर या विद्वन्! आपके संग से (येन) जिस मन से (अपसः) सदा कर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मन का दमन करने वाले (धीराः) ध्यान करने वाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्रादि या धर्मयुक्त व्यवहार या योगाभ्यास रूप यज्ञ में और (विदथेषु) विज्ञान-सम्बन्धी और युद्धादि व्यवहारों में (कर्माणि) अत्यन्त इष्ट कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं (यत्) जो मन (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुण-कर्म स्वभाव वाला (प्रजानाम्) प्राणि-मात्र के (अन्तः) भीतर हृदय में (यक्षम्) पूजनीय या संगत=एकीभूत हो रहा है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मनन या विचार करने वाला मन (शिवसंकल्पम्) धर्मेष्ट (अस्तु) होवे।

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि ने 'अन्तःकरण' को मन का पर्यायवाची मानकर प्रयोग किया है। और उसको वश में करने के पश्मेश्वर की उपासना, सुविचार, विद्या और सत्संग, ये चार साधन बताए हैं।

विशेष–

(1) मन सर्वविध कर्मों का साधन है। (2) मन सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव वाला होने से अपूर्व है। (3) यह मन प्राणियों के हृदय में रहता है। (4) मनुष्य मनन या विचार मन से ही करता है। (5) मन अपूर्व सामर्थ्य वाला है।

इस मन्त्र का महर्षि ने स०प्र० (स०समु०) में अर्थ इस प्रकार किया है–

"हे सर्वान्तर्यामी! जिससे कर्म करने हारा धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं, जो अपूर्व सामर्थ्य युक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहने वाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे॥"

तृतीय मन्त्र का महर्षि-कृत अर्थ–

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनःशिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० 34।3।)

अर्थः– हे जगदीश्वर परमयोगिन् विद्वन् वा! भवज्ज्ञापनेन (यत्) (प्रज्ञानम्) प्रजानाति येन तद् बुद्धिस्वरूपम् (उत) अपि (चेतः) चेतति स्मरति येन तत् (धृतिः) धैर्यस्वरूपम् (च) चकाराल्लज्जादीन्यपि कर्माणि येन क्रियन्ते। (प्रजासु) जनेषु (अन्तः) अभ्यन्तरे (अमृतम्) नाशरहितम् (ज्योतिः) द्योतमानम् (यस्माद्) मनसः (ऋते) विना (किम्) (चन) किञ्चिदपि (कर्म) (न, क्रियते) (तत्) (मे) जीवात्मनो मम (मनः) सर्वकर्मसाधनम् (शिवसंकल्पम्) शिवे=कल्याणकरे परमात्मनि कल्पः=इच्छाऽस्य तत् (अस्तु) भवतु।

भाषार्थ– हे जगदीश्वर वा परमयोगिन् विद्वन्! आपके बताने से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेषकर ज्ञान का साधन बुद्धिरूप (उत) और (चेतः) स्मृति का साधन (धृतिः) धैर्यस्वरूप (च) और लज्जादि कर्मों का हेतु (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) भीतर (अमृतम्) नाशरहित (ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप, (यस्मात्) जिसके (ऋते) विना (किम्, चन) कोई भी (कर्म) कार्य (न क्रियते) नहीं किया जाता (तत्) वह (मे) मुझ जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधन रूप मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला (अस्तु) होवे।

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि ने मन्त्र के आश्रय से एक विशेष बात समझते हुए लिखा है–'अन्तःकरणं बुद्धिचित्तमनोऽहंकारवृत्तित्वाच्चतुर्विधमन्तः प्रकाशं सर्वकर्मसाधकं नाशरहितं मनोऽस्ति।' अर्थात् अन्तःकरण चतुर्विधवृत्ति वाला है–बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार। यह चतुर्विध भीतर प्रकाश करने वाला प्राणियों के सब कार्यों का साधक। अविनाशी मन है।

विशेष– (1) मन की ही चार प्रकार की वृत्तियाँ हैं–बुद्धि=जानना (निश्चय करना), चेतः=स्मरण करना, मनः = मनन करना, और अहंकार करना। जिससे स्पष्ट है *'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः'* अर्थ वाली बुद्धि मन की ही एक वृत्ति है। और जहां इसे साधन न मानकर ज्ञान का पर्यायवाची माना है, वह आत्मा का गुण है। (2) मन शरीरादि के साथ नष्ट नहीं होता, अतः यह अमृत है। (3) मन के बिना कोई कार्य

नहीं हो सकता।

इस मन्त्र का महर्षि ने स०प्र० (स० समु०) में अर्थ इस प्रकार किया है–

"जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चिताने हारा, निश्चयात्मक वृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाश युक्त और नाश रहित है, जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुद्धगुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे॥" डॉ. कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार इस मन्त्र में मन के तीन महत्वपूर्ण गुणों का वर्णन किया गया है। ये हैं–1. प्रज्ञान या जानना (Cognition), 2. चित्त या स्मरणशक्ति (Recollection), 3. धृति या धारणा शक्ति (Retention)।

चतुर्थ मन्त्र का महर्षि कृत अर्थ–

येनेदं भूतं भुवनम्भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० 34।4)

अर्थः– हे मनुष्याः! (येन) मनसा (अमृतेन) नाशरहितेन परमात्मना सह युक्तेन (भूतम्) अतीतम्, (भुवनम्) भवतीति भुवनम्। वर्त्तमानकालस्य सम्बन्धि (भविष्यत्) यदुत्पत्स्यमानं भावि (सर्वम्) समग्रम् (इदम्) वस्तु-जातम् (परिगृहीतम्) परितः सर्वतो गृहीतं ज्ञातम् भवति। (येन) (सप्तहोता) अग्निष्टोमेऽपि सप्तहोतारो भवन्ति (यज्ञः) अग्निष्टोमादिर्विज्ञानमयो व्यवहारो वा (तायते) तन्यते विस्तीर्यते (तत्) (मे) मम (मनः) योगयुक्तं चित्तम् (शिवसंकल्पम्) शिवो मोक्षरूपसंकल्पो यस्य तत् (अस्तु) भवतु॥4॥

भाषार्थ–हे मनुष्यो! (येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होने वाले मन से (भूतम्) व्यतीत हुआ (भुवनम्) वर्त्तमान-काल सम्बन्धी और (भविष्यत्) आगे होने वाला (सर्वमिदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब और से गृहीत अर्थात् जाना जाता है (येन) जिस से (सप्तहोता) अग्निष्टोम के तुल्य सप्त-होताओं वाला (पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा) (यज्ञः) अग्निष्टोमादि अथवा विज्ञानमय व्यवहार (तायते) विस्तृत किया जाता है। (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) योगयुक्तचित्त (शिवसंकल्पम्) शिव=मोक्षरूप संकल्प वाला (अस्तु) होवे॥4॥

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं कि–यह चित्त योगाभ्यास के साधनों व उपसाधनों से सिद्ध होकर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान को जानने वाला, सब सृष्टि को जानने वाला, कर्म, उपासना और ज्ञान का साधक है।

इस मन्त्र का स० प्र० स० समु० में अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं–"योगी

मन को योग विज्ञानयुक्त करके तीनों कालों के व्यवहारों को जान लेते हैं, यह मन नाशरहित आत्मा को परमात्मा के सम्पर्क से त्रिकालज्ञ करता है। मन में ज्ञान और क्रिया है। यह मन 5 ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा से युक्त रहता है। मन से योगरूप यज्ञ को बढ़ाते हैं।"

विशेष–(1) योगाभ्यासादि के द्वारा मन के संयम से परमेश्वर के साथ योग होता है। (2) मन योगाभ्यासादि के द्वारा तीनों कालों के व्यवहारों का ज्ञान करता है। (3) मन अग्निष्टोमादि यज्ञों, योगयज्ञों, विज्ञानों तथा व्यवहारों का साधन है। (4) मन के सप्तहोता (पांच ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि तथा आत्मा) हैं।

पञ्चम मन्त्र का महर्षि–कृत अर्थ–

यस्मिन्नृचः साम यजूषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(य० 34।5)

अर्थः–(रथनाभाविव) यथा रथस्य=रथचक्रस्य मध्यमे काष्ठे सर्वेऽवयवा लग्ना भवन्ति, (अराः) रथचक्रावयवाः तथा (यस्मिन्) मनसि (ऋचः) ऋग्वेदः, (साम) सामवेदः (यजूँषि) यजुर्वेदः (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठितानि (यस्मिन्) मनसि अथर्वाणः प्रतिष्ठिता भवन्ति, (यस्मिन्) मनसि (प्रजानाम्) (सर्वम्) समग्रं (चित्तम्) सर्वपदार्थविषयिज्ञानम् (ओतम्) सूत्रे मणिगणा इव प्रोतम् अस्ति। (तत्) (मे) मम (मनः) (शिवसंकल्पम्) शिवः=कल्याणकरो वेदादिसत्यशास्त्रप्रचार संकल्पो यस्मिँस्तत् (अस्तु) भवतु॥5॥

भाषार्थ–(रथनाभाविव) जैसे रथ=रथचक्र के मध्यम काष्ठ में सब अवयव लगे होते हैं, उन (अराः) रथचक्र के अरों के समान, (यस्मिन्) जिस मन में (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद और (यजूंषि) यजुर्वेद (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित हैं, और जिसमें अथर्ववेद के मन्त्र प्रतिष्ठित होते हैं, और (यस्मिन्) जिस मन में (प्रजानाम्) प्रजा का (सर्वम्) सब (चित्तम्) सब पदार्थ विषयक ज्ञान (ओतम्) सूत्र में मणि-गण के तुल्य पिरोया हुआ है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) (शिवसंकल्पम्) शिव=कल्याणकारी वेदादि सत्य-शास्त्र के प्रचार का संकल्प रखने वाला (अस्तु) होवे॥5॥

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं कि "मन के स्वस्थ रहने पर ही वेदादि पठन-पाठन का व्यवहार सम्भव है। वह मन ही वेदादि विद्या को धारण करने वाला है। अन्तःकरण में सब व्यवहारों का ज्ञान संचित होता है।"

इसी मन्त्र का सत्यार्थ-प्रकाश (स०समु०) में अर्थ करते हुए महर्षि लिखते

हैं–'हे परम विद्वन् परमेश्वर! आप की कृपा से मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरी में आरा लगे रहते हैं वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है। और **जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त=चेतन विदित होता हैं, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे।'**

विशेष–

(1) मन में वेदादि का सर्वविधि ज्ञान प्रतिष्ठित है।

(2) शुद्ध मन से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है।

(3) मन में ही जन्म-जन्मान्तरों का संचित ज्ञान तथा वासनाएँ रहती हैं।

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने इस मन्त्र की व्याख्या में मन की दो विशेषताओं का उल्लेख किया है–(1) मन सभी वेदों का आश्रय है। (2) मन सारी चेतनाओं का आश्रय है। मन विश्व के समस्त ज्ञान का आश्रय है। ज्ञान के प्रतीक के रूप में मन्त्र में ऋग् यजुः साम वेदों का उल्लेख है। इस प्रकार मन समस्त ज्ञान (Knowledge) और बुद्धि (Intelligence) का आश्रय स्थान है। ज्ञान का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहां मन की पूर्ण गति न हो। मन ज्ञान और विज्ञान का निर्देशक है। मन्त्र में दूसरी बात कही गई है कि विश्व की समस्त चेतना (Consciousness) का आश्रय मन है। मन की प्रेरणा से ही चेतना उद्बुद्ध होती है और गतिशील होती है। चेतना ही मानव में जीवनी शक्ति है। यही मनुष्य को प्रबुद्ध रखती है।

षष्ठ मन्त्र का महर्षि-कृत अर्थ–

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० 34।6)

अर्थः–(यत्) (सुषारथिः) शोभनश्चासौ सारथिर्यानचालयिता, तथा (अश्वानिव) (मनुष्यान्) मनुष्यग्रहणमुपलक्षकं प्राणिमात्रस्य (नेनीयते) भृशमितस्ततो नयति=गमयति (अभीशुभिः) रश्मिभिः (वाजिन इव) सुशिक्षितानश्वानिव नियच्छति च, बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति, (यत्) (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदि प्रतिष्ठा=स्थितिर्यस्य तत् (अजिरम्) विषयादिषु प्रक्षेपकं जराद्यवस्थारहितं वा (जविष्ठम्) अतिशयेन वेगवत्तरम् अस्ति, (तत्) (मे) मम (मनः) (शिवसङ्कल्पम्) मङ्गलनियमेष्टम् (अस्तु) भवतु॥6॥

भाषार्थ– (यत्) जो (सुषारथिरश्वानिव) जैसे उत्तम सारथि घोड़ों को चलाता है, वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यों अर्थात् प्राणिमात्र को (नेनीयते) अत्यन्त इधर-उधर ले जाता है, और (अभीशुभिः) रस्सियों से (वाजिन इव) सुशिक्षित घोड़ों के समान

(नियच्छति) वश में करता है। बल से जैसे सारथि घोड़ों को ले जाता है, वैसे प्राणियों को चलाता है। (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में फैंकने वाला अथवा जरादि अवस्था से रहित है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसङ्कल्पम्) मङ्गल नियमों से प्रेम करने वाला (अस्तु) होवे॥6॥

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं–"जहाँ आसक्त हो गया, वहीं जैसे लगामों के द्वारा सारथि घोड़ों को वश में करता है, वैसे वश में करने वाला है, सब अविद्वान् जिसके पीछे चलते हैं और विद्वान् जिसे अपने वश में रखते हैं, जो शुद्ध सुखकारी है और अशुद्ध हुआ दुःखकारी है, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को प्रदान करता है, उस मन को मनुष्य अपने वश में सदा रक्खें।"

इस मन्त्र का महर्षि ने सत्यार्थ-प्रकाश (स०समु०) में अर्थ इस प्रकार किया है–"हे सर्वनियन्ता परमेश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथि के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है। वह सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्म-पथ में सदा चलाया करे। ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए।"

विशेष–

(1) मन मनुष्यों का ही नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्र का साधन है। (2) मन का स्थान आत्मा के समीप हृदय में है। (3) मन अत्यन्त वेग वाला है। (4) मन जरा (बुढ़ापा) आदि दशाओं से रहित है। (5) इन्द्रियां मन के नियन्त्रण में कार्य करती हैं। योगाभ्यासादि के द्वारा मन के संयम से इन्द्रियों को धर्माचरण में प्रवृत्त कराया जा सकता है। (6) मन को रथ के घोड़ों की तरह अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है।

वेदों में 'मनस्' शब्द के महर्षि कृत अर्थ–

मनसः=संकल्प-विकल्पात्मकात्। य० 18।58॥

मनसः=मननशीलात् सामर्थ्यात्। य० 31।12॥

मनसः=अन्तःकरणपुरुषार्थात्। ऋ० 7।33।11॥

मनसः=विज्ञानात्। य०4।6॥

मनसः=संकल्प-विकल्पादिवृत्तियुक्तस्यान्तःकरणस्य। य० 37।18॥

मनसः=मननशीलाद् वेगवत्तरात्। ऋ० 1।117।2॥

मनसः=चित्तस्य। ऋ० 1।76।1॥

मनसा=मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे व्यवहारा येनाऽन्तःकरणेन। य० 2।24॥

मनसा=शुद्धान्तःकरणेन। य०17।94॥

मनसा=सुविचारेण। य०7।26॥

मनसा=विज्ञानवता चित्तेन। य०13।18॥

मनसा=भावेन। य०।34।23॥

मनसा=स्वान्तेन। ऋ०1।96।8॥

मनसा=विज्ञानेनेश्वरध्यानेन वा ऋ० भू० 252। य०19।39॥

मनसा=प्रज्ञया। ऋ० 1।138।2॥

मनसा=शिल्पादिविचारेण। ऋ०1।91।23॥

मनसे=विज्ञानवृद्धये। य०4।7॥

मनसे=विज्ञानवतेऽन्तःकरणाय। य०37।19॥

मनसे=सदसन्मननाय। य०6।25॥

मनसे=मननिमित्ताय संकल्प-विकल्पात्मने। य०22।23॥

मनः= मननात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। य०11।1॥

मनः=अन्तःकरणस्यास्याहंकारादिवृत्तिम्। य०3।56॥

मनः=योगमननम्। य०7।6॥

मनः=मननशीलं ज्ञानसाधनम्। य०2।13॥

मनः=संकल्प-विकल्पात्मकम्। य०37।2॥

मनः=मननात्मकं चित्तम्। ऋ०6।16।17॥

मनः=ज्ञानसाधनमन्तःकरणम्। य० 18।43॥

मनः=धारणावतीं बुद्धिम्। य०3।55॥

मनः=शुद्धं विज्ञानम्। य०7।3॥

मनः=मननशीलं प्रेरकं कर्म। य०13।55॥

मनः=इच्छासाधनम्। य०11।66॥

मनः=स्वान्तम्। य०9।7॥

मनः=सर्वकर्मसाधनम्। 34।3॥

मनः=संकल्पोऽभिलाषेच्छादि, विकल्पोऽप्रीतिद्वेषादितदात्मकम्। (ऋ० 8।8।49।3)

मनः=स्मरणात्मकं चित्तम्। य०3।54॥

मनांसि=अन्तःकरणानि। ऋ० 7।56।8॥

ब्राह्मणग्रन्थों में मनोविज्ञान

शतपथब्राह्मणम्–

(1) मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ। श०8।1।1।7॥

(2) मनो ह वाऽअस्य सविता। श०4।4।1।7॥

(3) कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्

(4) सर्वं मन एव। श०14।4।3।9॥

(5) नैव हि सन्मनो नैवासत्। श०10।5।3।2॥

(6) अनिरुक्तं हि मनो अनिरुक्तं ह्येतद् यत् तूष्णीम्॥ शा० 1।4।4।5॥

(7) अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्। श०1।4।4।7॥

(8) अनन्तं वै मनः। श०14।6।1।11॥

(9) वृषा हि मनः। श०1।4।4।3॥

(10) वाग् वै मनसो ह्रसीयसी। श०1।4।4।7॥

(11) न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्त्तुम्। श०6।3।1।14॥

(12) अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव।

(13) पश्यति मनसा शृणोति। श०14।4।3।8॥

(14) मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः। श०।7।5।2।6॥

(15) मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥ श०14।3।2।3॥

(16) मनसि हृदयमात्मा प्रतिष्ठितः। 6।7।1।21॥

(17) मनो वाऽध्वर्युः। श०।1।5।1।21॥

(18) मनो वै देववाहनं मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते। श० 1।4।3।6॥

ऐतरेय ब्राह्मणम्–

(19) वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्। ऐ०5।23॥

(20) असंप्रेषितं वा इदं मनः। ऐ०6।2॥

कौषीतकिब्राह्मणम्–

(21) मनः सावित्रम्। कौ०16।4॥

(22) वाक् च वै मनश्च हविर्धाने। कौ०9।3॥

गोपथब्राह्मणम्–

(23) यन्मनः स इन्द्रः। गो० उ० 4।11॥

(24) मनो देवः। गो०पू०2।10॥

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणम्–

(25) मनः प्रगाथः। जै० उ० 34।3॥

(26) स एष ह्रदः कामनापूर्णो यन्मन्नः। जै०उ०1।58॥

(27) तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्। जै० उ० 1।58।3॥

(28) वागिति मनः। जै० उ० 4।22।11॥

(29) वाचो मनो देवता मनसः पशवः। जै० उ० 1।59।14॥

(30) मनो वाव साम्नश्श्रीः। जै०उ० 1।39।2॥

(31) तयोर्यत् सत् तत् साम तन्मनस्स प्राणः। जै०उ० 1।53।2॥

(32) मनश्चन्द्रमाः। जै०उ० 3।2।6॥

ताण्ड्यब्राह्मणम्–

(33) वाग् वै समुद्रो मनः समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः। ता० 6।4।7॥

(34) मनो हि पूर्वं वाचो यद्धि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति। तां०1।11।3॥

षड्विंशब्राह्मणम्–

(35) अर्द्धभाग् वै मनः प्राणनाम्। ष०1।5॥

तैत्तिरीयब्राह्मणम्–

(36) मनो ह्रदये (श्रितम्)। तै० 3।10।8।6॥

(37) चन्द्रमा मनसि श्रितः। तै०3।10।8।5॥

शतपथादि ब्राह्मग्रन्थ प्राचीन महर्षिकृत वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ हैं। उन्होंने 'मनस्' शब्द के जो-जो अर्थ किए हैं, वे यहाँ यथार्थरूप में दिखाए गए हैं। जिससे विद्वान् पाठक इन प्राचीन अर्थों से भी लाभान्वित हो सकें।

उपनिषदों में मनोविज्ञान

आध्यात्मिक क्षेत्र में उपनिषदों का प्रमुख स्थान है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने अपने निरन्तर अभ्यास तथा तपस्या से जिस ज्ञान को साक्षात् किया और अनुभव

किया, उसका संग्रह उपनिषदों में किया गया है। प्रस्तुत मन के विषय में भी उनका ज्ञान अद्‌भुत तथा अतीव महत्त्वपूर्ण है।

(1) मन से ब्रह्म नहीं जाना जाता–

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्॥ साम० तवलका० 1।5॥

वह ब्रह्म मन (अन्तःकरण) से विचारा नहीं जाता। किन्तु ब्रह्म की उपासनादि से मन आदि का भी ज्ञान होता है।

(2) मन शरीररूपी आत्मा के रथ में प्रग्रह (लगाम) है–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठोप० 3।3॥

यह आत्मा शरीररूपी रथ का स्वामी है, शरीर रथ है। बुद्धि सारथी है और मन प्रग्रह (लगाम की रस्सी) है।

(3) मनादि से युक्त होकर ही आत्मा भोक्ता कहलाता है–

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठोप० 3।4॥

अर्थात् आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मनयुक्त होकर ही भोक्ता कहलाता है।

(4) मन के संयम से इन्द्रियां वश में हो जाती हैं–

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ (कठोप० 3।6)

जो विवेकी अभ्यास व वैराग्य से मन को वश में कर होता है, उसकी इन्द्रियां वैसे ही वश में हो जाती हैं, जैसे सारथी के सुशिक्षित घोड़े वश में रहते हैं।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्‌विष्णोः परमं पदम्॥ (कठोप० 3।9)

जिसका सारथी शुद्ध बुद्धि है, और मन रूपी प्रग्रह (लगाम) जिसके वश में है?, वह ब्रह्म के परम पद को प्राप्त करता है।

(5) मन कितना सूक्ष्म है?

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ कठोप० 3।10॥

अर्थात् इन्द्रियों से सूक्ष्म अर्थ=गन्धतन्मात्रादि विषय हैं और अर्थ=विषयों से सूक्ष्म मन हैं, मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से आत्मा=महत्तत्त्व सूक्ष्म हैं।

(6) मन से इन्द्रियों का संयम करे–

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः॥ कठोप०3।13॥

संयत-बुद्धि पुरुष मन से वाणी आदि इन्द्रियों का संयम करे।

(7) मन का अर्थ बुद्धि–

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन॥ कठोप० 4।11॥

यह ब्रह्म सूक्ष्म बुद्धि से ही प्राप्त करने योग्य है।

(8) सूक्ष्म शरीर, जिसमें मन भी है, उसके सहित जीवात्मा हृदय में रहता है–

अंगुष्ठमात्रपुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति॥ कठोप० 4।12॥

शरीर अंगुष्ठ मात्र स्थान वाले हृदय में लिंग शरीर सहित जीवात्मा रहता है। इससे स्पष्ट है कि मन का स्थान भी हृदय है।

अंगुष्ठमात्रपुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः॥

कठोप० 6।17॥

(9) मोक्ष के लिए मनादि का संयम परमावश्यक–

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ कठोप० 6।10॥

जब योगाभ्यासादि से ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ चञ्चलता रहित होकर परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि भी ज्ञानविरुद्ध आचारण नहीं करती, उसे सर्वोत्तम दशा (मोक्ष) कहते हैं।

(10) कामनाएँ हृदय (अन्तःकरण) में रहती हैं–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः॥ कठोप० 6।14॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः॥ कठोप०6।15॥

अर्थात् हृदय (अन्तःकरण) में स्थित कामनाएँ जब दूर हो जाती हैं, और जब हृदय (अंतःकरण) की गांठे नष्ट हो जाती हैं, तब जीवात्मा मुक्त होता है।

(11) हृदय स्थान का वर्णन–

(क) शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम्
अभि निःसृतैका॥ (कठोप०।6।16॥)

हृदय स्थान में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनके बीच में एक सुषुम्णा नाड़ी हृदय से चल के मस्तक में जाती हैं।

(ख) हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडी सहस्त्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरन्ति॥ प्रश्नोप० 3 प्र० 6॥

कलम के तुल्य आकार वाले मांसपिंडरूप हृदय में यह शरीर का स्वामी आत्मा रहता है। सुश्रुत के शरीर स्थान में हृदय स्थानका वर्णन करते हुए लिखा है–नीचे मुख वाला कमल के तुल्य हृदय है, वह जागते समय खुला रहता है और सोते समय कमल के तुल्य बन्द हो जाता है।

इसी हृदय में एक सौ एक नाडियां हैं। उनमें से एक-एक की सौ-सौ शाखाएं (नाडियां) फूटती हैं। उन शाखा नाडियों में से एक 2 के बहत्तर बहत्तर हजार प्रति शाखा नाडियां होती हैं। इन मूल शाखा और प्रति शाखा रूप सब नाडियों में व्यान नामक प्राण विचरता है।

हृदय शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में 'मन' तथा 'शरीर में स्थान विशेष' दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। अतः प्रकरण को देखकर ही 'हृदय' का अर्थ करना चाहिए। अतः यहां मन के प्रसंग में उपर्युक्त स्थल भी दिखाया गया है।

(12) निद्रावस्था में कौन सोता है और कौन जागता है?

इस विषय में प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न पिप्पलाद ऋषि से सौर्यायणी गार्ग्य ने प्रश्न किया कि–

'भगवन् एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति, कस्यैतत् सुखं भवति, कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति॥' (प्रशोप० चतुर्थ प्रश्न क०1)

अर्थात् हे भगवन्! इस पुरुष के शरीर में प्राण, इन्द्रिय, मनादि में से कौन सोते और कौन जागते और कौन देव स्वप्नों को देखता है, सुख किसको होता है, और किसमें जीवात्मा पर्यन्त प्राणादि प्रतिष्ठित होते हैं?

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्हि एष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते॥ प्रश्नोप० चतुर्थ० क० 2॥

अर्थात् जैसे सूर्य की किरणें अस्त होने पर सूर्य में इकट्ठी हो जाती हैं और फिर सूर्योदय होने पर किरणें फैल जाती हैं, वैसे ही हे गार्ग्य! नेत्रादि इन्द्रियां अपने

से सूक्ष्म प्रकाशक मन में लीन हो जाती हैं, इसी कारण निद्रा समय में पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द लेता है, न विष्ठादि का त्याग करता है और न चलता है। ऐसा होने पर पुरुष सोता है, यह व्यवहार होता है।

इससे स्पष्ट है कि सब इन्द्रियां मन के आधीन हैं। और मन का अनुसरण करती हैं। मन के जागने पर जागती हैं और तमोग्रस्त मन के होने पर इन्द्रियां सोती हैं।

इस विषय में सुश्रुत के शरीर प्रकरण में कहा है–

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्।
तमोऽभिभूतेतस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम्॥

अर्थात् हृदय ही आत्मा का स्थान है। और इसके तमोगुण से ग्रस्त होने पर जीवों को निद्रा आती है।

इस शरीर में कौन जागते हैं; इसका उत्तर यह दिया है–

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति॥ प्रश्नोप०4 प्रश्न क०3॥

अर्थात् इस इन्द्रिय रूप नव द्वार वाले शरीर रूप नगर में प्राण ही जागते हैं। कौन देव स्वप्न देखता है? इसका उत्तर है–

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति॥ प्रश्नोप० 4 प्रश्न॥

स्वप्न काल में शरीररक्षा के लिए प्राणों के जागते हुए जीवात्मा प्रत्यक्षरूप से देखे, सुने या जाने हुए पदार्थो का संस्कारों से अनुभव करता है।

स यदा तेजसाभिभूता भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यति। (प्रश्नोप० 4 प्रश्न)

जब जीवात्मा परमेश्वर के प्रकाश से अभिभूत हो जाता है, तब स्वप्नों को नहीं देखता।

(13) मन की गणना षोडश कलाओं में की है–

प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में सोलह कलाएँ गिनाई हैं। इनके विषय में वहाँ कहा है–

1. इहैवान्तः शरीरे सोम्य! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति। अर्थात् इस जीवात्मा के शरीर में 16 कलाएँ ईश्वर-रचित हैं, इन्हीं से जीव कार्य करने में समर्थ होते हैं।

2. सोलह कलाएँ ये हैं–प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रियां, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म लोक, और नाम हैं। इनमें मन की भी गणना की है।

3. ये सोलह कलाएँ प्रलय के समय नष्ट हो जाती हैं और मुक्त दशाओं में भी 16 कलाएँ नहीं रहतीं। अत एव कहा है–

'एषोऽकलोऽमृतो भवति।'

अर्थात् मुक्त अवस्था जब मिल जाती है तब कलाएँ नहीं रहतीं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मन अचेतन तथा ईश्वररचित है। और मुक्ति में मन की सत्ता नहीं रहती।

(14) मन की उत्पत्ति का वर्णन–

(1) तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽअन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ मुण्डको०ख० 1 क० 8॥

अर्थात् प्रलय के प्रश्चात् सर्वप्रथम तप= ज्ञान से ब्रह्म ने ईक्षण किया, तदनन्तर अन्न, प्राण, मन, सत्य लोकादि की उत्पत्ति हुई। यहां मनः= अन्तःकरण की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से मानी है।

(2) एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च॥ मुण्डकोप० 2 ख०3 क०॥

अर्थात् उस परमेश्वर की प्ररेणा से प्राण, मन, (अन्तःकरण) इन्द्रियादि की उत्पत्ति हुई।

(15) मन (अन्तःकरण) की शुद्धि से ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होता है–

प्राणैश्चित्तं सर्वमेतं प्रजानां यस्मिन्
विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ मुण्डकोप० 3।1।9॥

इस शरीर में प्राणादि से प्रजाओं का चित्त (अन्तःकरण) ओत-प्रोत है। जिसके विरुद्ध (राग, द्वेषादि से रहित) होने पर परमात्मा के स्वरूप का प्रकाश हो जाता है।

(16) मन (अन्तःकरण) की शुद्धि ईश्वर-साक्षात्कार से होती है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

–मुण्डकोप० 2।2।8॥

अर्थात् उस पर ब्रह्म की उपासना तथा साक्षात्कार से हृदयस्थ वासनाओं की गांठें, तथा सर्वविध अज्ञान तथा दुष्कर्मों की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

उपनिषद् और मन

(17) मन की उत्पत्ति–

एतस्मात् प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च॥ मुण्डकोप० 2।1।3॥

अर्थात् मूल कारण से मन तथा समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

(18) अन्नमयं हि सोम्य मनः॥ छान्दोग्य० 6।5।4॥

अर्थात् हे सोम्य! यह मन अन्नमय है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्न से नवीन मन की उत्पत्ति होती किन्तु प्रकृति का विकार होने से मन पर भोजन का प्रभाव अवश्य होता है। तमोगुणी भोजन खाने से मन पर तमोगुण का प्रभाव अधिक हो जाता है, रजोगुणी भोजन से रजोगुण का तथा सतोगुणी भोजन से सतोगुण का। इसीलिए लोक में प्रसिद्ध है–जैसा खाए अन्न, वैसा होता है मन।

हमारे शास्त्रों में बुद्धि को बढ़ाने वाले भोजनों का भी वर्णन आता है। महर्षि दयानन्द ने भी अनेक स्थानों पर उसका निर्देश किया है। उसका तात्पर्य भी यही है कि बुद्धि मन की एक वृत्ति है। अन्नादि का मन पर प्रभाव होता है, तो इस सतोगुणी वृत्ति पर भी प्रभाव अवश्य होता है। अतः इस अन्न के प्रभाव के कारण ही बुद्धि का घटना या बढ़ना कहा जाता है।

चरक-संहिता में मनोविज्ञान

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक-संहिता' में 'मन' के विषय में लिखा है–

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पत्तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्। चरक० अ० 8।4॥

अर्थात् मन अतीन्द्रिय है, वह इन्द्रिय होकर भी इन्द्रियों की सीमा से परे हैं, उसको 'सत्त्व' भी कहते हैं। कई विद्वान् उसे 'चेतः' कहते हैं। उस मन का ग्राह्यविषय सुख-दुखादि हैं। ये सुखादि आत्मा के गुण हैं। उस आत्मा के आधीन ही मन की भी प्रवृत्ति है। और मन सब इन्द्रियों की सब चेष्टाओं तथा प्रत्यय (ज्ञान) का कारण है। अर्थात् जब आत्मा प्रयत्नवान् होता है, तभी मन आत्मप्रेरित होकर सुखादि विषयों को अनुभव करता है और इन्द्रियों पर भी अधिष्ठाता है। मन इन्द्रियों से आत्मप्रेरित होकर ही ग्रहण करने योग्य रूप, रसादि का भी ज्ञान कराता है।

मन प्रति शरीर में एक ही है–

प्रत्येक प्राणी के शरीर में 'मन' एक होता है, अथवा अनेक? इस विषय में एक ही मन का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कहते हैं–

स्वार्थेन्द्रियार्थसंकल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमः सत्त्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वं, न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्त्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः॥ चरक०अ० 8।5॥

अर्थात् यह मन अपने चिन्तनीय विषयों, इन्द्रियों से ग्राह्य रूप-रसादि विषयों, तथा अनेक प्रकार के संकल्प करने से संख्या में अनेक प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि एक ही पुरुष में सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के योग होने से मन अनेक प्रतीत होते हैं, वस्तुतः तो मन अनेक नहीं हैं। वह एक है। मन के सूक्ष्म होने पर भी वह एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान नहीं कर सकता, इसलिए सब इन्द्रियों की एक समय में अनेक युगपत् प्रवृत्ति नहीं होती।

मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। चरक०अ० 8।7॥

अर्थ–मन के साथ सम्पर्क होने पर ही इन्द्रियां अपने-अपने ग्रहण करने योग्य अर्थ रूप, रसादि को लेने में समर्थ होती हैं।

मन द्रव्य है–

मनो, मनोऽर्थो, बुद्धिर्, आत्मा चेत्याध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः शुभाशुभप्रवृत्ति निवृत्तिहेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति॥ चरक०अ० 8।13॥

अर्थ– मन, मन के विषय (संकल्पादि) बुद्धि और आत्मा से अध्यात्म द्रव्य और गुण हैं। ये ही शुभ और अशुभ कार्यो में प्रवृत्ति-निवृत्ति के कारण हैं। द्रव्यों के आश्रय से ही कर्म होता है, जिसको क्रिया कहते हैं।

मन का विषय और मन के रुग्ण होने के कारण–

'मनसस्तु चिन्त्यमर्थः, तत्र मनसे बुद्धेश्च, ते एव समानातिहीनमिथ्यायोगाः प्रकृति-विकृतिहेतवो भवन्ति।' चरक०अ० 8।17॥

अर्थ–मनका ग्राह्यविषय चिन्तन करना है, वहां मन और मन से उत्पन्न बुद्धि भी समानयोग से स्वस्थ रहते हैं और अति योग, हीनयोग और मिथ्यायोग से विकार (रोग) को प्राप्त होते हैं।

चित्तादि हृदय पर आश्रित हैं–

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥

(चरक०अ० 30।4॥)

अर्थ– छ:अंगों (दो हाथ, दो पांव, शिर और शेष मध्यभाग) वाला देह, विज्ञान (चेतना), इन्द्रियाँ, (ज्ञानेन्द्रियाँ) और उनके पांच ग्राह्य विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और गुण (इच्छा) द्वेष, सुख और दु:ख आदि गुणों के सहित आत्मा, चित्त और चित्त का विषय (चिन्तन करना) ये सब हृदय पर आश्रित हैं।

हृदयविद्या के विचारक विद्वानों का यह मत है कि इन आत्मा चित्तादि की प्रतिष्ठा के लिए हृदय उसी प्रकार आवश्यक है कि जैसे घर की कड़ियों को सम्भालने के लिए बीच की बड़ी थूणी या लट्ठा आवश्यक होता है। चरक०अ० 30।5॥

तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति।
यद्धि तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम्॥

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः॥

चरक०अ० 30।6–7॥

अर्थ–उस हृदय के ऊपर चोट लगने से मूर्छा (बेहोशी) हो जाती है, और उसके फटने से मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। और जो स्पर्श ज्ञान का साधन त्वचा है, वह तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग नामक 'धारि'=जीवन है, वह भी उस हृदय पर ही आश्रित है।

सबसे उत्कृष्ट धातु 'ओज' का स्थान भी हृदय है, वहां ही चेतना (आत्मा) का निवास है। इसलिए चिकित्सकों ने उस हृदय को महत्=सब से 'महान्' और अर्थ=सबका परम 'खजाना' नाम से कहा है।

हृदय के अर्थ में 'मनस्' का प्रयोग–

तन्महत्ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता।
परिहार्या विशेषेण मनसो दु:खहेतवः॥ चरक० अ० 30।13॥

अर्थ–उस महत्=हृदय की और हृदय रूप मूल से निकली दस धमनियों और उस ओज की रक्षा करते हुए मन=हृदय के तीव्र दु:ख उत्पन्न होने के कारणों को भी सदा छोड़ देना चाहिए।

चित्त की शान्ति का उपाय–

हृद्यं यत्स्याद् यदौजस्यं स्त्रोतसां यत्प्रसादनम्।
तत्तत्सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च॥ चरक०अ० 30।14॥

अर्थ– ऐसे पदार्थों का सेवन यत्न से करना चाहिए, जो हृदय के हितकारी हों, ओजस् धातु को बढ़ाने वाले हों स्त्रोतों को स्वच्छ करने वाले हों और चित्त को शान्त करने वाले प्रशमसाधन=शान्ति, वैराग्यभावना और ज्ञान=अध्यात्म (औपनिषदादि) आत्मज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

सुश्रुत-संहिता में मनोविज्ञान

मन की उत्पत्ति–भगवान् धन्वन्तरी के शिष्य महर्षि सुश्रुत रचित 'सुश्रुत-संहिता' आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके 'शारीर-स्थान' में मन की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है–

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति॥

सुश्रुत० शारीर० अ० 1।4॥

अर्थ–सब भूतों के कारण अव्यक्त से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जो कि तल्लिङ्ग=अव्यक्तस्वरूप ही हैं अर्थात् सत्त्व, रज, तमरूप है। उस महत्तत्त्व से त्रिविध अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। वह भी सत्त्व, रज, तम गुणात्मक है। वैकारिक, तैजस, तथा भूतादि (तामस) भेद से अंहकार के तीन भेद हैं।

तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः॥

सुश्रुत० शारीर ० अ० 1।5–6॥

अर्थ– वैकारिक अहंकार से तैजस अंहकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, जो कि सात्त्विक स्वरूप होती हैं। इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं–श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, वाणी, हाथ, लिङ्ग, गुदा, पैर और मन। इनमें पहली पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, दूसरी पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय है। अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में अधिष्ठित होकर कार्य करता है, अतः यह उभयेन्द्रिय है।

इस प्रकार मन की उत्पत्ति अहंकार से मानी है। जो अहंकार प्रकृति का ही विकार है। और इन 24 तत्त्वों को प्रकृति का विकार मानकर ही महर्षि सुश्रुत ने इन्हें

जड़ कहते हुए लिखा है–

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः। सुश्रुत०शारीर०अ० 1।11॥

अर्थात् प्रकृति के विकार होने से 24 तत्त्व अचेतन (जड़) हैं।

आत्मा के गुणों का वर्णन–

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः-संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः॥

सुश्रुत० शारीर०अ० 1।22॥

अर्थ–उस आत्मा (कर्मपुरुष) के गुण हैं–सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राणवायु का धारण करना, अपान वायु का छोड़ना, आंख खोलना, आंख मून्द लेना, बुद्धि, मनः, संकल्प, विचारणा, स्मरण करना, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि।

यहाँ पाठकों को भ्रान्ति हो सकती है कि मनादि के गुणों को भी आत्मा के गुण क्यों माना है? इसका उत्तर यह है कि चरक-संहिता में चिकित्सा की दृष्टि से वर्णान किया है। 'आत्मा' की चिकित्सा कैसे सम्भव है? इसलिए आयुर्वेद के अनुसार 'पुरुष' की परिभाषा यह है–

पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः।
स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः। सुश्रुत०शारीर०अ० 1।21॥

अर्थात् आत्मायुक्त पञ्चभूतात्मक शरीर ही पुरुष है और वही चिकित्सा-शास्त्र में उपयुक्त है। चरकसंहिता में मन, आत्मा और शरीर को पुरुष माना है। अतः पुरुष की परिभाषा के अनुसार ही मनादि को कर्मपुरुष का गुण कहा है।

मन के गुणों का वर्णन– मन प्रकृति का विकार होने से सत्त्वादि गुणों वाला है। अतः जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी गुण से मन को कहा जाता है। इस तरह त्रिविध मन के गुणों का वर्णन सुश्रुत में मिलता है।

सात्त्विक-मन के गुण–

सात्त्विकास्तु आनृशंस्यं, संविभागरुचिता, तितिक्षा, सत्यं, धर्म, आस्तिक्यं, ज्ञानं, बुद्धिः, मेधा, स्मृतिः, धृतिः, अनभिषङ्गश्च। सुश्रुत० शारीर० अ० 1।23॥

अर्थात् मन में सतोगुण के प्रमुख होने पर ये गुण प्रतीत होते हैं– अक्रूरता, संविभाग रुचिता=अन्नादि का सम्यग् वितरण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों को सहना, सत्य, धर्म, आस्तिकता, ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति, धैर्य और अनभिषङ्ग=निरिच्छापूर्वक अच्छे कार्यों का करना। ये सात्त्विक गुण के 12 गुण हैं।

राजस-मन के गुण–

राजसास्तु दुःखबहुलाऽटनशीलताऽधृतिरहंकार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च॥ सु०शा०अ०1।25॥

अर्थात् रजोगुण की मन में प्रधानता होती है, तब मन में ये राजस गुण प्रतीत होते हैं–दुःखबाहुल्य, घूमने का स्वभाव, अधीरता, अहंकार, असत्य भाषण, क्रूरता, दम्भ, मान, आनन्द, विषय-सम्बंधी इच्छा और क्रोध।

तामस-मन के गुण–तमोगुण-प्रधान मन के गुण ये हैं–

तामसास्तु विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधो ज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति। सु० शा० अ० 1।25॥

अर्थात् खेद करना, वेदादि को न मानना, धर्मविरुद्ध आचरण करना, बुद्धि का उपयोग न करना, ज्ञान न होना, दुष्ट बुद्धि रहना, काम करने की इच्छा न होना, नींद लेने की आदत रहना, ये तामस मन के गुण हैं।

वैशेषिक दर्शन में मनोविज्ञान

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में दर्शनों का विशिष्ट स्थान है। सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों पर पृथक् 2 दर्शनों में ऋषियों ने सम्यक् विचार किया है। वैशेषिक दर्शन में प्रत्येक द्रव्य के साधर्म्य-वैधर्म्य दिखाकर प्रत्येक द्रव्य की समानता तथा असमानता को भली भांति दिखाया है। इस विद्या को न जानने से मध्यकाल में अनेक भ्रान्तियाँ पैदा हो गई थीं। जैसे 'जीवो ब्रह्म चेतनत्वात्' कहकर नवीन वेदान्तियों ने एक अवैदिक विचार को ही फैलाया। किन्तु जीव-ब्रह्म में चेतनता होने पर भी वैधर्म्य (सर्वज्ञ-अल्पज्ञादि आदि) पर विचार नहीं किया। महर्षि दयानन्द ने फिर से हमारे सामने विस्मृत इस विद्या को समझाया। प्रस्तुत 'मन' के विषय में भी साधर्म्य-वैधर्म्य को जानने से आर्य विद्वानों की भी अनेक भ्रान्तियाँ दूर हो जायेंगी। जैसे मन को जीव की शक्ति है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं, उन विद्वानों को वैशेषिक दर्शन के मनःसम्बन्धी स्थलों पर–ऊहापोह से विचार करना चाहिए।

वैशेषिक दर्शन में मन के विषय में निम्न बातों पर विचार किया है–

(1) मन द्रव्य है। (2) प्रति शरीर में मन एक है। (3) मन का लक्षण। (4) मन के संयोग से आत्मा का प्रत्यक्ष। (5) मानसिक क्रियाओं का कारण आत्मा है। (6) मन का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। (7) मन का परिमाण अणु है। (8) 'मनः' द्रव्यत्व की सिद्धि। (9) 'मनः' आदि द्रव्यों का साधर्म्य। (10) मन के गुण।

(11) मानसिक गुणों का विवेचन। (12) ज्ञान का वाचक बुद्धि आत्मा का गुण है। (13) स्मृति का कारण।

वैशेषिक दर्शन में मन की गणना द्रव्यों में की है–

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं
कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।। वैशे० 1।1।5॥

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन ये नौ द्रव्य हैं। द्रव्य का लक्षण है–

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्य-लक्षणम्।। वैशे० 1।1।15॥

अर्थात् क्रियावान् और गुणवान् तथा जो समवायिकारण हो, उसको द्रव्य कहते हैं। क्योंकि मन संख्या परिमाणादि गुणों वाला तथा क्रियावान् है, अतः मन द्रव्य है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते।। वैशे० 3।2।2।।

वायु की तरह मन द्रव्य तथा नित्य है। मन संयोगादि गुणों का आश्रय होने से मन द्रव्य तथा अवान्तर सृष्टि में उत्पत्ति कारण के न पाये जाने से नित्य है। अर्थात् जैसे वायु स्पर्शादि गुणों का आश्रय होने से द्रव्य और अवान्तर सृष्टि में उसकी उत्पत्ति का कारण द्रव्य न होने से व्यावहारिक नित्य है, वैसे ही मन भी संयोग तथा क्रिया का आश्रय होने से द्रव्य है और मोक्षपर्यन्त स्थायी होने से व्यावहारिक नित्य है, परमार्थ नित्य नहीं।

प्रति शरीर में मन एक है, अनेक नहीं–

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्।। वैशे० 3।2।3।।

अर्थात् प्रति शरीर में मन एक है क्योंकि प्रत्येक अङ्ग में युगपत् प्रयत्न तथा प्रत्येक विषय का युगपत् ज्ञान नहीं होते। शरीर में सब अवयवों में प्रयत्न तथा सब विषयों में ज्ञान समान काल में नहीं होते किन्तु भिन्न भिन्न काल में होते हैं। यदि प्रत्येक शरीर में मन अनेक होते तो उनका प्रत्येक अवयव तथा प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयोग होने से युगपत् (एक काल में ही) अनेक प्रयत्न तथा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते। परन्तु ऐसा न होने से सिद्ध है कि प्रति शरीर में मन एक है, अनेक नहीं।

अथवा इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि एक कार्य में संलग्न पुरुष की क्रिया का अन्य कार्यों में अभाव और प्रथम कार्य को समाप्त करके दूसरे कार्य में क्रिया का सद्भाव होता है। इसी प्रकार एक विषय के ज्ञान के समय अन्य विषयों के ज्ञान का अभाव तथा प्रथम ज्ञान के समाप्त होने पर अन्य विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि प्रत्येक शरीर में मन अनेक होते तो ऐसा कदापि न होता अर्थात्

अनेक क्रियाएँ और अनेक ज्ञान युगपत् हो सकते थे। इससे स्पष्ट है कि प्रति शरीर में मन एक है, अनेक नहीं।

मन का लक्षण–

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्॥

वैशे० 3।2।2।।

अर्थात् आत्मा इन्द्रियों तथा घटपटादि अर्थों का युगपत् सम्बन्ध होने पर भी जो एक विषय में ज्ञान का सद्भाव तथा अन्य विषय में असद्भाव होता है, वह मन की सिद्धि में लिङ्ग है।

एक काल में होने वाले सम्बन्ध का नाम युगपत् सम्बन्ध है। जब आत्मा के प्रयत्न से घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों में युगपत् सम्बन्ध होता है, तब किसी एक विषय का ज्ञान होने और अन्य विषय का ज्ञान नहीं होने से स्पष्ट है कि आत्मा और इन्द्रियों के मध्य सम्पर्क कराने वाला एक अन्य साधन है, जिसे 'मन' कहते हैं। हमें गन्ध-ज्ञान के समय रस-ज्ञान और रस ज्ञान के समय गन्ध का ज्ञान नहीं होता है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जिसके सम्पर्क होने पर ज्ञान होता है तथा सम्पर्क न होने पर ज्ञान नहीं होता, वही ज्ञान का साधन मन है। भाव यह है कि हमें जो ज्ञान होता है, उसकी प्रक्रिया यह है कि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर ही ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। उक्त रीति से जो द्रव्य आत्मा तथा इन्द्रियों के संयोग का आश्रय है वही 'मन' है।

मन की सिद्धि में अनुमान प्रमाण इस प्रकार बनेगा–

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षः कार्योत्पत्तौ करणान्तरसापेक्षः। सत्यपि तस्मिन् कार्यानुत्पादात् तन्त्वादिवत् अत्र यदपेक्षणीयं करणान्तरं तन्मनः।

अर्थात् जैसे तन्तु आदि कारणों के होने पर भी तुरी वेमादि के न होने से पट की उत्पत्ति नहीं होती, अतः तुरी वेमादि करणान्तर की अपेक्षा रहती है, वैसे ही आत्माधिष्ठित इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध भी ज्ञानोत्पत्ति में किसी अन्य साधन की अपेक्षा वाला है, क्योंकि केवल इन्द्रिय तथा विषयों का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान का अभाव देखा जाता है। अतः जो ज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा तथा इन्द्रियसंयोग का आश्रय द्रव्य है, वही मन है। अथवा इसे प्रकारान्तर से इस प्रकार समझना चाहिए–

'सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः जन्यसाक्षात्कारत्वात् गन्धादि-साक्षात्कारवत्।'

जो जन्य प्रत्यक्ष है, वह करणजन्य होता है। इस नियम के अनुसार जैसे 'अयं गन्धः' 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान घ्राणादि इन्द्रिय करणजन्य है, वैसे ही 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' मैं सुखी या दुःखी हूँ, यहाँ सुखदुःखादि आभ्यन्तर विषयों का प्रत्यक्ष भी करणजन्य है। घ्राणादि इन्द्रियाँ बाह्यविषयों के करण होने से सुख-दुःखादि आभ्यन्तर विषय के ज्ञान के करण नहीं हो सकतीं। परिशेष न्याय से जो सुख-दुःखादि आभ्यन्तर विषयों के ज्ञान का साधन द्रव्य है, वही मन है। अतः मन का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि–

सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।

और स्वप्नकाल में अपने 2 व्यापार से इन्द्रियों के विरत होने पर भी गन्धादि विषयों की स्मृति होती है, किन्तु इस स्मृति के निमित्त घ्राण, नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं हैं। क्योंकि–

'निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापायः' (महाभाष्य)

अर्थात् निमित्त के अभाव से नैमित्तिक का भी अभाव हो जाता है। इस नियम के अनुसार घ्राणादि इन्द्रियों के निवृत होने पर तन्निमित्तक गन्धादि ज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। यदि गन्धादि विषयों की स्मृति में घ्राणादि इन्द्रियाँ निमित्त होतीं तो स्वप्न-काल में इन्द्रियों के स्वकार्यो से विरत होने पर गन्धादि की स्मृति कदापि नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि स्वप्न काल में गन्धादि विषयों की स्मृति का साधन मन है, घ्राणादि इन्द्रियाँ नहीं। जो उक्त स्मृति का साधन है, वही मन है।

मन के अस्तित्व में स्मृति एक महत्त्वपूर्ण साधन है। स्मृति का लक्षण इस प्रकार किया है–

आत्ममनसोः संयोगविशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः॥ वैशे० 9।2।6॥

अर्थात् आत्मा और मन के संयोगविशेष तथा पूर्वानुभव जन्य संस्कारों से स्मृतिज्ञान होता है।

तथा स्वप्नः॥ वैशे० 9।2।7॥

जैसे आत्मा और मन के संयोगविशेष तथा पूर्वानुभव जन्य संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है, वैसे ही स्वप्नज्ञान भी उत्पन्न होता है।

किसी विषय का अनुभव हो जाने पर उसके संस्कार आत्मा में सन्निहित हो जाते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त पाकर उनकी याद (स्मृति) आती है। यह स्मृति किसी बाह्येन्द्रिय द्वारा कदापि नहीं हो सकती। जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय को जाना है, उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर अथवा प्रयोग में न आने पर उस विषय की स्मृति होती रहती है। स्वप्न-दशा में इन्द्रियों के स्व-स्व व्यापारों में

व्यापृत न होने पर भी ज्ञान परम्परा चलती रहती है, यह मन के सहयोग से संस्कारों का उद्‌बोधन होकर ही सम्भव है। इस स्मृति से मन का अस्तित्व निर्बाधरूप से सिद्ध होता है।

और बाह्य इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में साधन रूप में उपयोगी हैं, किन्तु अनुमान, आगमादि प्रमाणों की प्रवृत्ति मन के बिना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त संशय, ऊह (तर्क), प्रातिभज्ञान, तथा सुख-दुखादि का प्रत्यक्ष मन के अस्तित्व को ही सिद्ध करते हैं।

कुछ दार्शनिकों की भ्रान्ति–

स्मृति तथा स्वप्न में यह अंतर होता है कि स्मृति पूर्वानुभूत विषयों की होती है और स्वप्नावस्था में जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह अनुभव रूप नहीं है। किन्तु पूर्वानुभव किए पदार्थों के संस्कारों से जन्य होने के कारण जाग्रतस्मृति की भांति स्मृति रूप है। भेद केवल इतना रहता है कि जाग्रत अवस्था में होने वाली स्मृति यथार्थ तथा स्वप्नावस्था में होने वाली स्मृति अयथार्थ है। अत एव प्रत्यक्ष ज्ञान की भांति प्रतीत होती है। वस्तुतः प्रत्यक्ष रूप नहीं।

किन्तु नवीन वेदान्तियों ने जो स्वप्न ज्ञान को अनुभव रूप माना है, वह उनकी महाभ्रान्ति है। क्योंकि वह (स्वप्न ज्ञान) कोई अपूर्व ज्ञान नहीं, और अनुभव ज्ञान अपूर्व होता है। यह नियम है। यदि आग्रह वश स्वप्नज्ञान को अपूर्व ज्ञान मान लें तो जन्मान्ध को रूप का चाक्षुष ज्ञान स्वप्न में अवश्य होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि स्वप्नज्ञान अपूर्व नहीं किन्तु स्मृति रूप है। स्वामी शंकराचार्य जी ने भी ब्र० सू० 2।2।29 के भाष्य में कहा है कि –*'अपि वा स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्।'* अर्थात् स्वप्न ज्ञान स्मृतिरूप है, अनुभव रूप नहीं। स्वप्नज्ञान में स्मृतिज्ञान से कुछ विशेषता होती है। दर्शनकार कहते हैं–

धर्माच्च।। वैशे० 9।2।9॥

स्मृति की भांति स्वप्न ज्ञान केवल आत्मा-मन के संयोग विशेष तथा पूर्वानुभव जनित संस्कारों से ही उत्पन्न नहीं होता किन्तु धर्म अधर्मादि कारणों से भी होता है। तात्पर्य यह है कि स्मृति ज्ञान की भांति स्वप्न ज्ञान संस्कारजन्य होने पर भी धर्मादि सहकारी कारणों के कारण धर्मजन्य, अधर्मजन्य तथा धातुदोषजन्य भेद से तीन प्रकार का होता है। जो स्वप्न ज्ञान चित्त को प्रसन्न करने वाला होता है वह धर्मजन्य, दुःख करने वाला अधर्मजन्य तथा आकाश गमनादि वाला धातुदोष जन्य होता है। शरीर में धातु तीन प्रकार के हैं–वात, पित्त तथा कफ। वात के विकृत होने से भय वश रक्षार्थ आकाश गमनादि समझता है, पित्त के विकृत होने पर अग्नि, दाह,

विद्युच्चमत्कारादि देखता है। और कफ के विकृत होने पर नदी प्रवाह, समुद्र सदृश विशाल जलराशि, और हरे 2 पहाड़ादि देखता है। और अत एव स्मृति से स्वप्न में विलक्षणता होती है।

मन के संयोग से आत्मा का प्रत्यक्ष–

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्।। (वैशे० 9।1।11)

अर्थात् बाह्य विषयों से हट कर केवल आत्मा में वर्त्तमान आत्मा तथा मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। जब योगी का चित्त बाह्य विषयों से हटकर अपने आत्मा में ही लग जाता है, तब उसको आत्मा का साक्षात्कार होता है।

मानसिक क्रियाओं का कारण आत्मा–

हस्तकर्मणा मनसः कर्म आख्यातम्।। (वैशे०5।2।14)

जैसे हस्तादि अवयवों में क्रिया का कारण आत्मा का संयोग है, वैसे ही मानसिक क्रियाओं में आत्मा का मन के साथ संयोग होता है। जब आत्मा चाहता है अपने प्रयत्न से कर्म के लिए मन को प्रेरित करता है। उसमें मन में क्रिया उत्पन्न हो जाती है, वह आत्मा के अभिलषित कार्य में लग जाता है।

जैसे हाथादि अवयवों में होता हुआ कर्म प्रत्यक्ष देखा जाता है, वैसे मानसिक क्रिया में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर देते हुए दर्शनकार कहते हैं–

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे।। (वैशे० 5।2।15)

अर्थात् सुख व दुःख आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सन्निकर्ष से होते हैं। संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति में सुख का और किसी की प्राप्ति में दुःख का अनुभव करता है। यह अनुभव आत्मा को कैसे हो पाता हैं? बाह्य विषय के साथ न तो आत्मा का सीधा सम्बन्ध होता है, न मन का। आत्मा चेतन होने से ज्ञाता तथा अनुभविता है और मन आन्तर साधन है, चक्षु आदि इन्द्रियां बाह्य साध न हैं। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों का होता है। आत्मा जिस विषय का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है, वह आन्तर करण मन को प्ररित करता है, और वह उस विषय से सम्बन्ध इन्द्रिय से सम्बद्ध होकर इन्द्रिय को प्रेरित करता है, इन्द्रियां उस वस्तु से सम्बद्ध होकर उस विषय का प्रत्यक्ष कराती हैं। इस प्रकार आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध की परम्परा से आत्मा बाह्य अर्थ को जान लेता है।

विभिन्न बाह्यादि रूपादि विषयों को जानने के लिए पांञ्चज्ञानेन्द्रियां हैं। आत्मा जिस इन्द्रिय के विषय को जानना चाहता है, मन को उसी इन्द्रिय से सम्बद्ध कर

देता है। एक समय में मन का सम्पर्क एक ही इन्द्रिय से हो सकता है अतः एक समय में एक ही ज्ञान होता है।

इस व्यवस्था के अनुसार विभिन्न विषयों का ग्रहण करने के लिए उन 2 इन्द्रियों से सम्बन्ध करने के लिए मन को गति करनी अत्यावश्यक है। एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरी से सम्बन्ध करना गति-कर्म का प्रयोजक है। इसीलिए मन को वायु की तरह चंचल कहा जाता है।

(प्रश्न) यदि मन चंचल है तो उसका निरोध न होने से मोक्षप्राप्त कैसे हो सकेगा? इसका उत्तर दर्शनकार स्वयं देते हैं–

तदनारम्भे आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखभावःस योगः।।

वैशे० 5।2।16॥

अर्थात् मन के आत्मा में स्थिर होने पर कर्म का अनारम्भ होता है और उससे शरीरिक सुखों व दुःखों का अभाव हो जाता है वही योग है। तात्पर्य यह है कि मन की आत्मप्रतिष्ठा ही समाधिलाभ है। जब मन का सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों के साथ रहता है, तब सुखदुःखादि का अनुभव होता है। यह मन की क्रियाशीलता का दशा है। इसकी प्रतियोगी दशा है– मन का बाह्य इन्द्रियों से सम्बद्ध न रहना। उस दशा में शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। यही यथार्थ में योग है।

(प्रश्न) मृत्यु के अवसर पर जब जीवात्मा शरीर को छोड़ता है तब जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन एवं इन्द्रियां देह से बाहर निकल जाती हैं और देहान्तर को प्राप्त होती हैं। उस समय इनकी गति का कारण क्या होता है? इसका उत्तर दर्शनकार ने यह दिया है–

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः।
कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितनि।। वैशे० 5।2।17॥

अर्थात् अपसर्पण=पूर्व शरीर में आत्मा, मन, इन्द्रियादि का बाहर निकलना, उपसर्पण=नये शरीर में आत्मा, मन, इन्द्रियादि का प्रवेश करना, अशितपीतसंयोगाः=वहाँ खाए, पीए के सम्बन्ध से होने वाले क्रियाकलाप, कार्यान्तरसंयोगाः=इन्द्रिय प्राणादि के सम्बन्ध से होने वाले कर्म, ये सब अदृष्टकारित होते हैं। अर्थात् जीवों के धर्माधर्म के अनुरूप ईश्वरीय व्यवस्था से उन सब क्रिया-कलापों का संचार हुआ करता है।

मन का प्रत्यक्ष नहीं–

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे।। वैशे० 8।1।23॥

नौ द्रव्यों के मध्य आत्मा=जीवात्मा, परमात्मा, मन और चकार से वायु, आकाश, काल, दिक् तथा मूलकारण प्रकृति इन सबका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता।

क्योंकि ये रूप तथा महत् परिमाण वाले नहीं हैं। नौ द्रव्यों में पृथिवी, जल तथा तेज इन द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है शेष का नहीं।

मन का परिमाण–

तदभावादणुःमनः।। वैशे० 7।1।23॥

आकाशादि विभु हैं, उसके विपरीत मन अणु परिमाण वाला है। शरीर में मन एक है, उसका समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ एक काल में संयोग न होने से मन 'अणु' परिमाण वाला है।

मन की अणुता न्याय दर्शन में भी (3।1।56 से 59) 'ज्ञानयौगपद्य' हेतु के आधार पर सिद्ध की है। बाह्येन्द्रिय ग्राह्य विषय के ज्ञान में सहयोगी मन एक काल में एक ही इन्द्रिय से संयुक्त होने के कारण अणु है। यदि मन विभु होता तो एक काल में सब के साथ संयोग होने से युगपत् अनेक ज्ञान हो जाने चाहिएं।

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में मनोविज्ञान

'मनः-द्रव्य' की सिद्धि–

मनस्त्वयोगान्मनः। सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये
ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते।।
श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात्
बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम्।।

(वैशे० प्रशस्तपाद)

अर्थात् मनस्त्व नामक द्रव्यत्व व्याप्त जाति के आधारद्रव्य को मन कहते हैं। उक्त लक्षण 'मनःनामक' द्रव्य के सद्भाव में क्या प्रमाण है? इस का उत्तर भाष्यकार देते हैं–

आत्मा का सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ एक काल में सम्बन्ध तथा इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष होने पर भी एक पदार्थ के ज्ञान के समय दूसरे से दुख-दुःख नहीं होता, इस कारण आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय के सम्बन्ध से सुखादि कार्य की उत्पत्ति में एक विशेष कारण की अपेक्षा करता है। क्योंकि उसके रहने पर ही सुखादि का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। यह अनुमान ही 'मनः' का साधक प्रमाण है।

मन की सिद्धि में प्रमाणान्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि श्रोत्र, चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों का व्यापार न होने पर भी स्मृति की उत्पत्ति देखने में आती है। इस कारण

स्मरणात्मक ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न है, ज्ञान होने से गन्धादि बाह्य विषय ज्ञान के समान। इस अनुमान के द्वारा स्मृतिज्ञान का कारण मन की सिद्धि होती है। अन्धे, बधिरादि प्राणियों के चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों की शक्ति न होने पर भी स्मृति होती है। उसमें श्रोत्रादि इन्द्रियकरण नहीं है। अतः जो स्मृतिज्ञान में करण है, वही मन है।

तथा जिन सुखादिविषयों का बाह्येन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता, ऐसे आन्तरिक सुखादि रूप विषयों की सत्ता होने से भी सुखादि ज्ञान इन्द्रियजन्य हैं, प्रत्यक्ष होने से रूपादि के समान। इस अनुमान से भी मनरूप द्रव्यान्तर सिद्ध होता है।

मन आदि द्रव्यों का साधर्म्य–

पृथिव्युदकञ्चलनपवत्मनसामनेकापरत्वजातिमत्त्वे। क्षितिजलज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्त्वमूर्त्तत्वपरत्वापरत्ववेगवत्त्वानि। (वै० प्रशस्तपाद०)

पृथवी, जल, तेज, वायु, आत्मा तथा मन इन छःद्रव्यों का अनेकत्व व अपर जातिमत्त्व साधर्म्य है। और पृथ्वी, जल, तेज वायु तथा मन इन पांच द्रव्यों का क्रियावत्व, मूर्तत्व, परत्व, अपरत्व, तथा वेगवत्त्व साधर्म्य है।

इससे स्पष्ट है कि मन द्रव्य है और वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने कारण अनेकत्व, अपरजातिमत्त्व साधर्म्य वाला है। और अन्य द्रव्यों की भांति मन भी क्रियावान् तथा मूर्त्तत्वादि से युक्त है।

मन के गुण–

तस्य गुणाः–संख्यापरिमाणपृथक्त्व संयोगविभागपरत्वापरत्व-संस्काराः। प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम्। पृथक्त्वमप्यत एव। तदभाववचनादणु परिमाणम्। अपसर्पणोपसर्पणवचनात् संयोगविभागौ। मूर्त्तत्वात् परत्वापरत्वे संस्कारश्च। (वैशे० प्रशस्तपाद०)

अर्थ–उस मन के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, तथा वेग नाम का संस्कार, ये आठ गुण हैं। जिनमें से प्रयत्न तथा ज्ञानों के एक काल में उत्पन्न न होने से प्रत्येक शरीर में एक ही मन है। प्रति शरीर में मन एकत्व संख्या सिद्ध होने के कारण संख्यानुसारी पृथक्त्व गुण मन में सिद्ध होता है। तथा 'तदभावादणु मनः' इस सूत्र के अनुसार व्यापकता न होने के कारण मन अणुपरिमाण भी सिद्ध होता है। 'अपसर्पणमुपसर्पणम्' सूत्र के अनुसार मन का पूर्व शरीर से हटना, दूसरे शरीर में जाने का वर्णन होने से मन में संयोग तथा विभाग गुण सिद्ध होते हैं। तथा मूर्त्तद्रव्य होने के कारण घटादि मूर्त्त द्रव्यों के समान परत्व, अपरत्व, तथा वेग नामक संस्कार भी मन में सिद्ध है।

अस्पर्शत्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम्। क्रियावत्त्वान्मूर्त्तत्वम्। साधारण विग्रहवत्त्व-प्रसंगादज्ञत्वम्। करणभवात् परार्थम्। गुणवत्त्वाद् द्रव्यम्। प्रयत्नादृष्ट परिग्रहवशादाशुसंचारि चेति।। (वै०शे० प्रशस्तपाद०)

और मन स्पर्शाश्रयद्रव्य नहीं है, अतः समान जाति के द्रव्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि स्पर्शाश्रय द्रव्य ही द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। तथा घटादिकों के समान मन भी क्रिया का आधान होने से मूर्त्तता (जिसके परिमाण की इयत्ता का ग्रहण होता है) सिद्ध होती है। तथा मन भी चक्षुरादि इन्द्रियों के समान करण होने से परार्थ (दूसरे के उपभोग का) साधन है। और मन गुणवान् होने से पृथिव्यादिकों के समान द्रव्य है। और प्रयत्न और अदृश्ट के परिग्रह से शीघ्र गति वाला है। अर्थात् आत्मा के प्रयत्न से या अदृष्ट वश मन शीघ्र संचरण करता है।

मानसिक-गुणों का विवेचन–

उपर्युक्त प्रशस्त भाष्य में मन का संयोग गुण माना है। और संयोग (अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः) दो अप्राप्त पदार्थों का होता है। अतः मन आत्मा की शक्ति नहीं है। क्योंकि शक्ति का संयोग सम्भव नहीं होता है, वह तो पृथक् नहीं हो सकती। और मन का एक गुण संस्कार माना है। संस्कार तीन प्रकार का होता है–वेग, भावना और स्थिति स्थापक। उनमें से–वेगो मूर्त्तिमत्सु पञ्चसु द्रव्येषु (प्रशस्तपाद०)

पृथवी, जल, वायु तथा इन पाञ्च द्रव्यों में वेग नामक संस्कार माना है। इसी प्रकार मन का एक गुण है परिमाण। यह परिमाण चार प्रकार का माना है–अणु, महद्, दीर्घ तथा ह्रस्व। मन का परिमाण कौन सा है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है–

अण्वपि द्विविधं नित्यमनित्यं च।
नित्यं परिमाण मनस्सु तत्तु पारिमाण्डल्यम्।।

अर्थात् पृथिव्यादि के परमाणुओं तथा मन का अणु परिमाण है और वह नित्य है। अनित्य अणु परिमाण द्व्यणुक में होता है।

ज्ञानवाचक बुद्धि आत्मा का गुण है–

वैशेषिक दर्शन में बुद्धि को 24 गुणों में माना है और बुद्धि को आत्मा का गुण मानते हुए प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है–

तस्य गुणाः– बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेष०।

अर्थात् उस आत्मा के बुद्धि, सुख, दुखादि 14 गुण हैं और सुख-दुःखादि की तरह बुद्धि का ग्रहण मन रूपी साधन से होता है। इसकी पुष्टि करते हुए प्रशस्तपाद

भाष्य में लिखा है–

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः॥

अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न केवल मन से गृहीत होते हैं, अतः इनका अन्तःकरणाग्राह्यत्व साधर्म्य है।

जैसे सुखदुःखादि आत्मा के लिंग हैं, वैसे ही बुद्धि (ज्ञान) आत्मा का लिंग है, और इनके ग्रहण का साधन अन्तःकरण (मन) ही है। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में आगे कहा है–

'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगाद् उपलब्धिः॥' अर्थात् आत्मा और मन के संयोग से बुद्धि सुखादि की प्राप्ति होती है।

मन चेतन नहीं है–

वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार मन को चेतन नहीं मानते हैं। वे लिखते हैं–न शरीरेन्द्रियमनसामज्ञत्वात्॥

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय तथा मन अज्ञ=ज्ञान के समवायिकारण न होने से ज्ञानाधार नहीं हो सकते। अतः ज्ञानाश्रयत्वरूप चेतनता उनमें नहीं आ सकती।

नापि मनसः करणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनस्मृति-प्रसङ्गात् स्वयं कारणभावाच्च॥ (वैशे० प्रशस्तपाद०)

अर्थात् मन को चेतन कदापि नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मन को चेतन मानने पर दूसरे कारण की अपेक्षा न होने पर एक ही काल में अनेक ज्ञान तथा स्मृतियां होने लगेंगी। और मन स्वयं करण हाने से कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। अतः चेतना का आश्रय आत्मा ही है, मन नहीं।

स्मृति का कारण–

इस विषय में प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है–**'लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षाद् आत्ममनसोःसंयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति।'**

अर्थात् लिङ्ग दर्शन, इच्छा, तथा पश्चात् स्मरण इत्यादि की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के विशेष संयोग से और दृढ़ अभ्यास तथा आदर ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से देखे हुए, सुने हुए अथवा अनुभव किए हुए पदार्थों में अन्तिम अनुमेय ज्ञान, इच्छा, पश्चात् स्मरण तथा द्वेष का कारण अतीत पदार्थ विषयक स्मृति होती है। तात्पर्य यह है कि स्मृति अतीत विषय की ही होती है, उसमें आत्मा और मन का संयोग तो आवश्यक होता ही है। साथ ही लिङ्गदर्शन, दृढ़ अभ्यास, तथा आदर

ज्ञान-जन्य भावना नामक संस्कार भी कारण होता है। स्मृति प्रत्यक्ष किए प्रमाणों से जाने गए, अथवा अनुमान प्रमाण से जाने हुए विषयों की होती है। शेषानुव्यवसाय=लिङ्ग दर्शन के पश्चात् होने वाला अनुमेय ज्ञान, इच्छा पश्चात् स्मरण तथा द्वेष रूप कार्यों का कारण स्मृति है।

न्याय-दर्शन में मनोविज्ञान

न्याय दर्शन में मन सम्बन्धी निम्न विषयों पर विचार किया गया है–

(1) मन का लक्षण।

(2) मन की गणना प्रमेयों में आत्मा से भिन्न है।

(3) बुद्धि का लक्षण।

(4) मानसिक शुभाशुभ कर्म।

(5) मन इन्द्रिय है।

(6) क्या इन्द्रियाँ भौतिक हैं?

(7) मन ही आत्मा क्यों नहीं?

(8) प्रति शरीर में मन एक है।

(9) मन का कार्यक्षेत्र शरीरान्तर्गत ही है।

(10) मन चेतन नहीं है।

(11) मन का गुण ज्ञान नहीं।

(12) स्मृति के कुछ प्रमुख कारण।

(13) मन अणु है, विभु नहीं।

मन का लक्षण–न्याय दर्शन में मन का लक्षण करते हुए लिखा है–

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ न्याय० 1।1।16॥

अर्थ–जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण=ज्ञान नहीं होता उसको मन कहते हैं। (महर्षि दयानन्द)

इस सूत्र की उपक्रमणिका में महर्षि वात्स्यायन लिखते हैं–

'स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्न ज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। तेषु सत्सु इयमपि।'

अर्थात् यद्यपि न्यायसूत्र में प्रोक्त मन का लक्षण प्रमुख है, किन्तु मन के ज्ञापक लिङ्ग अन्य भी हैं। अतीत विषयक स्मृति बिना कारण के सम्भव नहीं है।

इसका कारण मन ही है। अनुमान-प्रमाण व्याप्ति की स्मृति भी मन के बिना सम्भव नहीं है। आगम=शब्दप्रमाण में शब्द के पदार्थ में शक्तिग्रह स्मृति की अपेक्षा होती है, उसका कारण मन है। 'स्थाणु है या पुरुष' इत्यादि संशय स्थल पर स्थाणु तथा पुरुष के समान धर्मों की स्मृति का करण मन है। प्रातिभ-ज्ञान का करण भी मन है। स्वप्नज्ञान बाह्येन्द्रियों का सम्पर्क न होने पर स्मृति रूप ही है, अतः उसका करण भी मन है। 'यदि यहाँ अग्नि न हो, तो धूम भी नहीं होगा' इत्यादि ऊहा में भी स्मृति की अपेक्षा है, उसमें भी मन ही करण है। सुख-दुःखादि के प्रत्यक्ष में आत्मा का करण मन है। मन के बिना सुख-दुःखादि का ज्ञान सम्भव नहीं है। और इच्छादि आत्मा के व्यापार भी करणसाध्य हैं। उनका भी करण मन ही है। इसी बात को वात्स्यायन मुनि ने इस प्रकार कहा है–

'अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः
करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति।' (वात्स्या० भाष्य०)

अर्थात् उपर्युक्त मन के स्मृति आदि लिंगों में बाह्येन्द्रिय तो करण हो नहीं सकते। क्योंकि स्मरण जिसका हो रहा है, उससे बाह्येन्द्रिय का संयोग नहीं है। किन्तु बिना करण के स्मृत्यादि व्यापार कैसे सम्भव हैं? अतः उनका बाह्येन्द्रियों से भिन्न करण अवश्य होना चाहिए और वह करण ही मन है।

उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में मन की सिद्धि दिखाते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–

युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपद् ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते। तेनानुमीयते अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगिसहकारिनिमित्तान्तर- मव्यापि यस्याऽसंनिधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं संनिधेश्चोत्पद्यते इति। मनः संयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसंनिकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति। (वात्स्यायन भाष्यम्)

अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों के साथ एक साथ सम्पर्क होने पर भी युगपत् ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इससे अनुमान होता है कि इन्द्रियों से संयोग रखनेवाला, सहकारी कोई अव्यापि=अणु दूसरा निमित्त है। जिसके सम्पर्क होने पर ज्ञान होता है और सम्पर्क न होने पर ज्ञान नहीं होता। यदि इन्द्रियों के साथ ज्ञानोत्पत्ति में मन के संयोग की अपेक्षा न हो, तो एक काल में युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिए। क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते, अतः उनका कारण मन ही है।

मन की गणना आत्मा से भिन्न की है–

न्याय दर्शन में आत्मा, मन, बुद्धि आदि को (न्याय० 1।1।9) सूत्र में प्रमेयों के अन्तर्गत भिन्न 2 माना है। महर्षि वात्स्यायन ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है–

(1) आत्मा=सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः=सर्वानुभवी।

(2) मनः=सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमंतःकरणं मनः।

(3) भोगो=बुद्धिः।

अर्थात्=आत्मा सर्वद्रष्टा सर्वभोक्ता तथा सर्वानुभविता है।

मन=सुखदुःखादि सब विषयों का ग्रहणसाधन अन्तःकरण मन है।

बुद्धि=सुखादि का ज्ञान (भोग) बुद्धि है।

बुद्धि का लक्षण–

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।। न्याय० 1।1।15॥

अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान पर्यायवाची है।

न्याय दर्शन की तरह ही वैशेषिक दर्शन में भी (बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः–प्रशस्त पाद०) बुद्धि को ज्ञान का पर्यायवाची मानकर 24 गुणों में माना है। किन्तु ज्ञान का कारण जो निश्चयात्मक वृत्ति है, वह मन की एक वृत्ति है। अतः इस भेद को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

न्याय दर्शन के भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने न्याय० 1।1।17॥ सूक्त के भाष्य में लिखा है–'मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्–बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः' अर्थात् इस सूत्र में 'बुद्धि' शब्द से मन का ग्रहण है। क्योंकि मन ही ज्ञान का साधन है। और प्रवृत्ति ज्ञानवाचक बुद्धि की नहीं हो सकती। 'मन' की प्रवृत्ति होती है।

मानसिक कर्म–

न्यायदर्शन के 1।1।2 सूत्र के भाष्य में महर्षि वात्स्यायन ने मन के शुभ तथा अशुभ कर्मों की गणना करते हुए लिखा है–

(अशुभा प्रवृत्तिः) मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। अर्थात् परद्रोह करना, दूसरों के द्रव्यों को लेने की इच्छा और नास्तिकता ये मन के त्रिविध अशुभ कर्म हैं।

(शुभा प्रवृत्तिः) मनसा दयामस्पृहां श्रद्धाञ्चेति।

अर्थात् दया करना, स्पृहा न करना तथा श्रद्धा करना ये तीन मन के शुभ कर्म है।

मन के सम्पर्क के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता–

न्याय० 1।1।4। सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–आत्मा मनसा

युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेणेति। अर्थात् आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्पर्क होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मन इन्द्रिय है–

न्याय० 1।1।4 सूत्र के भाष्य में सुखदु:खादि के प्रत्यक्ष के विषय में लिखते हुए महर्षि वात्स्यायन लिखते हैं–

'इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्।'

अर्थात् मन भी इन्द्रिय है परन्तु महर्षि गौतम ने प्रमेयों में मन को इन्द्रियों से भिन्न क्यों गिनाया है? इसका उत्तर यह है कि धर्मभेदात्=बाह्येन्द्रियों से विलक्षण होने के कारण मन को इन्द्रियों से पृथक् गिनाया है। इन्द्रियों से मन की विलक्षणता बताते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–

'भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति। मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति।'

अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं अर्थात् स्थूल भूतों से बनी हैं। और अपने अपने विषय का ही ग्रहण कराती हैं। जैसे चक्षु रूप को ही ग्रहण कराती हैं और घ्राण गन्ध को ही इत्यादि। रूपादि गुणों के ग्रहण कराने के कारण ही चक्षु आदि का इन्द्रियत्व है। परन्तु मन स्थूल भूतों से उत्पन्न न होता अहङ्कार से इसकी उत्पत्ति होती है। अत: मन अभौतिक है और रूपादि सब विषयों को ग्रहण कराने में साधन है। किसी एक ही रूपादि गुण का ग्राहक न होने से मन का सगुण भाव नहीं है। और बाह्य इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के ग्रहण में नियत होने से 'सगुण' कहलाती हैं।

क्या इन्द्रियां भौतिक हैं?

यहां पर वात्स्यायन मुनि के भाष्य में मन को अभौतिक तथा इन्द्रियों को भौतिक कहा है इससे पाठकों को सन्देह हो सकता है कि महर्षि दयानन्द ने तो सांख्य दर्शन का उद्धरण देते हुए लिखा है–

अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्। अर्थात् अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं, दश इन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति मानी है। यहां इन्द्रियों तथा मन का जब एक ही कारण माना है, तब यहां भौतिक तथा अभौतिक भेद कैसे सम्भव है?

न्याय दर्शन में बाह्येन्द्रियों की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है–

कानि पुनरिन्द्रियकारणानि–पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि।। (न्याय० 1।1।13) अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियाँ पृथिव्यादि भूतों के कार्य हैं।

यहां पृथिवी आदि पञ्चभूतों से निर्मित शरीरस्थ चक्षुरादि इन्द्रियों के स्थान

विशेषों तथा पृथिवी आदि के विशिष्ट गुणों को ध्यान में रखकर ही इन्द्रियों को पञ्च महाभूतों का कार्य माना गया है। क्योंकि न्याय० 1।1।12 सूत्र की उपक्रमणिका में वात्स्यायन मुनि ने लिखा है–'भोगसाधनानि पुनः' अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियाँ भोग करने के साधन हैं। और इनका भोग साधनत्व शरीराश्रय से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। यद्यपि नेत्रादि गोलक यथार्थ में इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु उपचार से इनको इन्द्रिय कहा जाता है इसलिए न्याय दर्शन में कहा है–

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्॥ न्याय० 1।1।11॥

अर्थात् चेष्टा का तथा इन्द्रियार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न सुख-दुःख के भोग का आश्रय शरीर है। बिना शरीर के इन्द्रियाँ भोग का साधन नहीं हो सकतीं। वात्स्यायन मुनि कहते हैं–

यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्त्तन्ते स एषामाश्रयः तच्छरीरम्।

अर्थात् इन्द्रियाँ शरीर के आश्रय से ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। और उन शरीरस्थ नेत्रादि स्थलों के दूषित होने पर प्रवृत्त नहीं होतीं। अतः स्पष्ट है कि यहां दर्शनकार का अभिप्राय इन्द्रियों के स्थान विशेषों को ही भौतिक कहने से है।

किन्तु सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत जन्म-जन्मान्तरों में जो पांच ज्ञानेन्द्रियां मानी गई हैं, उनकी रचना पञ्चमहाभूतों से नहीं, प्रत्युत अहंकार से ही होती है। अतः सांख्य और न्याय दर्शन का परस्पर विरोध नहीं आता और इन्द्रियों के विषय में न्याय दर्शन में आगे प्रश्नोत्तर रूप में एक लम्बा विवाद दिया है। जिसकी कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं–

अथेदानीमिन्द्रयाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते–किमव्यक्तिकानि? आहोस्विद् भौतिकानि? (वात्स्या० भाष्य) अर्थात् क्या इन्द्रियां अव्यक्ति अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं, अथवा पृथिव्यादि भूतों से उत्पन्न हुई हैं? यह संशय कैसे हुआ?

कृष्णासारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चानुपलम्भात् संशयः॥

न्याय० 3।1।30

अर्थात् कृष्णासार=नेत्रगोलक कनीनिका के होने पर रूप उपलब्ध होता है, और उसके दूषित होने पर रूप उपलब्ध नहीं होता। अतः अन्वयव्यतिरेक न्याय से भौतिक कृष्णसार ही नेत्रेन्द्रिय है। और अभौतिक पक्ष इसलिए है कि संयुक्त होकर ही इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण कराती हैं, अन्यथा कुड्यादि से व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष होना चाहिए। परन्तु इन्द्रियों से दूरस्थ पदार्थ का ग्रहण होता है, इन्द्रियाँ अभौतिक होनी

चाहिएँ।

महदणुग्रहणात्। न्याय० 3।1।31॥

इन्द्रियां अभौतिक हैं क्योंकि इन्द्रियों से महान् से महान् वट (बड) पर्वतादि तथा छोटे से छोटे वट-बीजादि का भी ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक चक्षुरादि तो अपने परिमाण के अनुसार ही वस्तु का ग्रहण करा सकती हैं उससे बड़ी या छोटी का नहीं, किन्तु अभौतिक सबको ग्रहण करा सकती हैं। इसका समाधान निम्न सूत्र से किया है।

रश्म्यर्थसंनिकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्।। न्याय० 3।1।32॥

अर्थात् इन्द्रियाँ अभौतिक नहीं हैं। दीपक की रश्मि=किरण की तरह चक्षुरश्मियाँ भी संयोगविशेष से महद् या अणु वस्तुओं का ग्रहण कराती हैं। जैसे दीपक रश्मि आवरण युक्त पदार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता, वैसे ही चक्षु रश्मि भी कुड्यादि से ढकी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं करा सकती। अतः इन्द्रियां प्रदीप रश्मि की तरह भौतिक हैं।

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः।। न्याय० 3।1।38॥

इन्द्रियाँ आवरण होने पर पदार्थों का ग्रहण नहीं करातीं, क्योंकि यह भौतिक पदार्थों का धर्म है।

इस प्रकार एक लम्बे विवाद के बाद न्याय दर्शनकार का निर्णय यही है कि इन्द्रियां भौतिक हैं। किन्तु समस्त विवाद में शरीराश्रय से भोग के साधन इन्द्रियों पर ही विचार किया गया है। सांख्य तथा न्याय की मान्यताओं में यह कोई मौलिक भेद नहीं है। क्योंकि सांख्य में इन्द्रियों की मूल उत्पत्ति पर विचार किया है और न्याय में भोगसाधन इन्द्रियों पर विचार किया है। इन्द्रियाँ शरीराश्रय से ही भोग करा सकती हैं। इसीलिए न्याय० 1।1।12 सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने लिखा है– 'त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचारः स्थानात्' अर्थात् त्वगादि इन्द्रियों का शरीरस्थ स्थानों में गौण व्यवहार है।

मन ही आत्मा क्यों नहीं?

न्याय दर्शन में 3।1।16 सूत्र में प्रथम यह पूर्वपक्ष रखा है कि देहादि संघात से भिन्न कोई 'आत्मा' नहीं है। क्योंकि आत्मा के साधक जो भी हेतु हैं, वे तो मन में ही सम्भव हैं। जैसे 'यमद्राक्षं तं स्पृशामि' जो मैंने देखा था उसको ही छू रहा हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा ही देहादि से भिन्न आत्मा को सिद्ध करती है। किन्तु यह तो मन में भी सम्भव है क्योंकि मन भी एक है। इसका उत्तर न्याय दर्शनकार देते हुए लिखते हैं–

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्।। न्याय० 3।1।17॥

ज्ञान के साधनों के विना ज्ञानक्रिया का सम्भव नहीं है अतः ज्ञाता आत्मा को ज्ञान के साधनों की परमावश्यकता होती है। जैसे रूपादि ज्ञान का कारण चक्षुरादि इन्द्रियां हैं, वैसे ही सुखादि ज्ञान का साधन मन है। यदि आप 'आत्मा' के लिए 'मनः' शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं, और 'मनः' के लिए अन्तः करण कोई अन्य है, तब तो संज्ञाभेद मात्र ही हुआ, कोई पदार्थभेद नहीं। और यदि आत्मा से भिन्न अन्तःकरण मन की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, तब तो।

'सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यते'। (वात्स्यायन भाष्य)

रूपादि ग्रहण के साधन चक्षुरादि को भी मानने की क्या आवश्यकता है? किंतु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है अतः ज्ञाता तथा ज्ञान के साधनों के भिन्न भिन्न होने से मन (अन्तःकरण) आत्मा से भिन्न है।

नियमश्च निरनुमानः। न्याय० 3।1।18॥

यदि यह कहा जाए कि रूपादि विषयों के ग्रहण के साधन चक्षुरादि तो हैं, किन्तु 'मन' नहीं है, तो इसमें कोई अनुमान नहीं है! जैसे चक्षु से गन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता, करणान्तर घ्राण की सत्ता माननी पड़ती है वैसे ही चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों से सुख-दुःखादि का ग्रहण नहीं होता। अतः करणान्तर मानना पड़ता है, जिसका नाम 'मन' है।

प्रति शरीर में मन एक है–

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः।। न्याय० 3।1।58॥

यदि प्रत्येक शरीर में अनेक मन होते तो उनका अनेक इन्द्रियों के साथ युगपत् संयोग होने से अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक क्षण में या एक समय में एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है, इससे स्पष्ट है कि एक शरीर में एक ही मन है।

(प्रश्न) न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः।। न्याय० 3।2।59॥

प्रत्येक शरीर में एक मन की बात ठीक नहीं है। जैसे मन के बिना ज्ञान का सम्भव नहीं, वैसे ही मन के विना क्रिया सम्भव नहीं है। किन्तु एक साथ अनेक क्रियाएँ उपलब्ध होती हैं, अतः एक शरीर में अनेक मन मानने चाहिएं। जैसे–

'अयमध्यापकोऽधीते व्रजति कमण्डलुं धारयति पन्थानं पश्यति शृणोत्यारण्यजान् शब्दान्' अर्थात् यह अध्यापक पढ़ता है, जाता है, कमण्डलु को धारण करता है, देखता है, वन्य पशुओं के शब्द सुनता है। इस वाक्य में पठनादि क्रियाएँ बिना क्रम

के एक साथ हो रही हैं, अतः प्रति शरीर में अनेक मन मानने चाहिएं।

(उत्तर) अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसंचारात्॥

न्याय० 3।2।60॥

जिस काष्ठ में दोनों तरफ अग्नि लगी हो, उसे 'अलात' कहते हैं। और जब उसे वेग से घुमाया जाए, तब चक्र की भांति दिखाई देता है।शीघ्रता के कारण दोनों किनारों का क्रम परिलक्षित नहीं होता। यथार्थ में क्रम अवश्य होता है। वैसे ही क्रिया तथा ज्ञानों में भी एक पूर्वापर का क्रम अवश्य होता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रहण में पर्याय से क्रम होता है किन्तु शीघ्रता के करण क्रम परिलक्षित नहीं होता। अतः एक समय में अनेक क्रिया या ज्ञान न होने से मन प्रत्येक शरीर में एक ही है, अनेक नहीं।

मन का कार्यक्षेत्र शरीरान्तर्गत ही है–

न अन्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः॥ न्याय०3।2।26॥

शरीर से बाहर आत्मा के संस्कार विशिष्ट प्रदेशों से मन का संयोग नहीं होता, क्योंकि मन का कार्यक्षेत्र शरीर के अन्दर ही है। इस पर पूर्व पक्षी कहता है–

साध्यत्वादहेतुः॥ न्याय० 3।2।27॥

सिद्ध ही हेतु होता है, साध्य नहीं। मन का अन्तः-शरीर वृत्तित्व साध्य होने से हेतु नहीं। इसका समाधान करते हैं कि–

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः॥ न्याय० 3।2।28॥

यह जीवात्मा किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा से मन को स्मरणव्यापार में लगाता है, और जब तक स्मृति नहीं आती, तब तक मन को लगाए रखता है। मन के ये कार्य शरीर के अन्दर आत्मसंयोग से ही सम्भव हैं। आत्मा और मन के संयोग से दो प्रकार का प्रयत्न होता है–शरीर का धारण करना और मन को प्रेरणा करना। यदि मन की शरीर से बाहर भी गति होती हो तो शरीरधारक प्रयत्न के अभाव में जीवित शरीर का गुरु होने के कारण पतन हो जाना चाहिए। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि मन शरीरान्तर्गत ही कार्य करता है। इस पर पूर्वपक्षी कहता है–

न तत् आशुगतित्वान् मनसः॥ न्याय० 3।2।29॥

मन आशुगति वाला है। वह शरीर से बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर कार्य करता है। वह शरीर से जब बाहर होता है तब शरीर का गुरुत्व होने के कारण पतन क्यों नहीं होता। इसका उत्तर स्पष्ट है कि द्रुतगति वाला होने से शीघ्र ही आत्मा से सम्पर्क कर लेता है। अतः शरीर से बाहर भी मन का क्षेत्र मानने पर कोई दोष नहीं

आता। इसका उत्तर देते हैं–

न स्मरणकालानियमात्।। न्याय० 3।2।30॥

मन के आशुगतिक होने पर भी शरीरधारण सम्भव नहीं हो सकता। यदि मन का क्षेत्र शरीर से बाहर भी माना जाए। क्योंकि 'स्मरणकालस्य अनियमात्' स्मरण काल के निश्चित न होने से। सब की स्मृति शीघ्र ही हो जाती हो, तब तो पूर्वपक्षी की बात सम्भव भी थी, किन्तु बाहर भी किसी की स्मृति चिर से होती है, किसी की चिरतर, और किसी की चिरतम। चिरतम स्मृति वाली वस्तु के लिए मन चिर पर्यन्त शरीर से बाहर रहने पर शरीरधारक प्रयत्न के अभाव में शरीर का पतन हो जायेगा। अतः शरीर से बाहर गमन मन का कदापि मान्य नहीं हो सकता।

और यह शरीर भोग का आश्रय है। स्मृति भी योग्य है। स्मृति को भी शरीर के अन्दर ही मानना अत्यावश्यक है। यदि शरीर से बाहर भी आत्मा व मन का संयोग सम्भव हो और स्मृति भी हो सके तो शरीर भोगायतन है, यह पक्ष त्रुटिपूर्ण हो जायेगा क्योंकि भोग तो शरीर से बाहर भी होने लगेगा। अतः मन का शरीर से बाहर गमन कदापि सम्भव नहीं है।

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः।। न्याय० 3।2।31॥

शरीर से बाहर गए मन का शरीरान्तर्गत आत्मा के साथ संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि मन की गति तीन प्रकार से ही सम्भव है–आत्मा की प्रेरणा से, यदृच्छा से (आकस्मिक) अथवा ज्ञाता से (ज्ञान विशिष्ट होने से)। आत्म प्रेरणा संकल्प से ही सम्भव है। शरीर से बाहर मन से आत्मा का संयोग कदापि नहीं हो सकता। यदृच्छा से भी मन की प्रेरणा नहीं हो सकती। क्योंकि यह नियम है कि कार्यमात्र सकारण होता है, निष्कारण नहीं। और ज्ञाता से भी प्रेरणा नहीं हो सकती, क्योंकि मन ज्ञानविशिष्ट नहीं है। अतः मन की शरीर से बाहर गति सम्भव नहीं है।

न्याय दर्शन 3।2।61 सूत्र पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–**मनसः खनु भोः सेन्द्रियस्यशरीरे वृत्तिलाभो नान्यत्र शरीरात्।**

अर्थात् मन शरीर में रहता हुआ ही इन्द्रियों से विषयोपलब्धि करता है, शरीर से बाहर नहीं। अत एव 'मन' को अन्तःकरण शास्त्रों में कहा गया है। यदि यह बाहर तथा भीतर दोनों स्थानों पर कार्य कर सकता, तो अन्तःकरण नाम ही सार्थक नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि मन का कार्यक्षेत्र शरीर में ही है, बाहर नहीं।

मन चेतन नहीं–

मन आत्मा के अधीन न होने से स्वभावतः स्वतन्त्र नहीं है। आत्मा चेतन द्रव्य है। मन चेतन है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दर्शनकार कहते हैं–

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः॥

(न्याय० 3।2।40)

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुखदुःख-ज्ञान आत्मा के लिंग कहे हैं, अतः ये मन, शरीर तथा इन्द्रियों के लिंग नहीं हो सकते। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–

परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु।
प्रयत्नवशात् प्रवर्त्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युः॥

भूत=शरीर, इन्द्रिय तथा मन जीवात्मा के आधीन हैं। आत्मा की प्रेरणा से धारणादि क्रियाओं के लिए मनादि की प्रवृत्ति होती है। यदि ये चेतन होते तो स्वतंत्र होते और जीवात्मा को प्रेरणा के बिना कार्य करते और अकृताभ्यागम अर्थात् अन्त के किए कर्म का अन्य भोक्ता नहीं हो सकता। यदि मनादि चेतन हों तो, इनके कर्मों का सुखदुःखादि फल आत्मा क्यों भोगे? अतः मन को चेतन मानने पर अकृताभ्यागम दोष भी प्राप्त होता है। मनादि को अचेतन मानने पर तो ये जीवात्मा के साधन हैं। और साधनों से किये कार्य का फल कर्त्ता ही भोगता है। जैसे कोई तलवार से किसी को मार देता है, तो उसका दण्ड मारने वाले को ही मिलता है, तलवार को नहीं। अतः मन अचेतन द्रव्य है।

मन का गुण ज्ञान नहीं–

ज्ञान आत्मा का गुण है, मन का नहीं। इस बात की सिद्धि करते हुए दर्शनकार लिखते हैं–

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः॥ न्याय० 3।2।19॥

एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना ही मन का लिंग है। युगपत् ज्ञेय की अनुपलब्धि से अनुमान होता है कि अंतःकरण=मन ज्ञान का कारण है। ज्ञान मन का गुण नहीं। यदि ज्ञान मन का गुण हो, तो समस्त शरीर में होने वाले सुखादि के ज्ञान के लिए मन को विभु मानना पड़ेगा। और विभु मन का सब इन्द्रियों से युगपत् सम्बनध होने से युगपत् ज्ञान होने लगेंगे। और मन अणु है, युगपत् ज्ञान होना प्रत्यक्ष विरुद्ध है, अतः ज्ञान आत्मा का ही गुण है, मन का नहीं।

इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–

वशी ज्ञाता, वश्यं करणम्। ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः। घ्राणादिसाधनस्य च ज्ञातुर्गन्धादिज्ञानभावादनुमीयते अन्तःकरणसाधनस्य सुखादिज्ञानं स्मृतिश्चेति।

अर्थात् ज्ञान ज्ञाता=आत्मा का गुण है, क्योंकि ज्ञात ही वशी है और करण कर्त्ता

के वश्य होता है। यदि मन का ज्ञान गुण माना जाए, तो वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। जैसे घटोत्पादनादि क्रिया कर्त्ता की ही होती है, दण्डादि की नहीं, वैसे ज्ञान क्रिया भी ज्ञाता आत्मा का ही होती है। जैसे घ्राणादि इन्द्रियां जिसके साधन हैं, उस ज्ञाता=आत्मा को ही गन्धादि का ज्ञान होता है, उससे अनुमान होता है–वैसे ही अन्तःकरण=मन के साधन होने से आत्मा को सुखादि का ज्ञान तथा स्मृति होती है। अतः मन ज्ञान साधन है, ज्ञान गुण वाला नहीं।

स्मृति के कुछ मुख्य कारण–

स्मृति मन का गुण है। यह स्मृति किन 2 कारणों से उत्पन्न होती हैं, उनमें से कुछ सत्ताईस कारण दर्शनकार ने (न्याय ० 3।2।43। सूत्र में) इस प्रकार गिनाए हैं–

(1) प्रणिधानम्=स्मरण करने की इच्छा से मन को एकाग्र करना।

(2) निबन्ध=एक ग्रन्थ में क्रम से वर्णित विषयों में से अन्य को स्मरण करना।

(3) अभ्यासः=एक ही पदार्थ का बार-2 चिन्तन करना।

(4) लिंगम्=यह चार प्रकार का होता है–संयोगी, समवायी, एकार्थ समवायी, और विरोधी। संयोगी=जैसे अग्नि-धूम के संयोग सम्बन्ध को जानकर, धूम को देखकर अग्नि को स्मरण करना। समवायी अवयव को देखकर अवयवी को स्मरण करना। एकार्थ समवायी=जैसे रूप व स्पर्श किसी में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, तो एक को देखकर दूसरे का स्मरण होना। विरोधी=अभूत (भावी) दुःखादि से भूत का स्मरण होना।

(5) लक्षणम्=पशु आदि के चिह्न को देखकर उसके स्वामी का स्मरण करना।

(6) सादृश्यम्=चित्र को देख कर चित्रवान् का स्मरण करना।

(7) परिग्रहः= स्व (ऐश्वर्य) से स्वामी, या स्वामी से स्व का स्मरण करना।

(8) आश्रयः=ग्रामनायक के आधीन वस्तु की स्मृति।

(9) आश्रितः=आधीन वस्तु से आश्रय=ग्रामनायकादि का स्मरण होना।

(10) सम्बन्ध–अन्तेवासी से गुरु या पुत्र से पिता का स्मरण करना।

(11) आनन्तर्य=इति आदि समाप्ति सूचक शब्दों को देखकर दूसरे का स्मरण होना।

(12) वियोग=वियोगी को देखकर वियुक्त वस्तु का स्मरण करना।

(13) एककार्य=एक वीणा वादक को देखकर दूसरे वीणावादक का स्मरण होना।

(14) विरोध=परस्पर विरोधियों में से एक को देखकर दूसरे का स्मरण होना।

(15) अतिशय=अतिशय जिसकी अपेक्षा हो, उसका स्मरण करना।

(16) प्राप्ति=जिससे कुछ लेना होता है, उसका बार 2 स्मरण करना।

(17) व्यवधान=तलवार की म्यान (कोश) को देखकर तलवार की स्मृति इत्यादि।

(18-19) सुख-दुःख को देखकर उसके हेतु का स्मरण करना।

(20-21) इच्छा व द्वेष से इष्ट या द्विष्ट का स्मरण करना।

(22) भय से जिससे डरता है, उसका स्मरण करना।

(23) अर्थी (याचक)=जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसका स्मरण करना।

(24) क्रिया=कार्य को देखकर कर्त्ता की स्मृति। जैसे रथ को देखकर रथ-रचयिता की स्मृति।

(25) राग जिसके प्रति होता है, उसका स्मरण करना।

(26) धर्म से पूर्वजन्म का स्मरण करना।

(27) अधर्म=पूर्वानुभूत दुःख के साधनों का स्मरण करना।

मन अणु है, विभु नहीं–

मन शरीर में अणु है, मध्यम परिमाण वाला है अथवा विभु है? इस विषय में भी अनेक मतभेद सम्मुख आते हैं। न्याय दर्शन में मन को स्पष्ट रूप से अणु माना है। न्यायदर्शनकार लिखते हैं–यथोक्तहेतुत्वाच्चाऽणु॥ न्याय० 3।2।61॥ यथोक्त हेतु अर्थात् ज्ञान व क्रिया युगपत् न होने से मन अणु है। यदि मन अणु न होता, तो एक क्षण में अनेक इन्द्रियों के साथ संयोग होने से अनेक ज्ञान या क्रियाएं होनी चाहिएं। क्योंकि ऐसा नहीं होता, अतः मन अणु है। इस विषय में अन्यत्र भी प्रसंगवश बुद्धि परीक्षा में मन को एक और अणु मानते हुए लिखा है–

अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः
संयुज्यत इति क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम्॥ न्याय०।3।2।6

अर्थात् मन का संयोग इन्द्रियों के साथ क्रम से होने के कारण युगपत् अनेक ज्ञान व क्रियाएँ नहीं होतीं। अतः मन अविभु=अणु तथा एक है।

विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः॥
न गत्यभावात्॥ न्याय० 3।2।8

यदि अन्तःकरण मन विभु हो तो इन्द्रियों के साथ क्रम से मन का संयोग न हो, किन्तु विभुत्व के कारण सभी इन्द्रियों के साथ संयोग होना चाहिए। और फिर तो अनेक ज्ञान युगपत् होने लगें। किन्तु ऐसा न होने से मन विभु नहीं है, अणु ही है। अणु होने में यह भी प्रबल प्रमाण है कि यदि मन विभु हो, तो विभु की गति सम्भव नहीं है। और सदा ही सभी इन्द्रियों के साथ मन के संयोग हो जाए। और फिर वही दोष आ जायेगा कि युगपत् अनेक ज्ञान होने लगेंगे। किन्तु ऐसा प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं है। अतः मन विभु नहीं है। न्याय के 1।1।16 सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि 'निमित्तान्तरम् अव्यापि (मनः)' कहकर मन को अणु ही मानते हैं, विभु=व्यापक नहीं।

सांख्य-दर्शन में मनोविज्ञान

महर्षि कपिल ने सांख्यदर्शन में मन सम्बन्धी निम्न बातों पर विचार किया है–

(1) मन की उत्पत्ति। (2) मन के विषय में एक भ्रान्ति। (3) बाह्यान्तर भेद से तेरह करण। (4) इन्द्रियों में मन की प्रधानता। (5) बुद्धि का लक्षण और उसके कार्य। (6) अहंकार का लक्षण और उसके कार्य। (7) मन इन्द्रिय है। (8) इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं। (9) इन्द्रियाँ जीवात्मा के करण हैं। (10) अन्तःकरणों का विशेष व सामान्य व्यापार। (11) करणों का व्यापार क्रमिक होता है। (12) समस्त करण पुरुष के अर्थ हैं। (13) मनादि इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं। (14) मनादि का प्रकाशक आत्मा है। (15) अन्तःकरण के सुखादि धर्म नहीं हैं। (16) अन्तःकरण सुषुप्त्यादि का कारण है। (17) अन्तःकरण ज्ञानादि का साधन है। (18) मन की वृत्तियां। (19) मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय। (20) मन की वृत्तियों का स्वरूप। (21) मन सूक्ष्मशरीर का एक घटक है। (22) मन का परिमाण। (23) सूक्ष्म शरीर का परिमाण। (24) अविवेक का आश्रय अन्तःकरण है। (25) क्या मन नित्य है? (26) बुद्धि की प्रधानता। (27) बुद्धि आदि में कर्तृत्व व्यपदेश क्यों?

हमने यहाँ सांख्यदर्शन के मन और मन से सम्बद्ध विषयों का संग्रह किया है। सांख्य के अनुसार मन प्रकृति का विकार होने से जड़ है। मन इन्द्रिय है। सभी एकादश इन्द्रियाँ अहंकार के विकार हैं। मन सूक्ष्मशरीर का एक घटक होने से अणु परिमाण वाला तथा विवेक होने तक जन्म-जन्मान्तरों में पुरुष के साथ जाता है। सांख्य के मत में अन्तःकरण में मन, बुद्धि और अहंकार तीनों को माना है। मन की क्लिष्टाक्लिष्ट पाँच वृत्तियां मानी हैं और उनके निरोध के उपाय भी बताए हैं। 'मनः'

सम्बन्धी इस संग्रह से जहाँ अनेक मिथ्या धारणाएँ मिथ्या सिद्ध होंगी वहाँ पाठक दर्शन के गहन विषय का सरलता से मनन भी कर सकेंगे।

मन की उत्पत्ति–

सांख्यदर्शन में मनादि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कपिल मुनि लिखते हैं–

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्।। सांख्य०।1।61।

अर्थात् सत्त्व, रजस्, तथा तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है, प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से पांच तन्मात्राएँ, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय एवं मन की उत्पत्ति होती है।

इस सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने 'उभयमिन्द्रियम्' से ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त मन का भी ग्रहण किया है, किन्तु दूसरे व्याख्याकार इस बात को नहीं समझ सके। प्रायः सभी टीकाकार 'मन' अन्तरिन्द्रिय का ग्रहण नहीं करते। सांख्यदर्शन के पूर्वापर सूत्रों पर विचार करने से महर्षि दयानन्द की व्याख्या सुसंगत तथा प्रकरणानुकूल है। सूत्रकार ने आगे अहंकार की व्याख्या में लिखा है–

(क) एकादश पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्।। सां० 2।17।

ग्यारह इन्द्रियां, (5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय तथा मन) और पांच तन्मात्राएँ अहंकार के कार्य हैं।

(ख) सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्।। सा०2।18॥

अर्थात् वैकृत अहंकार से सत्त्वप्रधान ग्यारह इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं।

(ग) कर्मेन्द्रिय बुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्।। सां० 2।19॥

अर्थात् 5 कर्मेन्द्रियों तथा 5 ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवां अन्तरिन्द्रिय मन है। मनुस्मृति में भी कहा है–एकादशं मनोज्ञेयम् (मनु० 2।92)

(घ) आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि।। सां० 2।20॥

अर्थात् ये उपर्युक्त ग्यारह इन्द्रियां अहंकार से उत्पन्न होने के कारण भौतिक नहीं हैं।

उभयात्मकं च मनः।। सां० 2।26॥

मन तो दोनों कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों में वृत्तिवाला होने से उभयात्मक कहलाता है।

अतः महर्षि दयानन्द की व्याख्या सांख्य दर्शन की साक्षी से सुसंगत है। और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहंकार के कार्य कौन कौन से हैं। इसी बात को सूत्रकार ने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है–

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य॥ सां० 1।64॥

अर्थात् बाह्येन्द्रिय, आन्तर-इन्द्रियों से तथा पाञ्चतन्मात्राओं से अहंकार का ज्ञान होता है। क्योंकि ये अहंकार के कार्य हैं, अतः अपने उपादान कारण का अनुमान कराते हैं।

मन के विषय में एक भ्रान्ति–सांख्यदर्शन के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हे कि 'मन' अहंकार का कार्य है। किन्तु

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः॥ सां० 1।71॥

अर्थात् प्रकृति का जो प्रथम कार्य महत्तत्त्व है, उसे मन कहते हैं। जैसा कि ऊपर कहा है–'प्रकृतेर्महान्' प्रकृति से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है।

यहां 'मन' को प्रकृति का प्रथम कार्य कहा है। अतः पाठक सन्देह ग्रस्त हो जाता है कि मन क्या है? क्या मन अविकारिणी प्रकृति का कार्य है? अथवा प्रकृति के विकारभूत अहंकार का कार्य है! महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में 'महत्तत्त्व' का अर्थ 'बुद्धि' किया है। इस सूत्र में प्रकृति के प्रथम कार्य महत् को मन कहा है। यहाँ 'मन' से अन्तरिन्द्रिय अर्थ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि वह तो अहंकार का कार्य माना गया है। अतः यहां 'मनः' शब्द का धात्वर्थ के अनुसार 'अवबोधन' निश्चय करना अथवा अध्यवसाय रूप अर्थ लेकर 'बुद्धि' अर्थ ही ठीक है।

बाह्यान्तरभेद से तेरह करण–

करणं त्रयोदशविधिमवान्तरभेदात्॥ सां० 2।38॥

अवान्तरभेद से तेरह प्रकार के करण होते हैं। उनमें बुद्धि, अहंकार, तथा मन अन्तःकरण हैं और नेत्रादि पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वागादि पाञ्च कर्मेन्द्रियाँ, ये दश बाह्य करण हैं।

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत्॥ सां० 2।39॥

जैसे काष्ठादि फाड़ने के लिए कुठार (कुल्हाड़ा) करण होता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी आत्मा के साधकतम होने से करण हैं[1]।

---

1. द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्॥ सां० 2।29॥
   द्रष्टृत्व=द्रष्टापन आदि आत्मा के धर्म हैं और करण=साधन होना इन्द्रियों का धर्म है। आत्मा द्रष्टा है और इन्द्रियां उसके साधन हैं।

इन्द्रियों में मन की प्रधानता–

द्वयोः प्रधानं मनः लोकवद् भृत्यवर्गेषु।। सां०2।40॥

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में उभयवृत्ति वाला मन प्रधान होता है। जैसे लोक में भृत्यों में अप्रधान-प्रधान होते हैं, वैसे ही मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में प्रधान है।

अव्यभिचारात्।। सां० 2।41

इन्द्रियों का कोई भी व्यापार मन के संयोग के बिना नहीं हो सकता। और कोई भी इन्द्रिय मन का त्याग या उल्लंघन नहीं कर सकती। अतः मन प्रधान है।

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात्।। सां० 2।42॥

और मन समस्त संस्कारों का आधार है। इन्द्रियाँ जो भी कर्म करती हैं, उसके सब संस्कार मन में ही स्थान बनाते हैं। अतः मन की मुख्यता है।

स्मृत्याऽनुमानाच्च।। सां० 2।43॥

और स्मृति के अनुमान से भी मन की मुख्यता है। स्मृति बिना संस्कार के सम्भव नहीं है। जैसे कहा है–आत्म-मनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः (वैशे० 9।2।6) संस्कार से स्मृति होती है और संस्कारों का आधार मन है।

सम्भवेन्न स्वतः।। सां० 2।44॥

बिना संस्कार के स्मृति अपने आप सम्भव नहीं है और संस्कार मन के बिना स्थिर नहीं हो सकता। बाह्येन्द्रियों का कार्य तो विषय का प्रत्यक्ष करना ही है। अतः करणों में मन प्रधान है।

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात्।। सां० 2।45॥

तेरह करणों में गौण मुख्यभाव अपेक्षाकृत है। यद्यपि करणत्व सब में समान है, किन्तु विशेष व्यापार से प्रधान-गौण भाव कहा गया है।

तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत्।। सां० 2।46॥

जैसे लोक में किरायादि देकर मोटरादि पुरुष के लिए साधन होते हैं, वैसे ही पुरुष के कर्मों से अर्जित समस्त करणों की प्रकृति पुरुष के अर्थ साधन करने के लिए ही होती है।

समानकर्मयोगे बुद्धेःप्राधान्यं लोकवत्।। सां० 2।47॥

समस्त करण पुरुष के अर्थ साधन कर्म में समान होने पर भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि अर्थात् मन की प्रधानता है। जैसे लोक में राजा का मुख्यमन्त्री दूसरे

सभासदों की अपेक्षा अन्तरंग होने से मुख्य होता हैं, वैसे ही आत्मा के अन्तरंग होने से बुद्धि अर्थात् मन मुख्य है।

बुद्धि का लक्षण और उसके कार्य–

अध्यवसायो बुद्धिः।। सां० 2।13॥

सांख्य में महत्तत्त्व का दूसरा नाम बुद्धि है। यह अध्यवसाय स्वरूप है। अध्यवसाय का अर्थ है–निश्चय। अतः निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।

तत्कार्यं धर्मादि।। सां० 2।14॥

सत्त्वप्रधान बुद्धि के कार्य हैं–धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यादि और–

महदुपरागाद् विपरीतम्।। सां० 2।15॥

शरीर में रजोगुण या तमोगुण से प्रभावित बुद्धि के कार्य धर्मादि से विपरीत हो जाते हैं–अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्यादि।

अहंकार के लक्षण और उसके कार्य–

अभिमानोऽहंकारः।। सां० 2।16॥

इस शरीर में अभिमानवृत्ति को अहंकार कहते हैं। अर्थात् अहंकार का अभिमान करना व्यापार है।

एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्।। सां० 2।17॥

ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाञ्च तन्मात्राएँ अहंकार के कार्य हैं। अर्थात् इनकी उत्पत्ति अहंकार से होती है। सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

चरमोऽहंकारः।। सां० 1।72॥

अहंकार महत्तत्त्व का कार्य है। सूत्र में महत्तत्त्व के बाद अहंकार की उत्पत्ति होने से उसे 'चरम' शब्द से कहा है।

मन इन्द्रिय है–

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्।। सां० 2।19॥

अर्थात् पाञ्च कर्मेन्द्रियों और पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवाँ आन्तर इन्द्रिय मन है।

इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं–सांख्य में लिखा है–

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने।। सां० 2।23॥

इन्द्रियों के रहने के स्थान गोलकादि में इन्द्रिय प्रतीति भ्रान्तों को होती है। क्योंकि इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं। किसी भी इन्द्रिय का स्वयं अथवा किसी दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता।

उभयात्मकं मनः॥ सां० 2।26॥

मन का सम्पर्क ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से होने के कारण मन उभयात्मक है। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध चक्षु आदि का होता है, अतः ये बाह्येन्द्रियां हैं, किन्तु मन बुद्धि, तथा अहंकार का (अन्तःकरण का) बाह्य विषय के साथ सीधा सम्पर्क नहीं होता। स्मृति आदि व्यापारों के समय (आन्तर विषयों में) मन का सीधा सम्बन्ध होने से आन्तर इन्द्रिय है।

इन्द्रियां जीवात्मा के करण हैं–

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्॥ सां० 2।19॥

द्रष्टृत्वादि धर्म आत्मा के हैं, और इन्द्रियाँ आत्मा के करण हैं। जैसे इन्द्रियों का स्वरूप करण (साधन) होना है, वैसे ही जीवात्मा का स्वरूप द्रष्टा, श्रोता, भोक्ता, कर्त्तादि होना है।

अन्तःकरण का विशेष व साधारण व्यापार–

त्रयाणां स्वालक्षण्यम्॥ सां० 2।30॥

महत् (बुद्धि), अहंकार तथा मन इन तीनों अन्तःकरणों का अपना-अपना जो विशेष लक्षण है वही इनका असाधारण व्यापार है अर्थात् बुद्धि का अध्यवसाय करना, अहंकार का अभिमान करना, तथा संकल्प करना मन का विशेष व्यापार है। और

सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ सां० 2।31॥

प्राणापानादि पाञ्च प्राण सभी तेरह करणों का साधारण व्यापार है। अर्थात् शरीर में प्राणापान-व्यान-समान तथा उदान से समस्त करणों की प्रवृत्ति होती है।

करणों का व्यापार क्रमिक होता है–

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः॥ सां० 2।32॥

इन्द्रियों का व्यापार क्रम से तथा बिना क्रम से भी होता है। क्रम का उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए–किसी वस्तु के सम्मुख होने पर चक्षु से उसका आलोचन मात्र होता है, मन उसके विषय में संकल्प करता है, पुनः अहंकार उसके सम्बन्ध की भावना करता है–और अन्त में बुद्धि उसका निश्चय करती है।

और जैसे भ्रान्ति अथवा अंधकार में कोई वस्तु देखी, यह चक्षु का व्यापार है।

तत्पश्चात् मन में संकल्प-विकल्प हुआ कि यह चोर है या और कुछ, यह मन का व्यापार है। पुनः अपने साथ उसके सम्बन्ध की भावना होती है कि इससे मेरी हानि होगी या नहीं? यह अहंकार का व्यापार है। अन्त में बुद्धि के व्यापार से निर्णय कर चोर को पकड़ता है अथवा भाग जाता है, यह इन्द्रियों का क्रमिक व्यापार का उदाहरण है। और जब जंगल में जाते हुए अचानक हिंस्र शेर को देखकर व्यक्ति भाग खड़ा होता है। ऐसे समय चक्षु, मन, अहंकार तथा बुद्धि का व्यापार सहसा प्रतीत होता है। यथार्थ में होता यह भी क्रम से ही है। किन्तु शीघ्रता वश ऐसा आभास है कि इन व्यापारों में कोई क्रम नहीं है।

समस्त करण पुरुष के अर्थ–

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात्।। सां० 2।36॥

अन्तःकरण तथा बाह्यकरण पुरुष के प्रयोजन के लिए हैं और पुरुषों के कर्म (अदृष्ट) का भोग कराते हैं।

धेनुवद् वत्साय।। सां०।2।37॥

जैसे गाय बछड़े के लिए दूधस्राव के लिए प्रवृत्त होती है, वैसे ही करण पुरुष के प्रयोजन के लिए प्रवृत्त होते हैं।

मनादि इन्द्रियां भौतिक नहीं हैं–

(क) न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः।। सां० 5।84॥

मनादि इन्द्रियाँ पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न नहीं होतीं क्योंकि ये सब अहंकार से उत्पन्न होती हैं। जैसा कि कहा भी है–'एतस्माज्ज्ञायते प्राणो मनःसर्वेन्द्रियाणि च'। (मुण्डको० 2।1।3)

(ख) न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः।। सां० 5।109

(प्रक्षेप सू. 26)

शरीर भेद होने पर भी या मनुष्य से भिन्न शरीरों में भी इन्द्रियों का उपादान कारण अहंकार ही है, इससे भिन्न दूसरा नहीं। जैसे इस जन्म में हमारी इन्द्रियों का अहंकार कारण है, वैसे ही दूसरे जन्मों में भी।

(ग) निमित्तव्यपदेशात् तद् व्यपदेशः।। सां० 5।110 (प्रक्षेप सू. 27)॥

अन्य दर्शनकार जैसे न्याय में (न्याय० 1।1।12) घ्राण रसन...भूतेभ्यः, इन्द्रियों को भूतों का कार्य माना है, वह इन्द्रियों के द्वारा उस-उस पृथिवी आदि गुणों को ग्रहण करने के कारण ही कहा गया है। यथार्थ में इन्द्रियां भूतों का कार्य नहीं हैं।

(घ) आहंकारित्वश्रुतेर्न भौतिकानि॥ सां० 2।20॥

इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से होती है, पृथिव्यादि भूतों से नहीं।

इन्द्रियां विषय को ही प्रकाशित करती हैं–

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा॥

सां० 5।104 (प्रक्षेप सू. 21)॥

इन्द्रियाँ अप्राप्त का प्रकाश नहीं करती हैं। जो अप्राप्त अथवा दूरस्थ शब्द या रूप को प्रकाशित करती हैं, ऐसी प्रतीत होती है, वह यथार्थ नहीं। यदि यह मान लिया जाए कि इन्द्रियाँ अप्राप्त को भी प्रकाशित करती हैं, तो सब स्थानों तथा सब कालों के विषयों की प्राप्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा न होने से इन्द्रियां प्राप्त को ही प्रकाशित करती हैं।

मनादि का प्रकाशक आत्मा है–

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः॥ सां० 6।50॥

पुरुष (जीवात्मा) जड़ से भिन्न चेतन स्वरूप है, और वह जड़ अन्तः करण को प्रकाशित करता है, अतः जो भी ज्ञानेन्द्रिय तथा मनादि में ज्ञान का प्रकाश प्रतीत होता है, वह आत्मा के कारण है, स्वतः नहीं।

मन (अन्तःकरण) के सुखादि धर्म नहीं–

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे॥ सां० 1।17॥

सुखादि भोगों को आत्मा से भिन्न मनादि का धर्म मानने पर संसार में विविध भोग न हो सकें। संसार में देखा जाता है कि कुछ प्राणी बहुत सुखी हैं, और कुछ महा दुःखी हैं। यदि अन्य के किए कर्म का फल अन्य भोगने लगे, तो संसार में उपलब्ध विचित्रता नहीं मिल सके। अतः स्पष्ट है, कि सुखादि मन के धर्म नहीं हैं, प्रत्युत सुखादि भोगने में आत्मा के मनादि साधन हैं। 'चिदवसानो भोगः' (सां० 1।104) सूत्र के अनुसार भी सुखादि का भोग चेतनात्मा ही करता है।

अन्तःकरण सुषुप्ति आदि का कारण है–

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्॥ सां० 1।148॥

सुषुप्ति आदि दशा में जीवात्मा साक्षी होता है। अन्यथा मैं सुख से सोया इत्यादि प्रतिभान न हो सके। किन्तु सुषुप्ति दशा में अन्तःकरण का व्यापार होता है। यह अंतःकरण की वृत्ति सुषुप्त दशा में आत्मा के सान्निध्य से व्यापार करती है यथार्थ में बाह्येन्द्रियों के तमोगुण के आवृत होने तथा कार्योन्मुख न होने का नाम ही सुषुप्ति है।

अन्तःकरण ज्ञानादि का साधन है–

ज्ञानादि की अनुभूति अन्तःकरण को नहीं होती। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं–

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्॥ सां० 1।99॥

जैसे लोहे में अग्नि के सम्पर्क होने पर दाहकता की प्रतीति होती है, यथार्थ में दाहक गुण अग्नि में होता है, लोहे में नहीं। वैसे चेतनात्मा के सम्पर्क से जड़ अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। अर्थात् आत्मा के सम्पर्क से ही अन्तःकरण में ज्ञानादि के ग्रहण का सामर्थ्य प्राप्त होता है, स्वतः नहीं। क्योंकि अन्तःकरण अचेतन है।

मन की वृत्तियाँ–

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च॥ सां० 2।33॥

मन की पाञ्च प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति। इनके दो भेद हैं–क्लिष्ट अर्थात् क्लेश देने वाली और अक्लिष्ट=अर्थात् क्लेश न देने वाली। जीवात्मा इनके द्वारा ही सुख व दुःख भोगता है।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः॥ सां० 2।34॥

अर्थात् मन की इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष का उपराग शान्त हो जाता है और वह पुरुष स्वस्थ=शुद्धान्तःकरण वाला हो जाता है।

योगदर्शन में (योग० 2।6) भी अविद्यामूलक तथा संसाराभिमुख वृत्तियों को क्लिष्ट और उनसे भिन्न वृत्तियों को अक्लिष्ट माना है। इनकी व्याख्या भी योग के अनुसार ही समझनी चाहिए। अतः योगदर्शन के प्रकरण में इनकी व्याख्या की गई है।

मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय–

(1) धारणाऽऽसनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः॥ सां० 3।32॥

मन की वृत्तियों का निरोध धारणा से, आसन से, तथा स्वकर्म से होता है। इन निरोध के उपायों की व्याख्या निम्न है–

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्॥ सां० 3।33॥

मन की वृत्तियों का निरोध प्राण के छर्दि=वेग से वमन की तरह निकालने और रोकने से होता है। इसे ही निरोध=धारणा कहते हैं। सूत्र में निरोध शब्द धारणा का वाची है।

स्थिरसुखमासनम्॥ सां० 3।34॥

जिसमें शरीर का स्थिर सुख हो, वैसा चेष्टा रहित शरीर सुख का सम्पादक 'आसन' कहाता है।

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्॥ सां० 3।35॥

स्वकर्म वह है कि जो अपने-अपने आश्रमों के लिए कर्त्तव्यकर्मों का विधान है, उनका अनुष्ठान करना।

(2) वैराग्यादभ्यासाच्च॥ सां० 3।36॥

मन की वृत्तियों का निरोध वैराग्य और अभ्यास से होता है। वैराग्य का अर्थ है–ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् (यो० 1।16 व्यास०) अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा=अन्तिम सीमा को वैराग्य कहते हैं। वैराग्य से (सांसारिक विषयों के दोषदर्शन और ज्ञान प्रसाद से) तथा ध्यानाभ्यास से वृत्तियों का निरोध होता है।

मन की वृत्तियों का स्वरूप–

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति। सां० 5।107॥

इन्द्रियवृत्ति इन्द्रिय का न तो भाग है और न गुण, किन्तु भाग और गुणों से भिन्न वस्तु है। दूरस्थ विषय के प्रति इन्द्रियों की वृत्ति सम्बन्धार्थ विद्युत्-रश्मि की भांति सर्पित होती है। क्योंकि इन्द्रियों का भाग या गुण दूर सर्पित नहीं हो सकता। ये वृत्तियाँ विषय-प्राप्ति कैसे करती हैं–

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद् वृत्तिसिद्धिः॥ सां० ।4।106॥

इन्द्रियों की वृत्तियाँ प्राप्तव्य विषयों को प्रकाशित करती हैं। इस लिङ्ग से वृत्तियों की सिद्धि होती है।

(सां० 5।107) सूत्र में वृत्ति को इन्द्रियों का भाग व गुण से भिन्न माना है, तो वह विशिष्ट क्रिया होगी। क्या क्रिया द्रव्य से पृथक् होकर भी रह सकती है? इसका उत्तर देते हैं–

न द्रव्ये नियमस्तद्योगात्॥ सां० 5।108॥

क्रिया द्रव्य में ही रहे, यह नियम नहीं है। क्रिया द्रव्य में भी रहती है। किन्तु द्रव्य के योग से द्रव्य से बाहर भी दूरस्थ पदार्थ तक अपसर्पित होती है। जैसे सूर्य की तापक्रिया सूर्य में स्थित होकर भी दूर, दूरतर तथा दूरतम अपसर्पित होती हैं, वैसे ही वृत्ति इन्द्रियों से पृथक् भी व्यापार करती है।

मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है–

सप्तदशैकं लिङ्गम्॥ सां० 3।9॥

सत्रह घटकों का लिङ्ग=सूक्ष्म शरीर होता है। अर्थात्–पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और पाञ्च सूक्ष्मभूत (तन्मात्राएँ) ये 17 घटक सूक्ष्म शरीर के हैं।

इस लिङ्ग शरीर का एक देह से दूसरे देह में भी संसरण होता है–

पुरुषार्थं संसृतिर्लिंगानां सूपकारवद्राज्ञः॥ सां० 3।16॥

लिङ्ग=सूक्ष्म शरीर रूपकरणों का संसरण पुरुष के लिए होता है। यह संसरण आदिसर्ग से बराबर पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के निमित्त होता रहता है। जैसे पाचक राजा के लिए भोग की सामग्री जुटाता है, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भोग के साधनों को प्रस्तुत करता है।

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम्॥ सां० 3।6॥

सर्वकाल में आत्मा दोनों प्रकार के शरीरों (सूक्ष्म तथा स्थूल) से आबद्ध रहता है। आदिसर्ग काल से प्रलय पर्यन्त सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध बना रहता है और प्रतिजन्म में स्थूल शरीर बदलता रहता है।

मातापितृजं स्थूलं प्रायशः, इतरन्न॥ सां० 3।7॥

यह स्थूल शरीर माता पिता के संयोग से उत्पन्न होता है, दूसरा सूक्ष्म शरीर नहीं। सूत्र में 'प्रायशः' पद इसलिए पढ़ा है कि आदि सृष्टि में अयोनिज प्राणि-सृष्टि होती है।

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम्॥ सां० 3।4॥

अविशेष=सूक्ष्मभूतों से घटित सूक्ष्मशरीर विवेकज्ञान होने तक (मुक्ति तक) संसरण करता रहता है। और विवेकज्ञान होने पर यह संसरण समाप्त हो जाता है। अर्थात् मुक्ति में यह नहीं रहता।

तद् बीजात् संसृतिः॥ सां० 3।3॥

आत्माओं का देहान्त में संसरण तद् बीजात्=सूक्ष्मशरीर से होता है। स्थूल शरीर यहीं नष्ट हो जाता है, पर सूक्ष्म शरीर आत्मा को आवेष्टित किए बराबर उसके साथ बना रहता है।

वस्तुस्थिति यह है कि 17 तत्त्वों से घटित सूक्ष्मशरीर आदि सर्गकाल से प्रत्येक आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है और उसका सम्बन्ध प्रलय आने तक अथवा मोक्ष जब तक न हो, तब तक बना रहता है। तत्त्वज्ञान यदि बीच में भी हो

जाए, तो इस सूक्ष्मशरीर से भी छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार संसार की अति प्रलम्ब महायात्रा पर चले हुए आत्मा का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से बराबर बना रहता है। आत्मा इस सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है।

सांख्य के उपर्युक्त सूक्ष्मशरीर के विवेचन से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में जो कुछ सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध लिखा है, वह सब सांख्य का सिद्धान्त है। और इस सूक्ष्मशरीर के 17 घटक सूक्ष्म भूतों से निर्मित होते हैं, उनका विनाश वर्त्तमान शरीर के साथ नहीं होता।

इसीलिए यजुर्वेद के शिवसंकल्प सूक्त में मन को 'अमृत' कहा गया है। 'अमृत' का अभिप्राय शरीर के साथ नष्ट नहीं होना ही है। अतः जिन विद्वानों ने इसके विरुद्ध लिखा है अर्थात् कुछ मन को आत्मा की शक्ति मानते हैं, और कुछ यह भी कहते हैं कि मरने के बाद प्राकृतिक कोई वस्तु आत्मा के साथ नहीं जाती, वे सब भ्रान्ति में ही हैं। उन्हें सांख्यदर्शन के सूत्रों पर पुनः विचार करना चाहिए। सांख्यदर्शन में बहुत ही स्पष्ट कहा है–

उपभोगादितरस्य॥ सां० 3।5॥

अर्थात् सूक्ष्मशरीर से भिन्न स्थूल शरीर आत्मा के उपभोग के लिए होता है। अर्थात् स्थूल शरीर के बिना भोग नहीं हो सकता। किन्तु दूसरा 17 तत्त्वों का सूक्ष्म-शरीर आत्मा के जन्म-जन्मान्तरों में साथ रहता है। क्या सूक्ष्म-शरीर से ही धर्माधर्म कर्मफल का भोग नहीं हो सकता? इसका उत्तर सांख्यदर्शन में यह दिया है–

न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च॥ सां० 3।12॥

स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्मशरीर से स्वतंत्ररूप से कर्म-फल का भोग नहीं हो सकता। जैसे छाया या चित्र बिना आश्रय के नहीं रह सकता वैसे ही स्थूल शरीर के बिना कर्म-फल का भोग नहीं हो सकता। और–

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्॥

सां० 5।103॥

स्थूलशरीर में सूक्ष्मशरीर नहीं है, अथवा यह स्थूल शरीर ही है, यह सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि-आतिवाहिक=एक देह से दूसरे देह की प्राप्ति में निमित्त सूक्ष्म शरीर भी अवश्य है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर के बिना निराश्रित जीवात्मा एक देह से दूसरे देह में जाने में समर्थ नहीं होता[1]।

---

1. सूक्ष्म शरीर के 17 घटक हैं, या 18, इस विषय में टीकाकारों का परस्पर मतभेद है। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' में 17 घटकों का सूक्ष्मशरीर माना है। उसमें अहङ्कार को पृथक् नहीं माना है। साख्यदर्शन के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी सूक्ष्मशरीर के 17 घटक ही

मन का परिमाण–

मन अणु परिमाण वाला है, इसको बताते हुए सांख्यदर्शनकार लिखते हैं–

अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः॥ सां० 3।14॥

क्योंकि मन की उत्पत्ति शब्दप्रमाण से सिद्ध है। और वह मन अणु परिमाण वाला है।

इस सूत्र का अर्थ (सूक्ष्म शरीरपरक) भी टीकाकारों ने लगाया है। यदि यह अर्थ भी माना जाए, तब भी मन व्यापक सिद्ध नहीं होता। अणु शरीर का एक घटक 'मन' विभु कदापि नहीं हो सकता।

यदि मन को महापरिमाण अथवा विभु माना जाए तो एक साथ सब इन्द्रियों के साथ संयोग होने से युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिए, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। इस प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मन को अणु परिमाण वाला अपेक्षाकृत ही कहा गया है। क्योंकि कार्यतत्त्व-परिमाण अपने मूल कारण की समानता नहीं कर सकता। जगत् के मूल उपादानतत्त्व–सत्त्व रजस् तमस् अत्यन्त सूक्ष्म हैं। मन का परिमाण उनकी अपेक्षा अवश्य कुछ स्थूल है। क्योंकि मन उनका कार्यद्रव्य है। तन्मात्राओं एवं अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा से ही मन को अणु समझना चाहिए।

मन के अणु होने की पुष्टि सांख्य में अन्यत्र भी की है–

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा
वास्यादिवच्चक्षुरादिवत्॥ सां० 5।65॥

मन की व्यापकता कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि कोई भी करण (किसी वस्तु का साधन) अथवा इन्द्रिय एकदेशी अथवा परिच्छिन्न ही हो सकते हैं, व्यापक (विभु) नहीं। मन भी अन्तःकरण है, वास्यादि (तक्षक का एक साधन बसूला) के

बताए हैं। अहङ्कार को बुद्धि के ही अन्तर्गत माना है। वैदिक विद्वान् श्री स्वामी हरि प्रसाद ने भी 17 घटक माने हैं। सांख्यदर्शन के सूत्रार्थ के अनुसार भी 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' सूक्ष्मशरीर के 17 घटक ही सिद्ध होते हैं। श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने इस सूत्र के अर्थ में 'एकं लिङ्गम्' से महत्तत्व (बुद्धि) अर्थ लिया है। उनका कथन है कि महत्तत्त्व के प्रधान होने से पृथक् निर्देश किया गया है। उन्होंने 'लिङ्ग' का अर्थ महत्तत्त्व माना है। किन्तु इस अर्थ को मानने पर 'सूक्ष्मशरीर' किस पद का अर्थ होगा। इस पर स्वामी जी ने विचार नहीं किया। और सूत्रकार की शैली के अनुसार भी सत्रह घटक ही सिद्ध होते हैं, अन्यथा 'सप्तदशैकं च लिङ्गम्' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए था। अतः महर्षि दयानन्द ने सांख्य के अनुसार ही 17 घटक माने हैं। उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। ले०

समान अथवा मन इन्द्रिय है, चक्षुरादि के समान। मन की परिछिन्नता की पुष्टि के लिए सूत्रकार और भी कहते हैं–

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः॥ सां० 5।66॥

वैदिक साहित्य में मन की गति का वर्णन है। जैसे यजुर्वेद में कहा है–(यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्। (यजु० 34।1) 'गच्छतीव मनः' केनो० 4।5। इत्यादि स्थानों पर मन को क्रिया वाला कहा गया है। क्रियायुक्त वस्तु कदापि व्यापक नहीं हो सकती।

सूक्ष्म-शरीर का परिमाण–

अणु-परिमाणं तत् कृतिश्रुतेः॥ सां० 3।14॥

लिङ्गशरीर (सूक्ष्म-शरीर) अणु-परिमाण वाला है। उसकी कृति=उत्पत्ति श्रुति से सिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि सूक्ष्म-शरीर व्यापक नहीं है, किन्तु एक देशी है। जब सूक्ष्म-शरीर ही व्यापक नहीं है, तो उसका एक घटक मन व्यापक कैसे हो सकता है? अतः मन भी एक देशी है।

तदन्नमयत्वादिश्रुतेश्च॥ सां० 3।15॥

वह सूक्ष्म-शरीर अन्नमय है, यह श्रुति से सिद्ध है। जैसा कि कहा है–'अन्नमयं हि सौम्य! मनः।' (छान्दोग्य० 6।5।4) यह अन्न से अभिप्राय प्रकृति-जन्य से है अर्थात् सूक्ष्म-शरीर के सभी अवयव प्रकृति के विकार हैं। अथवा इसका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ अन्न खाते हैं, उसके सूक्ष्म-भाग का सूक्ष्म-शरीर पर तुरन्त प्रभाव होता है। जैसा सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी हम भोजन करते हैं, वैसा ही (सूक्ष्म-शरीर के घटक) मनादि पर प्रभाव पड़ता है।

अविवेक का आश्रय अन्तःकरण है–

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः॥ सां० 1।58॥

जीवात्मा (पुरुष) में अविवेक का प्रतिपादन वाणी से उपचाररूप में ही कहा जाता है, तात्त्विक रूप में नहीं। क्योंकि अविवेक की स्थिति चित्त=अन्तःकरण में होती है। और अन्तःकरण के द्वारा पुरुष अनुभव करता है। यहाँ 'चित्त' शब्द अन्तःकरण के लिए प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि सूत्रकार ने अन्तःकरण में मन, बुद्धि तथा अहंकार को ही माना है, चित्त को नहीं। योगदर्शन और सांख्य में परस्पर पर्याप्त समानता है। योग में भी अन्तःकरण के लिए 'चित्त' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

क्या मन नित्य है–

इस विषय में सांख्यदर्शन का स्पष्ट मत है कि–

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम्।। सां० 5।68॥

प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न सब अनित्य है। केवल समस्त जगत् का मूल उपादान कारण प्रकृति और चेतन पुरुष ही नित्य हैं और इनसे भिन्न सब अनित्य हैं। समस्त अचेतन जगत् प्रकृति का विकार होने से नित्य नहीं हो सकता। मन भी प्रकृति का विकार है अतः अनित्य है। मन की अनित्यता के विषय में सूत्रकार और भी स्पष्ट करके कहते हैं–

न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटादिवत्।। सां० 5।71

अर्थात् जो वस्तु निर्भाग (निरवयव) होती है वह नित्य कही जा सकती है। क्योंकि वह किन्हीं अवयवों से मिलकर नहीं बनी है। मन निरवयव नहीं है क्योंकि मन सत्त्व-रजस्-तमस् अनेक तत्त्वों का परिमाण है। इसलिए घटादि पदार्थों के समान अनेकों के योग से परिणत हुआ मन नित्य नहीं हो सकता।

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च।। सां० 2।22॥

मनादि इन्द्रियों की उत्पति तथा विनाश होता है, अतः इन्द्रियाँ अनित्य हैं। जैसा कि कहा है–

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।'।। मुण्डको० 2।1॥

बुद्धि की प्रधानता–

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवत्।। सां० 2।47॥

पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए समस्त करणों का समान उपयोग होने पर भी बुद्धि का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। जैसे लोक में राजा के कर्मचारी अपने-अपने कार्यों में समान होने पर भी कार्य विशेष से गौण और मुख्य भाव से होते हैं। एक सैनिक तथा प्रधानमन्त्री की स्थिति में बहुत अन्तर है। उसी प्रकार समस्त करणों में बुद्धि की आत्मा के सान्निध्य होने से प्रधानता है।

बुद्धि आदि में कर्तृत्व व्यपदेश क्यों–

उपरागात् कर्त्तृत्वं चित्सान्निध्यात्।। सां० 1।164॥

द्रष्टा आत्मा में कर्त्तृत्व धर्म है। बुद्धि आदि में कर्त्तृत्व का व्यवहार चेतन आत्मा के सामीप्य से है। बुद्धि आदि में समस्त प्रवृत्तियों की प्रेरणा आत्मा-चैतन्य से प्राप्त होती है, क्योंकि अचेतन बुद्धि आदि में कर्त्तृत्व कैसे हो सकता है?

योगदर्शन में मनोविज्ञान

योगदर्शन में मन तथा मन से सम्बद्ध निम्न विषयों पर विचार किया गया है–

(1) विद्याप्राप्ति में योग-मनोविज्ञान का महत्त्व।
(2) योगदर्शन का समस्त विषय वेदानुसृत है।
(3) योगदर्शन मनोविज्ञान ही है।
(4) योगाङ्गों की संक्षिप्त व्याख्या और उपयोगिता।
(5) योग की परिभाषा।
(6) चित्त की वृत्तियाँ।
(7) क्लेश क्या और कितने हैं?
(8) महर्षि दयानन्दकृत पञ्चक्लेशों की व्याख्या।
(9) वृत्तियों के निरोध का उपाय।
(10) चित्त का स्वभाव।
(11) चित्त की पांच अवस्थाएँ।
(12) इन्द्रिय-जय कैसे होता है?
(13) चित्त के विक्षेप (विघ्न)
(14) चित्त के विक्षेपों को दूर करने के उपाय।
(15) चित्त की एकाग्रता के साधन।
(16) चित्त क्षणिक नहीं है।
(17) चित्त प्रकृति का विकार है।
(18) चित्त का व्यापार विवेकख्याति तक है।
(19) आत्मा और अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं।
(20) चित्त में वासनाएँ अनादिकाल से है।
(21) चित्त-विमुक्ति कब होती है?
(22) अन्तःकरण की शुद्धि से लाभ।
(23) चित्त के द्विविध-धर्म।
(24) संस्कारों के भेद और उनका महत्त्व।
(25) दूसरे के चित्त का ज्ञान सम्भव है।

(26) चित्त का ज्ञान हृदय में होता है।

(27) हृदय-स्थान कहाँ है?

(28) महर्षि दयानन्द कृत हृदय-स्थान की व्याख्या।

(29) अस्थिर-चित्त वालों का योग क्या है?

(30) जन्म-जन्मान्तरों के चित्तस्थ संस्कारों में जाति, देश तथा काल की बाधा नहीं।

(31) चित्तस्थ वासनाएँ अनादि हैं, तो मुक्ति कैसे?

(32) मोक्ष में वासनाओं का अभाव।

(33) क्या चित्त ही सब कुछ है?

(34) चित्त में किस प्रकार की नित्यता है?

(35) बुद्धि अन्तःकरण की ही एक वृत्ति है।

विद्या-प्राप्ति में योग-मनोविज्ञान का महत्त्व–

योगदर्शन में प्रतिपादित मनोविज्ञान की शिक्षा में क्या आवश्यकता है? क्या यह योगमार्ग पर्वत-गुफाओं में तपस्यारत योगियों के लिए ही है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर स्वतः ही मिल जाता है, जब हम योगदर्शन में प्रतिपादित विषय पर विहङ्गम दृष्टिपात करते हैं।

शिक्षा-प्राप्ति के दो ही प्रकार के साधन हैं–1. दृश्य, 2. श्रव्य, और इन दोनों का सीधा सम्बन्ध मन से है। यदि मन (अन्तःकरण) मलीन तथा चञ्चल है, तो कदापि ये दोनों साधन शिक्षा प्राप्त नहीं करा सकते। योग क्या है? चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग माना है। उनके निरोध के उपाय, निरोध में आने वाले विघ्नों का वर्णन, तथा चित्त की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन योगदर्शन में किया है। और निरोध के उपायों में वैराग्य तथा अभ्यास को माना है। 'ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्' कहकर व्यास मुनि ने ज्ञान की पराकाष्ठा को वैराग्य माना है और अभ्यास के लिए लिखा है–'तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया, श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढ़भूमिर्भवति' (व्या० भा० यो० 1।14) अर्थात् तप, ब्रह्मचर्य, विद्या व श्रद्धा से दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक सेवन किया अभ्यास दृढ़भूमि होता है। और अविद्या को सब क्लेशों का मूल माना है। अतः स्पष्ट है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध उन उपायों से ही सम्भव है, जो शिक्षाप्राप्ति में परमावश्यक हैं।

और पुस्तकस्थ अक्षराभ्यास का ही नाम विद्या नहीं है। शरीर में जिससे सर्वाङ्गीण विकास हो सके उसे विद्या कहते हैं। इस शरीर में भौतिक शरीर के

अतिरिक्त अन्तःकरण, तथा आत्मा भी है। उनकी शुद्धि तथा उन्नति के लिए परमेश्वरोपासना अपरिहार्य है। अन्यथा वर्त्तमानकालीन एकाङ्गी शिक्षा के जो दुष्परिणाम हैं, वे हमारे सामने हैं। इसलिए इस योगदर्शन में प्रतिपादित मनोविज्ञान के बिना सम्यग् ज्ञान, सुख व शान्ति कदापि सम्भव नहीं है।यह प्राचीन साक्षात् करने वाले आप्त ऋषि-मुनियों की सत्य-विद्या का प्रकाश है। जिसके विषय में कहा है–

'सा विद्या, या विमुक्तये' वही विद्या है, जो दुःखों से छुड़ा कर मोक्ष को प्राप्त करावे। शान्ति-सन्देश के उपदेष्टा, व विश्वगुरु कहलाने वाले भारतीय शिक्षाशास्त्रियों को अवश्य ही इस विस्मृत विद्या की तरफ ध्यान देना चाहिए।

योगदर्शन का समस्त विषय वेदानुसृत है–

योगदर्शन में ईश्वर-उपासना के लिए जिस योगमार्ग का उपदेश किया गया है, वह सब सूत्ररूप में विद्यमान वेद-ज्ञान का ही विस्तृत रूप है। मोक्षप्राप्ति में प्रबल-बाधक अशुद्ध तथा वासनाओं से पूर्ण अन्तःकरण है। उसकी शुद्धि अविद्या या मिथ्याज्ञान को विद्या से दूर करने से होती है। वेद-मन्त्र में संक्षिप्त रूप में कितना सुन्दर वर्णन किया है–

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥

यजु० 12।68॥

हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से, नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द का (वितनुध्वं) विस्तार करो। इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके, उसमें उपासना विधान से विज्ञानरूप, (बीजं) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ। तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी द्वारा परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्त होओ। तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना-योग के फल को प्राप्त होवें और (नो नेदीयः) हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही (असत्) प्राप्त हो। कैसा वह फल है? कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परमानन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख प्राप्त कराने वाला है। (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासना योग्य वृत्ति कैसी है? कि सब क्लेशों को नाश करनेवाली और (सभराः) सब शक्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासना,योगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो। (ऋ० भू० उपासना०)

उपर्युक्त वेद-मन्त्र में ध्यान का प्रकार, अन्तःकरण की शुद्धि क्लेशों के भेद व क्लेशों के नाश तथा मोक्ष प्राप्ति के विषय में जिन बातों को संक्षेप में कहा है,

योगदर्शन में उन्हीं को विस्तार से तथा अनुभूत करके लिखा गया है।

योगदर्शन मनोविज्ञान ही है–

योगदर्शन तो प्राचीन मनोविज्ञान ही है। इसकी विशेषता यह है कि इसके सम्यक् ज्ञान से मानव जीवन के पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि और चरमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग सरलतम और सुगम हो जाता है। इसमें जो विविध अभ्यास बतलाए हैं, उनका पूर्णतः पालन करने से मनुष्य की सर्वाङ्गपूर्ण अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो जाती है। इस दर्शन के योगाङ्गों के अनुष्ठान की प्रक्रिया तो विशेष रूप से मनोविज्ञान से ही सम्बद्ध है।

इस दर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग माना है। चित्तवृत्ति के निरोध से इन्द्रियाँ वैसे ही वश में हो जाती हैं, जैसे शहद बनाने वाली रानी मक्खी से दूसरी मक्खियाँ बन्धी होती हैं। उसके उड़ने पर उड़ती और बैठने पर बैठी हैं। चित्त की वृत्तियों का निरोध कैसे हो सकता है? इसके उपायों के वर्णन से पूर्व चित्त की एकाग्रता के साधन-भूत योग के आठ अंगों का वर्णन किया गया है। अतः स्पष्ट है कि मनोविज्ञान के अध्येता को सर्वप्रथम योगाङ्गों को जानना आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य है। योगदर्शन के (2।28) सूत्र के अनुसार योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि तथा अज्ञान का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।

योगाङ्गों की संक्षिप्त व्याख्या और उनकी उपयोगिता–

(1) यम-मनोविज्ञान के अध्येता का यह प्रथम पाठ है। मन सुख-दुःख प्राप्ति का अन्तरिन्द्रिय साधन है। और सुख-दुःख प्राप्ति के दो साधन हैं–एक मनुष्य के अपने शुभाशुभ कर्मफल और दूसरा अन्य जीवों के कर्म। अतः मानव मात्र के दो प्रकार के कर्त्तव्य हैं–कि वह अपने को भी अच्छा बनावे और दूसरों को भी। मनुष्य स्वयं कितना भी अच्छा हो, किन्तु उसके आस पास में रहने वाले यदि अच्छे नहीं हैं, तो उसे कभी भी सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1] अपने मानसिक क्रियाकलापों को सन्तुलित रखने के लिए यह परमावश्यक है कि वह अपने चारों ओर के वातावरण को शान्तिसम्पन्न तथा स्वस्थ बनाए। अतएव प्राचीन काल में मनोविज्ञान के शिक्षार्थी पर्वतों की एकान्त व शान्त गुफाओं अथवा नदी तटों का आश्रय करते थे। योगाङ्गों में सर्वप्रथम ऐसे ही अङ्ग (यम) का स्थान है, जिससे शान्ति का वातावरण बन सके।

---

1. आर्यसमाज के संस्थापक ने स्वयं इस विद्या का प्रत्यक्ष करके ही एक सार्वजनिक नियम बनाया था–'मनुष्य को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' ले०

यम के अन्तर्गत पांच बातें हैं–(1) अहिंसा (2) सत्य (3) अस्तेय (4) ब्रह्मचर्य (5) अपरिग्रह।

अहिंसा=मन, वाणी तथा शरीर से किसी प्राणी के साथ वैर-भाव न करना।

सत्य=मन, वचन और क्रिया में सत्य को प्रतिष्ठित करना।

अस्तेय=मन, वचन और क्रिया से चोरी न करना।

ब्रह्मचर्य=इनिद्रसंयम करते हुए वीर्य-रक्षा तथा अमोघवीर्य बनना।

अपरिग्रह=भोग के साधनों का लोभ से संग्रह न करना और सांसारिक विषयों तथा अभिमानादि दोषों से रहित होना।

इन पाञ्चों यमों के विषय में दर्शनकार लिखते हैं–

जाति-देशकालसमयानवच्छिन्नाःसार्वभौमा महाव्रतम्॥ यो० 2 पा० 31 सूत्र॥

अहिंसादि पाञ्चों यम जाति, देश तथा काल में भी न कटने वाले सार्वभौम महाव्रत हैं अर्थात् इनका पालन सब जगह, सब कालों तथा सब जातियों में करना चाहिए। मनु ने लिखा है–

यमान् पतत्यकुर्वाणः॥

अर्थात् यमों का पालन न करने वाला पतित हो जाता है।

(2) **नियम**=शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

(यो० 2पा० 32सू०)

नियम भी पाञ्च हैं–शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान।

शौच=अन्दर तथा बाहर की शुद्धि। बाहर की शुद्धि जलादि से तथा अन्दर की शुद्धि प्राणायामादि और लोभ-मोहादि के त्याग से होती है। अन्दर की शुद्धि से मन की पवित्रता, एकाग्रता तथा इन्द्रियसंयम में सहायता मिलती है।

सन्तोष=पुरुषार्थ से जो कुछ प्राप्त हो, उससे अधिक की इच्छा न करना। 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्' भावना सदा रखना। सन्तोष से तृष्णादि पर संयम रहने से अनुत्तम सुख मिलता है। इसलिए किसी ने सत्य कहा है–

'जब आए सन्तोष धन, सब धन धूलि समान॥'

तप=सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों का सहन करना। और जीवन को नियमित और संयमित करना। इस तप से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि और अशुद्धि का क्षय होता है।

स्वाध्याय='ओम्' का श्रद्धापूर्वक सार्थक जप करना, और वेदादि सत्य शास्त्रों

का अध्ययन करना। स्वाध्याय से इष्ट देवता से सम्पर्क तथा ज्ञानवृद्धि होती है।

ईश्वरप्रणिधान–परब्रह्म के प्रति अपार प्रेम तथा श्रद्धा रखना, और उसे ही परम गुरु मानते हुए अपने समरस्त कर्मों को उसके अर्पण करना। ईश्वर-प्रणिधान से सब कर्मों के ईश्वरार्पण करने से अहङ्कारादि की निवृत्ति, सकाम-भावना का त्याग तथा परब्रह्म के सान्निध्य से उसके गुणों के धारण करने से संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

इन पाञ्चों नियमों के पालन करने से ऐसी योग्यता प्राप्त हो जाती है कि मनुष्य अधर्माचरण से बच जाता है और पूर्वोक्त यमों के पालन में सहायता मिलती है।

(3) आसन–जिसमें स्थिर सुख हो, वह आसन कहलाता है। आसन के अनेक भेद-प्रभेद हैं और उनकी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है। आसन सिद्धि से जहाँ मन को एकाग्र करने में सहयोग मिलता है वहाँ शारीरिक तथा मानसिक विविध रोगों की निवृत्ति भी होती है। आसन-सिद्धि से 'द्वन्द्वाऽनभितः' द्वन्द्वों के आघात सहने की योग्यता प्राप्त होती है।

(4) प्राणायाम–योगाङ्गों में प्राणायाम की बड़ी उपयोगिता है। इससे इन्द्रियों तथा मन के दोष वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे धातुओं का मल अग्नि में रखकर हवा करने से नष्ट हो जाता है। और–

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्॥

प्राणवायु के स्थिर न होने पर चित्त चञ्चल होता है और प्राण के निश्चल होने पर निश्चल हो जाता है। प्राणायाम से शारीरिक और मानसिक उन्नति भी होती है। रक्तशुद्धि होने से अनेक रोगों की निवृत्ति हो जाती है। और आयु-वृद्धि होती है। इसलिए प्राणायाम का फल बताते हुए दर्शनकार कहते हैं–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ यो०पा० 2 सू० 52॥

प्राणायाम करने से प्रकाश का आवरण दूर करने और मन को एकाग्र करने की योग्यता उत्पन्न होती है।

(5) प्रत्याहार–इन्द्रियों का अपने विषयों से पृथक् होना और चित्त के स्वरूप का अनुसरण करना। प्रत्याहार से इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती हैं। आत्मा की शक्ति जो चित्त और इन्द्रियों द्वारा बहिर्मुखी हो रही थी, वह अब अन्तर्मुखी हो जाती है और आत्मिक शक्ति की वृद्धि होने से दुर्गुण तथा दुर्व्यसनों से साम्मुख्य करने का सामर्थ्य बढ़ जाता है।

(6) धारणा–चित्त का किसी देश में (नासिकाग्र, हृदयकमलादि में) बाँधना।

जो शक्ति प्रत्याहार के अभ्यास से एकत्रित हुई है, उसे नाभिचक्रादि स्थानों पर लगाना धारणा कहाती है।

(7) ध्यान–धारणा में ज्ञान का एक सा बना रहना अथवा चित्त स्थिर जहाँ किया हो, वहां ध्येय का ज्ञान एक जैसा बना रहे और दूसरा किसी प्रकार का ज्ञान चित्त में न आवे। इस दशा का नाम ध्यान है। महर्षि कपिल ने 'ध्यानं निर्विषयं मनः' कह कर मन को विषयों से पृथक् करने का नाम ध्यान कहा है।

(8) समाधि–ध्यानावस्था में ध्याता, ध्यान, ध्येय का ज्ञान योगी को बना रहता है। परन्तु जब ध्येय मात्र का प्रकाश रह जावे और ध्याता अपने रूप से शून्य सा हो जावे, तो उस दशा को समाधि कहते हैं। इस दशा में (कुछ सीमा तक) योगी को दुःख-सुख, शीतोष्णादि का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। अब उसकी दृष्टि में न कोई मित्र है और न शत्रु, न मान समझता है और न अपमान।

उपर्युक्त योगाङ्गों के अनुष्ठान से मन स्थिर होता है और सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। धारणा-ध्यान और समाधि इन तीनों के एकत्रित होने पर संयम कहाता है। और इस संयम पर जयप्राप्त करने से–

तज्जयात् प्रज्ञालोकः॥ योग० 3 पा० 5 सू०॥

प्रज्ञा का प्रकाश हो जाता है।

इस प्रकार मन के एकाग्र होने से बौद्धिक-विकास हो जाता है, और इससे ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में प्रचुर सहायता मिलती है। प्राचीन काल में गुरुकुल-परम्पराओं में इस योगविद्या का प्रचार होने से छात्रों का सर्वाङ्गीण विकास के साथ बुद्धि-वृद्धि और विद्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती थी। आधुनिक शिक्षा के दोषों को देख 2 कर हमारे शिक्षाविद् अहर्निश चिन्तित तथा दुःखी हैं। उन्होंने यह प्रयत्न भी किया है कि शिक्षा में मनोविज्ञान को भी स्थान दिया जाए। परन्तु वे जब स्वयं यथार्थ तथा मौलिक मनोविज्ञान से दूर हैं, तो दूसरों को क्या प्रकाश दे सकेंगे। क्या कभी शान्त दीपक दूसरों को प्रज्वलित कर सकता है? अतः उन्हें इस उपर्युक्त प्राचीन व शाश्वत सत्य-मनोविज्ञान से अवश्य लाभान्वित होना चाहिए। हमारे शिक्षाविद् इस प्राचीन अनुभूत मनोविज्ञान को शिक्षा में स्थान देकर ही शिक्षा के क्षेत्र में एक अद्भुत मार्गदर्शन कर सकते हैं।

योग की परिभाषा–

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ योग० समाधिपाद० 2 सूत्र॥

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। योगदर्शनकार ने मन को 'चित्त' नाम देकर अपने शास्त्र में चर्चा की है। यह पाठकों को सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए।

चित्त की वृत्तियाँ–

चित्त को यदि एक सरोवर मानें, तो सरोवर में उठी लहरों को चित्त की वृत्तियाँ मानना पड़ेगा। चित्त-सरोवर का एक किनारा बुद्धि से मिला हुआ आत्मारूपी गङ्गा की ओर है, तो दूसरा किनारा इन्द्रियों से मिला हुआ जगत् की ओर है। प्रथम किनारे को अन्तर्मुखी वृत्ति और दूसरे किनारे को बहिर्मुख भी कह सकते हैं।

चित्त की वृत्तियाँ पाञ्च प्रकार की हैं–

(1) प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम।

(2) विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान।

(3) विकल्प अर्थात् वस्तुशून्य कल्पित नाम।

(4) निद्रा।

(5) स्मृति अर्थात् पूर्वश्रुत और दृष्ट पदार्थ का स्मरण।

चित्त में जितनी अच्छी या बुरी वृत्तियाँ हो सकती हैं, वे सभी इन पाञ्चों के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। योगदर्शन में लिखा है–

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।। योग० समाधि० 5 सूत्र॥

चित्त की पाञ्चों प्रकार की वृत्तियों को दो भागों में विभक्त किया गया है–

1. क्लिष्ट 2. अक्लिष्ट। क्लेश (आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक) की हेतु राजस तथा तामस वृत्ति को क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं। क्लिष्ट वृत्ति से पुरुष राग-द्वेषादि में लगा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। और जिसमें केवल आत्मख्याति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्ति-पूर्वक ईश्वर का चिन्तन होता है, प्रकृति पुरुष का विवेक तथा जो वृत्ति रजोगुण व तमोगुण के संसर्ग से रहित हो वह अक्लिष्ट कहलाती है।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।। योग०समाधि०3 सूत्र॥

चित्त की क्लिष्आक्लिष्ट वृत्तियां निम्न हैं–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प,निद्रा, स्मृति।

(1) प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ योग०समाधि०7 सूत्र॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाणवृत्ति हैं।

प्रत्यक्ष=इन्द्रियों द्वारा चित्तवृत्ति का बाहरी वस्तु के साथ उपराग=सम्बन्ध होने पर बाहरी वस्तु को विषय बना सामान्य-विशेष प्रधान वृत्ति प्रत्यक्ष है।

अनुमान=अनुमेय के साधनरूप धर्म का समान जाति वाले स्थलों में अनुमत

होना और भिन्न जाति वालों से वियुक्त होना=अलग रहना रूप जो सम्बन्ध है, उसे विषय बनाती हुई सामान्य का निश्चय जिसमें प्रधान हो, ऐसी चित्तवृत्ति अनुमान है।

आगम=यथार्थ वक्ता विद्वान् के द्वारा साक्षात् किया हुआ, अनुभव किया हुआ, या विद्या से अनुमान किया हुआ विषय दूसरे के निमित्त शब्द से उपदिष्ट किया जाता है। शब्द से उसके अर्थ को विषय बनाने वाली वृत्ति आगम है।

(2) **विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥** योग०समाधि० 8 सूत्र॥

वस्तु के निजरूप में अप्रतिष्ठित=अविद्यमान मिथ्याज्ञान विपर्ययवृत्ति है। 'सेयं पञ्च पर्वा भवत्यविद्या-अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।' (व्यासभा०) अविद्या के पांच भेद हैं—(1) अविद्या (2) अस्मिता (3) राग (4) द्वेष (5) अभिनिवेश। इनकी व्याख्या पृथक् की गई है।

(3) **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥** योग० समाधि० 9 सूत्र॥

शब्दज्ञान का अनुसरण करने वाला (शब्दार्थ से समझा जाने वाला) वस्तु रहित शब्दव्यवहार विकल्पवृत्ति है। जैसे वन्ध्या का पुत्र, आकाश का फूल आदि।

(4) **अभावप्रत्यालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥** योग० समाधि० 10 सूत्र॥

अभाव (शून्यता) रूप प्रत्यय (प्रतीतिरूप ज्ञान) ही आलम्बन आश्रय जिसमें हो, ऐसी वृत्ति निद्रा है।

(5) **अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः॥** योग० समाधि० 11 सूत्र॥

अनुभव किए अन्तर्हित विषय का किसी निमित्त विशेष से सामने आना स्मृति वृत्ति है।

स्मृति के दो प्रकार हैं—एक भावित अर्थात् कृत्रिम मिथ्या स्मरण होने वाली और दूसरी अभावित-अकृत्रिम यथार्थ या स्वाभाविक स्मरण करने योग्य। स्वप्नावस्था में मिथ्या स्मृति अर्थात् पदार्थों की उलट-पलट अस्वाभाविक होती है जैसे आकाश में उड़ता हुआ अपने को समझना आदि और जाग्रत दशा में अकृत्रिम (स्वाभाविक) या (वास्तविक) स्मृति होती है।

समस्त स्मृतियां उपर्युक्त वृत्तियों के अनुभव से उत्पन्न होती हैं। और ये सारी वृत्तियां सुख, दुःख, मोहरूप हैं अर्थात् सुख के पीछे रहने वाला राग; दुःख के पीछे रहने वाला द्वेष और मोह (अविद्या) हैं। इन सभी वृत्तियों का निरोध करने से योग होता है।

वृत्तियों में अन्तर

प्रमाणवृत्ति में वस्तुओं का सद्रूप (यथार्थता) का ज्ञान होता है विपर्ययवृत्ति में

वस्तुओं का असद्रूप (अयथार्थता) होता है, विकल्पवृत्ति में सद्असद् रूप से रहित कल्पित व्यवहार और निद्रावृत्ति में अभाव मात्र (शून्य-मात्र) प्रतीति का आश्रय होता है।

वृत्तियों का द्विविध प्रवाह–

चित्तरूप नदी दो तरफ बहने वाली है कल्याण के लिए और पाप के लिए। जो मोक्ष को सामने रखकर बहने वाली, विवेक विषय जिसका बहने का स्थान है, यह पुण्यफल वाली है। और दूसरी संसार के भोगों को सामने रख कर बहने वाली, अविवेक विषय जिसका बहने का स्थान है, वह पाप-फल वाला है। इस दूसरे विषय प्रवाह को वैराग्य से बन्द किया जाता है। और विवेक-दर्शन के अभ्यास से मोक्षाभिमुख प्रवाह उभारा जाता है।

वृत्तियों का चक्र–

महर्षि व्यास ने चित्तवृत्तियों के विषय में लिखा है–

'तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते,
संस्कारैश्च वृत्तयः, एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमानिशावर्त्तते॥'

(योग० 1।5। व्यास०)

अर्थात् चित्त वृत्तियों से संस्कार बनते हैं और संस्कारों से चित्तवृत्तियाँ। यह वृत्तियां व संस्कारों का चक्र निरन्तर चलता रहता है। और ऐसा चित्त वृत्तिनिरोध हो जाने पर सत्त्वादि गुणों के परिणाम से रहित होने पर निर्मल हो जाता है या विलीन भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी भाव को व्यास मुनि ने इस प्रकार दर्शाया है–'तदेवम्भूत चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति।'

(व्यासभाष्यम् योग० 1।5)

अर्थात् सत्त्वादि गुणों के परिणामों से रहित चित्त आत्मा के जैसा निर्मल हो जाता है अथवा विनीत भाव को प्राप्त हो जाता है।

क्लेश क्या और कितने हैं?

चित्त की वृत्तियाँ दो प्रकार की मानी हैं–क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लेश क्या हैं? इस विषय में योगदर्शन में कहा है–

क्लेशमूलःकर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। (योग० 2।12)

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधभावः। (व्यास०)

अर्थात् समस्त क्लेशों का मूल कारण कर्माशय है और यह कर्माशय चाहे पुण्यरूप हो या पाप रूप, सब काम, लोभ, मोह तथा क्रोध से उत्पन्न होता है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाःक्लेशाः॥ (योग० 2।3)

अर्थात् क्लेश पाञ्च हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥ (योग० 2।4)

अर्थात् अविद्या ही अस्मिता राग, द्वेष तथा अभिनिवेश क्लेशों का क्षेत्र=उपजस्थल है और 'अविद्यामनुक्षीयन्ते' (व्यास०) अविद्या के क्षीण होने पर ये भी क्षीण हो जाते हैं।

(1) अविद्या—**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या॥** (योग० 2।5) अर्थात् अनित्य=कार्य वस्तुओं में नित्यदृष्टि होना, अपवित्र शरीरादि में पवित्र दृष्टि होना, दुःख में सुखदृष्टि करना तथा अनात्मा में=बाह्य-साधनों या अचेतन (जड़ वस्तुओं) में आत्म-बुद्धि करना अविद्या है।

(2) अस्मिता—**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥** (योग० 2।6)

दृग् शक्ति=दृष्टा चेतन आत्मा और दर्शन शक्ति=बुद्धि आदि अन्तः करणादि में एकरूपता समझना 'अस्मिता' क्लेश है।

(3) राग—**सुखानुशयी रागः॥** (योग० 2।7)

सांसारिक पदार्थों के सुख के पश्चात् रह जाने वाने वाला संस्कार=लगावरूप भाव 'राग' क्लेश कहलाता है। इस पर व्यासमुनि लिखते हैं—जो सुख में या सुख के साधनों में लालसा=वासना लोभ है वह राग है।

(4) द्वेष-**दुःखानुशयी द्वेषः॥** (योग० 2।8) दुःख के पश्चात् रह जाने वाला संस्कार घृणारूप भाव 'द्वेष' है। इस पर व्यासमुनि लिखते हैं—'दुःख या दुःख के साधन में जो प्रतिघात करने का भाव, विरोध, हननेच्छा, या क्रोध है, वह द्वेष' है।

(5) अभिनिवेशः—**स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः॥**

(योग० 2।9)

अर्थात् विद्वान् व्यक्ति का भी स्वप्रवाह की ओर खींचने वाला जो शरीरानुबन्ध=शरीर में रहने का वासना भाव=शरीर को न छोड़ने (न मरने) का भाव है, वह 'अभिनिवेश' क्लेश है। और 'समाना हि कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासना।' (व्यासभाष्य०) अर्थात् विद्वान् और अविद्वान् दोनों में ही मरणदुःखानुभव की वासना समान होती है।

महर्षि दयानन्द कृत पञ्च क्लेशों की व्याख्या–

महर्षि दयानन्द ने इन पाञ्च क्लेशों की व्याख्या इस प्रकार की है–

(1) **अविद्या–**"अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है। जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फँसा के जन्म-मरणादि दु:ख-सागर में सदा के लिए डुबाती है।" अविद्या के लक्षण ये हैं–**अनित्य** अर्थात् कर्म जो शरीरादि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में नित्य बुद्धि, तथा जो नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी, और धर्म-धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्य बुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा **अशुचि**=मल मूत्रादि के समुदाय दुर्गन्ध रूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि का करना, तथा तालाब, बावरी कुण्ड, कुआं और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यासादि दु:खों का सहना स्पर्शेन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना, इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्य-विद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्पोपकार करना, सबसे प्रेम-भाव से वर्त्तनादि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह अविद्या का दूसरा भाग है। तथा **दु:ख में सुखबुद्धि** अर्थात् विषय-तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, द्वेष आदि दु:ख रूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम मित्रतादि सुखरूपव्यवहारों में दु:ख बुद्धि करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी प्रकार **अनात्मा में आत्मबुद्धि** अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसर के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य अशुचि, दु:ख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता दु:ख और अनात्मबुद्धि का होना तथा नित्य, शुचि और आत्मा में नित्य पवित्रता, सुख और आत्म बुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।

(2) **अस्मिता–**दूसरा क्लेश 'अस्मिता' कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिला के समान देखना, अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमानादि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है।

(3) **राग–**राग अर्थात् जो-जो संसार में भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभ-सागर में बहना है, इसका नाम राग है।

जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग वियोग संयोग वियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है।

(4) **द्वेष**–चौथा द्वेष कहाता है अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से होती है।

(5) **अभिनिवेश**–पाञ्चवां 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं। सो पूर्व जन्म के अनुभव से होती है। ..... इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृत्ति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेगा। (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

क्लेशों की वृत्तियों का अपाकरण–

इन उपर्युक्त क्लेशों की वृत्तियों के अपाकरण का उपाय बताते हुए लिखा है–

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ (योग० 2।11)

अर्थात् क्लेशों की वृत्तियां ध्यान द्वारा क्षीण करने योग्य हैं। इस सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि ने लिखा है कि–

क्लेशों की जो वृत्तियाँ हैं वे क्रियायोग=तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान से समाप्त करनी चाहिए। जब तक वे दग्धबीज-सदृश हो जावें। जैसे वस्त्रों का स्थूल मल पूर्व साफ किया जाता है, पश्चात् सूक्ष्म मल को यत्न और उपाय से दूर किया जाता है, उसी प्रकार क्लेशों की स्थूल वृत्तियां थोड़े प्रतिपक्ष से दूर की जा सकती हैं, और सूक्ष्म वृत्तियां महा प्रतिपक्ष से दूर होती हैं।

चित्त की वृत्तियों का निरोध के उपाय–

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ योग०समाधि०12 सूत्र॥

चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है। अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर तप, ब्रह्मचर्य, विद्या तथा श्रद्धा से सत्कार पूर्वक करने से दृढ़भूमि होता है और वैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा को कहते हैं।

चित्त रूपी नदी की दो धाराएँ हैं। एक विवेकभूमि में बहती हुई कल्याण (कैवल्य) सागर में गिरती है, दूसरी अविवेक अर्थात् विषयभूमि में बहती हुई अधर्म सागर में गिरती है। जब ईश्वर के निरन्तर चिन्तन, सत्य के धारण, शास्त्रों के अभ्यास और वैराग्य से दूसरी धारा (अविवेक की) सूख जाती है, तब पहली धारा द्विगुण वेग से बहती है और चित्त की पूर्वोक्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ (योग० 1।3)

तब चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर जीवात्मा की द्रष्टा=सर्व-साक्षी सर्वान्तर्यामी परमात्मा के स्वरूप में स्थिति हो जाती है। और निरोध अवस्था से भिन्न दशा में–

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ (योग० 1।4)

आत्मा चित्त की वृत्ति के रूप को धारण कर लेता है। आत्मा चित्त व चित्त की वृत्तियों से पृथक् है। जब जीवात्मा किसी वस्तु को देखने आदि की इच्छा करता है, तब नेत्रादि के द्वारा आत्मा की प्रेरणा से चित्त की वृत्ति बाह्य दृश्यवस्तु के रूप में परिणत हो जाती है।[1] इस प्रकार पदार्थाकार हुई चित्तवृत्ति जिस मार्ग से बाहर गई थी उसी के द्वारा चित्त में और चित्त के द्वारा जीव तक पहुँच जाती है। इस प्रक्रिया से ज्ञेय वस्तु का ज्ञान जीव को होता है। चित्त अयस्कान्त मणि (चुम्बक पत्थर) के सदृश है।[2] यदि इसे रोका न जाये तो लोहे के तुल्य विषयों को अपनी और खींच लेता है। इसलिए चित्त के निरोध की आवश्यकता है। परन्तु जीव स्फटिकमणि के तुल्य शुद्ध है और वह समीपस्थ रूप, रंग वाले पदार्थ के सदृश रूप रंग वाला प्रतीत हुआ करता है। अतः सूत्र में आत्मा को चित्तवृति का रूप धारण कर लेने वाला कहा गया है।

चित्त का स्वभाव– चित्त प्रकृति का विकार होने से प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तथा तमस् गुणों से प्रभावित रहता है अतः चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव होता है। योगदर्शन के भाष्यकार व्यास मुनि लिखते हैं–

'चित्तं हि प्रख्या-प्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।'

(योग० समाधि० 2 सू०)

चित्त प्रख्या-प्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुण अर्थात्–

(1) प्रख्या रूप चित्त सत्त्वगुण प्रधान होता है। इसमें चित्त दृष्ट व श्रुत पदार्थों पर विचार करता है।

(2) प्रवृत्ति रूप चित्त चंचल स्वभाववाला होता है। इसमें सत्त्व–गुण के साथ रजोगुण की मात्रा अधिक होती है। तब चित्त धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है।

(3) स्थितिशील-चित्त तमोगुण प्रधान होता है। तब अधर्म, अज्ञान और विषयासक्ति का चिन्तन करता है।

---

1. व्युत्थाने यश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिःपुरुषः। (योग० 1।4 व्यासभाष्यम्)
2. चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारिदृश्यत्वेन स्वं भवति।
(योग० 1।4 व्यास भाष्यम्)

चित्त की पांच अवस्थाएँ–

महर्षि व्यास ने योगदर्शन में चित्त की पाञ्च अवस्थाओं का वर्णन करते हुए लिखा है–

'क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।'

(योग० समा० 1 सूत्र)

क्षिप्त=चञ्चल, मूढ=मोहवश मूर्छितरूप, विक्षिप्त=बाधित, एकाग्र=एकवृत्तिता, (या एक स्थान में रोकना), निरुद्ध=सर्वथा निरोध, ये पाञ्च चित्त की अवस्थाएँ हैं। इनको इस प्रकार भी कहा जा सकता है–

(1) **क्षिप्त**=इस दशा में चित्त की वृत्तियाँ अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं।

(2) **मूढ**=इस दशा में चित्त कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूलकर मूर्खवत् हो जाता है।

(3) **विक्षिप्त**=इस दशा में चित्त व्याकुल और व्यग्र हो जाता है।

(4) **एकाग्र**=चित्त की वृत्तियां इस दशा में अनेक विषयों से खिंच कर एक ओर लग जाती हैं।

(5) **निरुद्ध**=इस दशा में चित्त की वृत्तियाँ चेष्टारहित हो जाती हैं। इनमें प्रथम चार अवस्थाओं में सत्-रजस्-तमस् गुणों का संसर्ग रहता है। परन्तु 5 वीं दशा में इन गुणों का संस्कार मात्र रह जाता है।

इनमें (क्षिप्त तथा मूढ़ दशाओं में) समाधि नहीं होती। विक्षिप्त दशा में चित्त में विक्षेपों के कारण गौण हुई समाधि योगपक्ष में नहीं मानी जाती। एकाग्र दशा में योग होता है, उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इसमें लगाई गई समाधि, जैसी वस्तु होती है, वैसी ही प्रदर्शित करती है, अविद्यादि पाञ्चों क्लेशों को क्षीण करती है, कर्म के बन्धनों को ढीला कर देती है और निरोध रूप पाञ्चवीं दशा की ओर अभिमुख करती है। और अन्तिम निरोध दशा में समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

इन्द्रियजय कैसे होता है?

वैसे चित्त की वृत्तियों के निरोध करने से इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। पुनरपि योगदर्शनकार ने इन्द्रिय-जय के कुछ और भी उपायों का वर्णन करते हुए लिखा है–

(क) ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् इन्द्रियजयः॥ योग० 3।47॥

अर्थात् ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व इन पाञ्च-रूपों में

संयम करने से इन्द्रिय-जय की प्राप्ति होती है।

(1) **ग्रहण**—सामान्य-विशेषात्मक शब्द आदि विषय ग्राह्य हैं, उनमें इन्द्रियों की वृत्ति-वर्त्तन शक्ति (व्यवहार शक्ति) को ग्रहण कहते हैं।

(2) **स्वरूप**—इन्द्रिय द्रव्य है, जो कि ज्ञानादि की प्राप्ति में बाह्य करण है। पृथक् 2 अपने 2 रूपादि का ग्राहक होने से विशेषकरण है। नेत्र रूप का ही ग्रहण करता है, रस का नहीं, इत्यादि इन्द्रियों का स्वरूप है।

(3) **अस्मिता**—अस्मिता लक्षण वाला तीसरा रूप है। उस सामान्य सत्ता वाले अहङ्कार की इन्द्रियाँ विशेष हैं।

(4) **अन्वय**—व्यवसायात्मक व्यवहार कराने वाले, कान्ति, प्रगति, स्तब्धता स्वभाव वाले सत्त्वादि गुण चतुर्थरूप हैं।

(5) **अर्थवत्त्व**—गुणों में जो कार्यशक्ति है, वह अर्थवत्त्व है। योगी को इन पाञ्चों रूपों में यथाक्रम संयम करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। भाव यह है कि इन्द्रियाँ मनुष्य को अपने 2 विषय की ओर आकृष्ट करती हैं, किन्तु योगी के उक्त पांचों रूपों में संयम करने पर इन्द्रियाँ अपने विषयप्रवण स्वभाव को त्याग देती हैं और अन्तर्मुख हो जाती हैं। तब इन्द्रियाँ योगी के अधीन होने से ज्ञान का सम्पादन करती हैं। यही 'इन्द्रियजय' है।

(ख) ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। योग० 2।55॥

चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर इन्द्रियों की अत्यन्त स्वाधीनता हो जाती है। जैसे मधु बनाने वाले उड़ते हुए राजा के साथ मक्खियाँ भी उड़ जाती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्तनिरोध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं।

चित्त के विक्षेप—(जिन विघ्नों से चित्त विक्षिप्त होता है)

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्ध-भूमिकत्व-अनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ योग०। समाधि० 30 सू०॥

चित्त को विक्षिप्त करने वाले निम्नलिखित विघ्न हैं—

(1) **व्याधि**=वात-पित्त-कफ रूप धातुओं, खाए पिए आहार के विषम रस तथा इन्द्रियों की विषमता का नाम व्याधि है। व्याधि (रोग) से शरीर में विकलता उत्पन्न हो जाती है।

(2) **स्त्यान**=चित्त की अकर्मण्यता (जी चुराना) स्त्यान है।

(3) **संशय**=दो कोटियों को छूने वाला, दो ओर जाने वाला, द्विधा ज्ञान कि ऐसा हो सकता है या नहीं, संशय कहलाता है।

(4) **प्रमाद**=समाधि के साधनों का न करना।

(5) **आलस्य**=चित्त और शरीर के भारीपन से मुक्तिसाधनों में अप्रवृत्ति आलस्य है।

(6) **अविरति**=चित्त का विषयों के संसर्ग से मोहित होना।

(7) **भ्रान्तिदर्शन**=विपरीत ज्ञान का होना।

(8) **अलब्धभूमिकत्व**=योग की भूमियों को न प्राप्त करना।

(9) **अनवस्थितत्त्व**=योग की भूमियों को प्राप्त करके भी चित्त का स्थिर न होना।

ये नौ चित्त को एकाग्र करने में विघ्न हैं। इन्हें नव योगमल भी कहते हैं।

चित्त के उपविघ्न–

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥

(योग० समाधि० 31 सूत्र)

दुःख, दौर्मनस्य=मन की विकलता, अङ्गमेजयत्व=अङ्गकम्पन, श्वास, प्रश्वास, ये विक्षेपों के साथ होने वाले उपविघ्न हैं।

(1) दुःख तीन प्रकार के हैं–आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक।

आध्यात्मिक=मन व शरीर के रोग।

आधिभौतिक=व्याघ्र, चोरादि से होने वाले दुःख।

आधिदैविक=इन्द्रिय तथा मन की चञ्चलता तथा अशुद्धि से होने वाले दुःख।

(2) **दौर्मनस्य**=इच्छा की पूर्ति न होने से मन में क्षोभ पैदा होना।

(3) **अङ्गमेजयत्व**=आसन के स्थिर न होने वा रोग के कारण से शरीर का हिलाना जुलना।

(4) **श्वास**=बाहर से वायु को नासिका के छिद्रों द्वारा अन्दर लेना।

(5) **प्रश्वास**=अन्दर की वायु को बाहर निकालना।

ये उपविघ्न विक्षिप्त वालों को ही होते हैं। समाहित-चित्त वालों को नहीं होते।

चित्त के विक्षेपों को दूर करने के उपाय–

(1) ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ यो०।1।29॥

ततः='ओम्' का जप तथा अर्थ का अनुभव करने पर अन्तरात्मा का बोध तथा विघ्नों का अभाव हो जाता है। 'ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति०।' (व्यास०) ईश्वरप्रणिधान से व्याधि आदि विघ्न नहीं होते, और इसको स्वरूपदर्शन भी हो जाता है।

(2) 'अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः।' (व्यास०) ये विक्षेप समाधि के विरोधी हैं, इनका निरोध अभ्यास और वैराग्य से करना चाहिए।

चित्त की एकाग्रता के साधन–

(1) तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।। योग० समाधि० 32 सूत्र॥

उपर्युक्त विक्षेपों (विघ्नों) को दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। चित्त का अनेक विषयों की तरफ दौड़ना ही परम विघ्न है, अतः उसके दूर करने का एक ही उपाय है कि चित्त को एक तत्त्व (अद्वितीय ब्रह्म) का चिन्तन करके एकाग्र करे।

(2) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।। योग० समाधि० 33 सूत्र॥

चित्त की प्रसन्नता=स्वच्छता अथवा स्थिरता के लिए यह भी परमावश्यक है कि सुखी पुरुषों से मित्रता, दुःखी प्राणियों पर दया करना, पुण्यात्माओं में हर्ष भावना, अपुण्यशीलों में उपेक्षा करने से चित्त निर्मल हो जाता है, अर्थात् मैत्री, करुणा और हर्ष से चित्त में उत्साह और शान्ति रहती है और पापियों की उपेक्षा करने से मनुष्य क्रोध से बच जाता है और चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। क्योंकि प्रसन्न (स्वच्छ) चित्त शीघ्र स्थितिपद को प्राप्त करता है।

(3) प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।। योग० समाधि० 34 सूत्र ॥

अर्थात् प्राणायाम करने से मन निर्मल तथा स्थिर हो जाता है। प्राणायाम का प्रकार यह है कि प्रच्छर्दन (वमन) की भाँति वेग से प्राण को बाहर फेंकना और विधारण=विशेष धारण करके अन्दर ही रोकना इस प्रक्रिया को बार 2 करना ही प्राणायाम है। महर्षि व्यास कहते हैं–

'ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्।'

अर्थात् प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से मन को स्थिर करे।

धारणासु च योग्यता मनसः।। योग० साधन० 53 सूत्र॥

प्राणायाम के सिद्ध होने पर धारणा में (एकाग्र करने में) मन की योग्यता हो

जाती है। धारणा का लक्षण है–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ योग० तृतीपपाद० 1 सूत्र॥

चित्त का नासिकाग्र, हृदयकमलादि स्थानों में बान्धना 'धारणा' कहलाती है।

(4) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी॥

योग० समाधि० 35 सूत्र ॥

अथवा दिव्य विषय वाली चित्त की वृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर कर देती है। अर्थात् नासिका, जिह्वा आदि के अग्रभाग पर धारणा करने से दिव्यगन्ध दिव्यरसादि की अनुभूति होने लगती है। इन अनुभूतियों से मन स्थिर हो जाता है।

(5) विशोका वा ज्योतिष्मती॥ योग० समाधि० 36 सूत्र॥

अथवा शोकरहित और प्रकाशयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर कर देती है। अर्थात् हृदय-कमल में जब प्राण को धारण किया जाता है, तब योगी की बुद्धि प्रकाशयुक्त और आकाश के समान विस्तृत हो जाती है। उससे बुद्धि में जाज्वल्यमान ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब उसकी दशा निस्तरंग महासागर की भांति शान्त तथा निश्चल हो जाती है। और चित्त स्थिर हो जाता है।

(6) वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ योग० समा० 37 सूत्र॥

अथवा किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा को राग कहते हैं। राग-रहित चित्त स्थिर हो जाता है।

(7) स्वप्न-निद्रा-ज्ञानावलम्बनं वा॥ समाधि० 39 सूत्र॥

अथवा स्वप्नज्ञान और निद्रा ज्ञान जैसी अवस्था से योगी का चित्त स्थिर हो जाता है स्वप्न में बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता, निद्रा में बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों का ज्ञान नहीं रहता।

(8) यथाभिमतध्यानाद्वा॥ समाधि० 39 सूत्र॥

अथवा अभिमत (इच्छानुकूल) वस्तु अथवा हृदयकमल, नासिकाग्र आदि स्थानों पर ध्यान करने से चित्त स्थिर हो जाता है।

परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्यवशीकारः॥ यो० 1 पा० 40 सूत्र॥

इस चित्र का वशीकार=नियन्त्रण-स्थिरभाव परमाणु-परममहत्त्व पर्यन्त होता है। भाव यह है कि मन सूक्ष्म में घुसते हुये=स्थिर होते हुए परमाणु तक स्थितिपद को प्राप्त कर सकता है और स्थूल=महान् में घुसते हुए–स्थिर होते हुए परम महत्त्व=अति महान् (जिससे महान् कोई न हो) ऐसे पदार्थ आकाश तक में स्थितिपद को प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों तरफ (सूक्ष्म-महान्) दौड़ते हुए मन को स्थिर करने का

अभ्यास करते-करते योगी सर्वोच्च तथा अबाधित वशीकार सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

(9) योग० 1।28 सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि लिखते हैं–

'तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते।'

अर्थात् योगी का चित्त 'ओम्' का जप करते हुए तथा उसके अर्थ को अनुभव करते हुए एकाग्र हो जाता है।

चित्त क्षणिक नहीं है–

चित्त क्षणिक है अथवा अक्षणिक है? इस विषय में नास्तिक दर्शनों का मत है कि चित्त क्षणिक है, किन्तु महर्षि व्यास ने इस मत का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। उसकी निम्न युक्तियां हैं–

(1) यदि चित्त को क्षणिक माना जाए,तो मन की विक्षिप्तादि दशाएँ ही नहीं होंगी और फिर एकाग्र करने का समग्र उपदेश निरर्थक हो जाएगा।

(2) यदि क्षणिकवादी सदृश प्रतीति के प्रवाह से चित्त की एकाग्रता मानता है, अर्थात् प्रथम चित्त ने किसी वस्तु के लाल रंगादि को देखा और फिर दूसरे चित्त ने भी उसे देखा, यही एकाग्रता का रूप है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जब दोनों चित्त भिन्न-भिन्न हैं, तो एकाग्रता किस की हुई?

(3) यदि प्रतीति के प्रवाहांश का ही धर्म एकाग्रता है, तब भी ठीक नहीं। क्योंकि इससे विक्षिप्त दशा ही नहीं बनी, तब एकाग्रता ही क्या हो सकती है। अतः–

तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तम्॥ व्यासभाष्यम्॥

इसलिए अनेक वस्तुओं में रहने वाला एक नियत तथा अवस्थित (अक्षणिक) चित्त है। अन्यथा यह दोष भी उत्पन्न होता है कि–

'कथमन्यदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत्'।

दूसरे चित्त के जाना हुए का दूसरा चित्त स्मरण कैसे करेगा? तब तो किसी की स्मृति भी न हो सकेगी? 'यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि' अर्थात् जो मैंने देखा था, उसी को छू रहा हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा भिन्न-भिन्न चित्तों में कदापि सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक शरीर में एक तथा नियत चित्त है।

चित्त प्रकृति का विकार है–

(1) इस विषय में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं–

'प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणा परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा

प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते। चलं च गुणवृत्तिमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्।' (व्यासभाष्यम् यो० द्वि० पा० 15 सू०)

अर्थात् चित्त के गुण सत्त्व-रजस्-तमोरूप, परस्पर सहायक होकर शान्त, घोर या मूढ़ ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। सत्त्वादि गुणों का व्यवहार अस्थिर होने से चित्त शीघ्र परिणामी कहा जाता हैं।

यहां चित्त को प्रकृति के सत्त्व-रजस् तथा तमोगुण रूप में माना है। और सत्त्वादिगुण प्रकृति के हैं।

(2) प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥

(यो० द्वि० पा० 18 सू०)

अर्थात् पृथिवी आदि महाभूत और इन्द्रियाँ सत्त्व, रजस्, तमस्, गुणों वाली होने से प्रकाशशील, क्रियाशील, तथा स्थितिशील हैं और द्रष्टा-आत्मा के भोग तथा अपवर्ग के लिए हैं।

यहां इन्द्रियों को सत्त्वादि गुणों वाला माना है। और ये तीनों गुण प्रकृति के हैं।

(3) योगदर्शन के द्वितीय पादस्थ 19वें सूत्र–

'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुणपर्वाणि' पर महर्षि व्यास लिखते हैं–'तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि,' वाक् पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणस्यात्र विशेषस्य विशेषाः। अर्थात् श्रोत्रादि पाञ्च ज्ञानेन्द्रियां, वागादि कर्मेन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन ये सब अस्मिता लक्षण वाले अहंकार अविशेष सामान्य पदार्थ के विशेष परिणाम हैं।

यहाँ स्पष्ट रूप से मन को अहंकार का परिणाम माना है। अतः मन (अन्तःकरण) प्रकृति का विकार ही है।

चित्त का व्यापार विवेकख्याति तक है–

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने इस विषय में लिखा है–

(1) 'ख्यातिपर्यवसानं चित्तचेष्टितम्॥' यो० 1।50॥

अर्थात् चित्त का व्यापार विवेकख्याति पर्यन्त ही है।

(2) 'चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः' (व्यासभाष्य यो० द्वि० पा० 24 सू०)

अर्थात् चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है।

(3) 'यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्त्ततेऽस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतःशुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते।' (समाधि० 51 सूत्र)

अर्थात् कैवल्यभागीय=सर्वनिरोध समाधिवाले संस्कारों के द्वारा जब चित्त की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, उसके निवृत्त होने पर आत्मा स्वरूपमात्र स्थिति वाला हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि चित्त का व्यापार मुक्तिपर्यन्त ही है।

(4) 'ते पञ्चक्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तंगच्छतीति' (योग० 2।10 व्यास) योगी के दग्धबीजसदृश पांच क्लेश चित्त के अधिकार के समाप्त होने पर और उसके लीन हो जाने पर उसी के साथ प्रस्तुत हो जाते हैं।

आत्मा और अन्तःकरण भिन्न 2 हैं–

दृक्शक्ति=द्रष्टृशक्ति चेतन आत्मा और उसके अधीन समस्त दर्शन साधनों (मन, बुद्धि आदि) की एक रूपता मानना 'अस्मिता' नामक क्लेश है। अतः स्पष्ट है कि आत्मा और अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं।

चित्त में वासनाएँ अनादिकाल से लिप्त होती हैं–

चित्त में वासनाओं का जाल जन्म-जन्मान्तरों से लिप्त होता है। योग-दर्शन के भाष्यकार कहते हैं–

'क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः॥'

योग० द्वि० पा० 13सूत्र॥

अर्थात् क्लेश, कर्म, और विपाक के अनुभव से निष्पन्न हुई वासनाओं द्वारा अनादि काल से लिप्त यह चित्त ऐसे विचित्रीकृत होता है जैसे मछली पकड़ने का जाल ग्रन्थिबन्धनों से भरा होता है। ये वासनाएँ अनेक जन्मों की होती हैं।

चित्त-विमुक्ति कब होती है?

'चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी'॥ (योग० 2।27 व्यास०)

विवेकख्याति होने पर चित्त की विमुक्ति तीन प्रकार से होती है–

(1) 'चरिताधिकारा बुद्धिः' (व्यास०) अर्थात् गुणाधिकारों से निवृत्त होने पर बुद्धि=चित्त का कार्य समाप्त हो जाता है।

(2) गुणलीनता=सत्त्वादि तीनों गुण, पर्वत शिखर के तट से पतित पाषाण की भांति न ठहरते हुए स्वकरण में प्रलयाभिमुख होकर अस्त हो जाते हैं।

(3) आत्मस्थिति=इन गुणों के प्रलीन होने पर पुनः उत्पत्ति प्रयोजन न होने से नहीं होती। अतः आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थिति हो जाता है। यह व्यासमुनि ने योग० 2।27 के भाष्य में लिखा है।

अन्तःकरण की शुद्धि से लाभ–

(1) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥

योग० साधन० 28 सूत्र०॥

योग के आठ अङ्गों (यम, नियमादि) अनुष्ठान करने से अन्तःकरण की अशुद्धि अथवा अविद्या, अस्मितादि पाञ्च पर्व वाले मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है। जैसे परशु काष्ठादि के छेदन का करण है, वैसे ही योगाङ्गों का अनुष्ठान अशुद्ध के क्षय का कारण है। और जैसे सुख की प्राप्ति का कारण धर्म है, वैसे ही विवेक ख्याति की प्राप्ति का कारण योगाङ्गानुष्ठान है।

(2) सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-ऐकाग्र्य-इन्द्रियजय-आत्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥

(योग० साधन 41 सूत्र)

बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि से सत्त्वशुद्धि (मन की शुद्धि), सौमनस्य=मन की प्रसन्नता, ऐकाग्र्य=एकाग्रता, इन्द्रियजय=इन्द्रियसंयमता, तथा आत्मदर्शन की योग्यता भी हो जाती है।

(3) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः॥ योग० साधन 43 सूत्र॥

तप करने से अविद्यादि अशुद्धियों के क्षय से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

(4) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ योग० साधन० 52 सूत्र॥

प्राणायाम के सिद्ध होने पर सत्त्व गुण को आच्छादित करने वाले रजोगुण व तमोगुण का आवरण क्षीण हो जाता है। और उससे अन्तः-करण (चित्तादि) निर्मल हो जाते हैं।

चित्त के द्विविध धर्म–

चित्त के दो प्रकार के धर्मों का निर्देश करते हुए व्यासमुनि लिखते हैं–

चित्तस्य द्वयेधर्मा परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च। तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः। ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापित-वस्तुमात्रसद्भावाः।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

(व्यासभाष्य योग० तृतीय० 15 सूत्र)

अर्थात् चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं–परिदृष्ट और अपरिदृष्ट। उनमें प्रतीतिरूप ज्ञानात्मक परिदृष्ट हैं। और वस्तुमात्र ज्ञानशून्य स्वभाव वाले अपरिदृष्ट हैं। वे अपरिदृष्ट सात होते हैं–

निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं।

ये पूर्वजन्म सम्बन्धित होने से अपरिदृष्ट कहलाते हैं। व्यासमुनि लिखते हैं–

'ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्ति-
जीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः।' (योग० 3।18 व्यास०)

संस्कारों के भेद और उनका महत्त्व–

योगदर्शन में संस्कारों के विषय में लिखा है–

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजाति-ज्ञानम्॥ (योग० तृतीय 18 सूत्र)

संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। इस सूत्र पर व्यासभाष्य में जो लिखा है, उसका अनुवाद इस प्रकार है–

ये संस्कार दो प्रकार के हैं। प्रथम स्मृति एवं अविद्या आदि क्लेशों के कारण भूत वासनारूप और दूसरे सुख-दुःख फल के कारणभूत धर्मा-धर्म रूप हैं। वे पूर्वजन्म सञ्चित हुए परिणाम-चेष्टा-निरोध-शक्ति जीवनधर्म के समान अपरिदृष्ट चित्त के धर्म हैं। उनमें संयम करना साक्षात् क्रिया के लिए है। और देश, काल, निमित्त तथा अनुभव के बिना उनका साक्षात्कार नहीं हो सकता। योगी को इस प्रकार संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्व-जन्म का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

जीवात्मा के साथ देहान्तरों में सूक्ष्म शरीर जाता है। उसमें (चित्त में) जीवों का रिकार्ड तीन रूपों में रहता है– (1) स्मृति=जन्म-जन्मातर का प्राप्त ज्ञान। (2) वासना=किये हुए अच्छे या बुरे कर्म वासना रूप में। (3) संस्कार=जन्म- जन्मान्तर के पड़े हुए प्रभाव संस्कार रूप में।

जन्म-जन्मान्तर के संस्कार, वासना और स्मृति का भण्डार चित्त है। उसके शुद्ध तथा आवरण रहित होने पर पहले जन्म के संस्कारों का ज्ञान हो जाता है। योगदर्शन में कहा है–अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः। (योग० 39 सूत्र) अर्थात्

अपरिग्रह के स्थिर होने पर जन्म कैसे और क्यों? इसका बोध हो जाता है।[1]

दूसरे के चित्त का ज्ञान सम्भव है–

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ योग० 3 पाद० 19 सूत्र॥

प्रत्यय=प्रतिभानज्ञान (दूसरे के बाहरी आभास ज्ञान) का संयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् अनुभवी आकृतिविद्या के विद्वान् तथा योगी दूसरों के चित्त की बातों को जान लेते हैं।

चित्त का ज्ञान हृदय में होता है?–

हृदये चित्तसंवित्॥ योग० 3 पाद 34 सूत्र॥

हृदय में संयम करने से चित्त (मन) का ज्ञान हो जाता है। मन का स्थान हृदय है, इसकी पुष्टि वेद से भी होती है–

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० 34।1)

हृदय कहां है?–

हृदय-स्थान का वर्णन करते हुए व्यास मुनि लिखते हैं–

(क) यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित्॥ (व्यासभाष्यम्)

जो इस ब्रह्मपुर=ब्रह्मनगर में गुप्त कमलगृह है, उसमें विज्ञान है अर्थात् हृदय में कमलाकार एक मांसपिंड है, उसी में चित्त रहता है। इसलिए उसमें संयम करने

---

1. पूर्वजन्म-ज्ञान के विषय में यह बात जाननी चाहिये कि योगी को संस्कारों के ज्ञान से पूर्व जन्म का आनुमानिक ज्ञान ही होता है। पूर्व जन्म में मेरे अमुक माता पिता थे, और अमुक घर में रहते थे, इत्यादि ज्ञान नहीं होता। योगदर्शन के व्यासभाष्य में इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–
   तदित्थं संस्कारासाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः।
   परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम्॥ (योग० 3।18 व्यास०)
   अर्थात् योगी को चित्तस्थ संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। और दूसरे में भी इसी प्रकार साक्षात्कार करने से दूसरे के जन्म का अनुभव हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि योगी संस्कारों को साक्षात् करके आनुमानिक ज्ञान ही करता है। व्यास ने 'संवेदनम्' शब्द से इसका स्पष्ट निर्देश किया है। और यह उचित भी है कि कार्य से कारण का ज्ञान हो जाता है। 'अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथान्तासंबोधः' योग० 2।39 सूत्र भी यह ही संकेत करता है कि जन्म के कारणभूत संस्कारों का ज्ञान होता है।

से वहां रहने वाले चित्त का ज्ञान हो जाता है। अथवा चित्तस्थ वासनाओं का ज्ञान हो जाता है।

(ख) समस्तेन्द्रियवृत्तिःप्राणादिलक्षणा जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः। (योग० 3।39 व्यास०)

अर्थात् समस्त इन्द्रियों की वृत्ति प्राणादि लक्षण वाली है। प्राणों द्वारा होती है। वह ही जीवन है, उसकी क्रिया पांच प्रकार की है। मुख-नासिका से गति करने वाला प्राण हृदय पर्यन्त है। इससे स्पष्ट है कि हृदय का स्थान छाती में ही है।

महर्षि दयानन्द कृत हृदय-स्थान की व्याख्या–

(क) यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः॥ छान्दोग्य० प्रपा० 8। मं० 4॥

इसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है–

"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है।

(ऋ० भू० उपासना०)

(ख) तपः शुद्धे ये ह्यपवसन्त्यरण्ये०॥ (मुण्डको० 1 खं० 2 मं०॥)

जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। (ऋ० भू० उपासना०)

(ग) अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (यजु० 31।1) की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने 'दशाङ्गुल' शब्द से ब्रह्माण्ड और हृदय दोनों अर्थ किए हैं। इस शब्द की हृदय परक व्याख्या इस प्रकार की है–'पाञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार दशमा जीव और शरीर में जी हृदयदेश है, सो भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है।"

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि हृदय देश में अन्तःकरण (मन, बुद्धि चित्त तथा अहंकार) का स्थान है।

अस्थिर-चित्त वालों का योग क्या है?

जिनका मन स्थिर नहीं हैं, और वे योग करने के इच्छुक हैं, तो उनके लिए

योगदर्शन में निम्न उपाय बताए हैं–

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥ यो० 2।1॥

अर्थात् जिनका चित्त चञ्चल है, उन्हें प्रतिदिन निम्न उपाय करने चाहिए–

(1) **तपः–** 'नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादि कर्मक्लेशवासना-चित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते।' (व्यास०)

अर्थात् बिना तपस्या के योग नहीं सिद्ध हो सकता। अनादि कर्म-वासना रूप चित्रों वाली विषयों को उपस्थित करने वाली मलीनता की शुद्धि तप के बिना नहीं हो सकती। अतः प्रथम अस्थिर चित्त वाले को तपस्वी बनना चाहिए।

(2) **स्वाध्याय–**'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।' (व्यास०) अर्थात् प्रणव (ओम्) का तथा पवित्र मन्त्रों का जप करना तथा मोक्ष विषयक शास्त्रों का पढ़ना स्वाध्याय है। इसका अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए।

(3) **ईश्वर-प्रणिधानम्–**'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।' (व्यास०) अर्थात् सब क्रियाओं का परम गुरु परमात्मा में अर्पण तथा उनके फल का त्याग करना ईश्वर-प्रणिधान है।

तपादि के अभ्यास से क्या फल होता है?

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ यो० 2।2॥

इस उपर्युक्त सेवन किया गया क्रियायोग समाधि को सिद्ध करता है और अविद्यादि क्लेशों को सूक्ष्म करता है। 'प्रतनूकृतान् क्लेशान् असंख्यानग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति।' (व्यास०) और सूक्ष्म किए क्लेशों को विवेक-अग्नि के द्वारा जले हुए बीजों के समान उगने के धर्म से रहित कर देगा। अतः अस्थिर चित्त वालों को उपर्युक्त उपायों को क्रियान्वित करके चित्त को स्थिर करना चाहिए।

जन्म-जन्मान्तरों के चितस्थ संस्कारों में जाति-देश-काल की बाधा नहीं–

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥

(यो० 4 पा० 9 सू०)

विभिन्न जन्म, देश, काल से अन्तरित (छिपी हुई) वासनाओं का भी आनन्तर्यम्=व्यवधानरहितता (समीपत्व) होती है, स्मृति और संस्कारों की एक रूपता होने से। यदि सैकड़ों जन्मों से या दूर देश से या कल्प भर काल से छिपा हुआ कर्माशय हो, फिर भी अपने प्रकट करने वाले निमित्त से तुरन्त प्रकट हो जाता है। क्योंकि जैसा अनुभव हो वैसे संस्कार होते हैं, और कर्म वासना के अनुरूप होते हैं

और जैसी वासनाएँ होती हैं वैसी ही स्मृति होती है। अतः जाति, देश, काल की रूकावट में रहने वाले संस्कारों में स्मृति होती है। और स्मृति से फिर संस्कार। इस प्रकार ये स्मृति संस्कार कर्म आशय वृत्ति के लाभ से प्रकट होते हैं। अतः रुकावट में आए या छिपे हुओं का भी निमित्त नैमित्तिक भावों के नाश न होने से आनन्तर्य=व्यवधानरहितता (समीपता) बनी रहती है।

तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वात्॥ (यो० 4 पा० 10 सू०)

आशीः=भावना=भीतरी इच्छा के नित्य होने से उन वासनाओं का अनादित्व सिद्ध है।

तस्मादनादिवासनानुविद्धं चित्तं निमित्तवशात् काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्त्तत इति। घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। (व्यासभाष्य)

इससे अनादि वासनाओं से युक्त चित्त निमित्तवश किन्हीं वासनाओं को प्राप्त करके पुरुष के भोग के लिए उपस्थित होता है। कुछ आचार्य ऐसा भी मानते हैं कि चित्त घड़े और महल में के अन्दर रखे दीपक की भांति संकोच-विकास धर्मवाला और शरीर के परिमाण आकार मात्र वाला है।

'वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः।' (व्यासभाष्य)

इस चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकास वाली है, यह आचार्य मानता है[1]।

चितस्थ वासनाएँ अनादि हैं, तो मुक्ति कैसे?

चित्त की वासनाओं को प्रवाह से अनादि माना गया है। क्योंकि सकाम कार्यों का कर्त्ता सदैव शुभ फल की इच्छा अपने लिए करता है। इस फलेच्छा से वासनाएँ और वासनाओं से फिर वही फलेच्छा पैदा होती है। और यह चक्र मुक्ति तक बराबर चलता रहता है। और मोक्ष की भी एक निश्चित् अवधि होती है[2]। चाहे वह कितनी लम्बी हो, उस अवधि के बाद जीव को फिर जन्म-मरण के चक्र में आना पड़ता

---

1. यहाँ 'विभु' शब्द से व्यापक अर्थ करना ठीक नहीं है, अन्यथा चित्त को शरीर में व्यापक मानने से अनेक ज्ञान युगपत् होने लगेंगे। और चित्त का स्थान हृदय है और यह सूक्ष्म-शरीर का ही एक घटक है तो यह एकदेशी होने से व्यापक कभी नहीं हो सकता।
2. महर्षि दयानन्द ने मुक्ति के समय का वर्णन इस प्रकार किया है–
   'ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥
   यह मुण्डकोपनिषद् का वचन है–वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़कर संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि–तेतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र

है। और संसार में जीवन की इच्छा से फिर वासनाओं के जाल में फंसना पड़ता है। अतः वासनाएँ प्रवाह से अनादि हैं।

मोक्ष में वासनाओं का अभाव–

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥

यो० 4 पा० 11 सू०॥

अर्थात् ये वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से संगृहीत होती हैं, इसलिए इन हेतु आदि के अभाव में वासनाओं का भी अभाव में वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। हेतु=क्लेश और कर्म को कहते हैं। फल नाम जाति आयु और भोग का है। अधिकार सहित चित्त, वासनाओं का भण्डार होने से आश्रय और इन्द्रियों के विषयों को आलम्बन कहते हैं। इन हेतु आदि के उपस्थित होने पर वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और इनके अभाव में वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। अतः वासनाओं का मोक्ष में अभाव ही रहता है। व्यासभाष्य में इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–

'मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते॥' (व्यासभाष्यम)

अर्थात् मन वासनाओं का आश्रय है। (मोक्ष के समय) अवसिताधिकार=समाप्त गुणाधिकार वाले चित्त में निराश्रय वासनाएँ ठहरने में समर्थ नहीं हो सकतीं।

क्या चित्त ही सब कुछ है? (अनात्मवादी बौद्धों की मान्यता का खण्डन)

प्रश्न–चित्त (विज्ञान) ही एक वस्तु है। ज्ञान-ज्ञेय, अथवा कारण-कार्यभेद से भिन्न वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि सभी वस्तुओं का मूलकारण सत्त्व-रजस्-तमस् गुण हैं।

परिणामैकत्त्वाद् वस्तुतत्त्वम्॥ यो० 4 पा०14 सू०॥

अर्थात् प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थिति शील सत्त्वादि गुणों का सब परिणाम होने से करण (साधन) इन्द्रिय या चित्त और ग्राह्य शब्द, रसादि भेद क्यों हैं?

चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षों का परान्तकाल होता है।'

(ख) 'जब तक 36000 वार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख का न होना, क्या छोटी बात है।' (सत्यार्थ० नवमसमुल्लास)

उत्तर–**(क) वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥**

यो० 4 पा० 15 सू०॥

वस्तु की समानता होने पर भी चित्त के भेद से ज्ञान तथा ज्ञेय का अलग-अलग मार्ग है। वस्तु एक होने पर भी चित्त को धर्म के कारण सुख-ज्ञान, अधर्म के कारण दुःखज्ञान, अविद्या के कारण मूढ़ताज्ञान और सम्यग्दर्शन के कारण उदासीन-ज्ञान होता है। जैसे स्त्री एक वस्तु है, उससे पति के चित्त को सुख, सपत्नी के चित्त को दुःख, और संन्यासी के चित्त को वैराग्य हो जाता है। यदि स्त्री रूप वस्तु चित्त से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता-वाली न होती, तो उपर्युक्त निदर्शन में अनेक चित्तवाले व्यक्ति उसे भिन्न-भिन्न रूपों में न देख सकते अतः स्पष्ट है कि चित्त और ज्ञेय पदार्थ भिन्न-भिन्न स्वतंत्र सत्ता वाले हैं।

(ख) न चैक चित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥

यो० 4 पा० 16 सू०॥

अर्थात् वस्तु एक चित्त के ही अधीन नहीं है। यदि एक चित्त के ही अधीन हो तो व्यग्र या निरुद्ध चित्त होने पर वह वस्तु अस्वरूप ही हो जावे अथवा किसी से गृहीत न हो सके। इसलिए सब वस्तुएँ तथा प्रत्येक पुरुष का चित्त भी स्वतन्त्र है।

(ग) तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम्॥

यो० 4 पा० 17 सूत्र॥

चित्त को उपराग की अपेक्षा होने से वस्तु ज्ञात तथा अज्ञात होती है। विषय चुम्बक के समान तथा चित्त लोहे के समान है। अतः चित्त विषयों की तरफ भागता है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत् प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥

यो०4 पा० 18 सू०॥

अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात होती हैं क्योंकि चित्त के स्वामी पुरुष (जीवात्मा) के अपरिणामी होने से, चित्त परिणामी है, अतः उसे वस्तु के ज्ञान के लिए उपराग की अपेक्षा होती है। परन्तु चित्त का स्वामी आत्मा अपरिणामी है, अतः वह चित्त की वृत्तियों का ज्ञाता है।

(घ) चित्त को ही अपने आभास वाला क्यों नही मान लिया जाए? इसका उत्तर देते हैं–

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ यो० 4 पा० 19 सूत्र॥

चित्त स्वयं प्रकाश वाला नहीं है, दृश्य होने से। क्योंकि दृश्य वस्तु प्राकृतिक होने से जड़ और चेतना के प्रकाश से शून्य होती है। और द्रष्टा होने से पुरुष (जीवात्मा) ज्ञान और चेतना का प्रकाशक है। यहाँ अग्नि का दृष्टान्त ठीक नहीं है। अग्नि अपने अप्रकाश स्वरूप को प्रकाशित करती है ऐसा नहीं है। और यह प्रकाश प्रकाश्य-प्रकाशक के संयोग से ही दृष्ट होता है। स्वरूपमात्र में संयोग कभी नहीं होता।

(ङ) एकसमये चोभयानवधारणम्॥ यो० 4 पा० 20 सूत्र॥

यदि आत्मा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार न की जावे और चित्त ही को सब कुछ मान लिया जाए, जैसा कि क्षणिकवादी-अनात्मवादी कहते हैं, तब उसका फल यह होगा कि चित्त और उसके विषय घटपटादि का एक समय में ग्रहण न हो सकेगा। क्योंकि चित्त और उसके विषय घट-पटादि दोनों ही प्राकृतिक होने से जड़ और परिणामी हैं। अतः जीवात्मा चित्त से भिन्न और अपरिणामी है।

(च) चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगःस्मृतिसङ्करश्च॥

यो० 4 पा० 21 सूत्र॥

यदि यह मान लिया जाए कि एक चित्त को अन्य चित्त का दृश्य मान लिया जाए और आत्मा को बिना माने ही कार्यसिद्धि हो जायेगी। इसका उत्तर दर्शनकार यह देते हैं–

यदि एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मानें, तो चित्त का चित्त मानना रूप अतिप्रसंग=अनवस्था दोष आ जायेगा और स्मृति का संकर होगा। भाव यह है– अनात्मवादी एक चित्त को दूसरे चित्त का द्रष्टा मानें, तो फिर उसका द्रष्टा तीसरे चित्त को, तीसरे का द्रष्टा चौथे को इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। इसके सिवाय यह दोष भी होगा कि चित्त स्मृति का भण्डार है। चित्त के द्रष्टा और दृश्य बनने रूप चक्र में स्मृति में संकर (गड़बड़) दोष आ जायेगा। अतः आत्मा को चित्त से भिन्न मानना आवश्यक है।

(छ) चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥ यो० 4।22सू०॥

अर्थात् चेतन और अपरिणामी जीवात्मा के उस (चित्त) के आकार को प्राप्त होने पर अपने चित्त का ज्ञान होता है।

यहां चित्त के आकार वाला जीवात्मा के हो जाने का यह अभिप्राय नहीं है, कि आत्मा सचमुच ही अपने स्वरूप को छोड़ चित्ताकार बन जाता है। उसका आशय यह है कि जैसे स्फटिकमाणि शुद्ध होती है, किन्तु उसके पास किसी भी लाल पीले आदि रंग फूल रखने से वह स्फटिकमणि उसी रंग का दिखाई देने लगता है। इसी

प्रकार जीवात्मा शुद्ध आकार रहित तथा अप्राकृतिक है। परन्तु सत्त्वादि गुणों वाले चित्त के समीप होने से जीवात्मा चित्ताकार सा प्रतीत होने लगता है। आत्मा में चित्त का इस प्रकार आभास होने से आत्मा को चित्त का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः यह माना जाता है–

द्रष्टृ-दृश्योपरक्तचित्तं सर्वार्थम्॥ योग० 4 पा० 23 सू०॥

अर्थात् चित्त जिस समय द्रष्टा जीवात्मा से उपरक्त होता है, तब वह द्रष्टा प्रतीत होने लगता है। और जब दृश्यों से उपरक्त होता है तब दृश्य प्रतीत होने लगता है। इन दोनों से उपरक्त होने से चित्त सर्वार्थ=अर्थात् सर्वरूपाकार निर्भास हो जाता है। इस प्रकार चित्त के द्रष्टा और दृश्य दोनों से उपरक्त होकर दोनों के रूप में प्रतीत होने से अनात्मवादी बौद्धादि मतों के विद्वान् चित्त ही को सब कुछ समझकर आत्मा का खण्डन करते हैं किन्तु यह उनकी भ्रान्ति तथा अज्ञान है। और चेतन आत्मा के बिना चित्त का मूल्य एक तुच्छ मिट्टी के ढेले से बढ़कर कुछ नहीं है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्॥

योग० 4 पा० 24 सू०॥

वह आत्मा से भिन्न चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित भी चेतन आत्मा के भोग व अपवर्ग के लिए ही है। क्योंकि जीवात्मा से मिलकर ही चित्त काम करता है। चित्त अचेतन होने से स्वयं कार्य नहीं कर सकता। व्यासभाष्य में 'संहत्यकारित्वाद् गृहवत्' लिखा है। अर्थात् जैसे घर किसी घर वाले पुरुष के साथ ही उपयुक्त होता है, अपने लिए नहीं, वैसे चित्त परतन्त्र होने से पुरुष के लिए है, पुरुष स्वतन्त्र व चेतन है।

चित्त में किस प्रकार की नित्यता है–

योग० 4।33 सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि लिखते हैं–

'द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामनित्यता च। तत्र कूटस्थ-नित्यता पुरुषस्य, परिणामनित्यता गुणानाम्।' अर्थात् नित्यता दो प्रकार की होती है–कूटस्थनित्यता तथा परिणामनित्यता। उनमें कूटस्थ नित्यता=एकरस नित्यता (अविकार नित्यता) आत्मा की है और परिणाम नित्यता सत्त्वादि गुणों की है। अतः चित्त, बुद्धि आदि गुणधर्म वाले होम से परिणाम नित्यता वाले हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ***'यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्।'*** (व्यास०) परिणाम को प्राप्त होती हुई जिस वस्तु में तत्त्व=उसका स्वरूप नष्ट न हो, वह वस्तु नित्य है। अतः सत्त्वादि गुणों वाला होने से चित्त में परिणाम-नित्यता है।

'बुद्धि' अन्तःकरण की एक वृत्ति है–

बुद्धि-तत्त्व क्या है? इस विषय में योगदर्शन में जो वर्णन मिलते हैं, उन को यहां संक्षेप में दिया जाता है–

(1) बुद्धि अन्तःकरण की वृत्ति है–योग दर्शन में मन के लिए प्रायः 'चित्त' शब्द का प्रयोग हुआ है 'हृदये चित्तसंवित्' (योग० 3।34) सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि लिखते हैं–'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित्'। अर्थात् इस शरीर में जो गुप्त कमलगृह=हृदय है, उसमें विज्ञान=अनुभव सामर्थ्य है, वहाँ संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि हृदयस्थ अंतःकरण में ही विज्ञान का स्थान है।

(2) बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यता प्रत्ययेन परिणतम्॥ (योग० 3।35 व्यासभाष्य)

अर्थात् बुद्धि और पुरुष दोनों अत्यन्त भिन्न होते भी अभेद प्रतिभान होता है। बुद्धिवस्तुप्रख्याशील=सत्त्वगुण की बीज शक्तिवाली है, वह समान सत्त्व के साथ सम्बन्ध करने वाले रजोगुण-तमोगुण को वश में करके वस्तु और पुरुष के भिन्नता रूप प्रतीति भान से परिवर्त्तित हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि बुद्धितत्त्व सतोगुणादि से युक्त है।

(3) योग दर्शन के 2।6 सूत्र पर व्यासमुनि लिखते हैं–

'पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते।' अर्थात् चेतनपुरुष दृक्शक्ति=द्रष्टृ-शक्ति (देखने वाला) है और बुद्धि दर्शनशक्ति (ज्ञान का साधन) है। इन दोनों की एक रूपावस्था जैसी प्रतीति अस्मिता क्लेश कहा जाता है।

(4) योग दर्शन 4।33 सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि लिखते हैं–

'तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु०' अर्थात् बुद्धि आदि गुण धर्म वाले हैं। और यो० 3।47 सूत्र के भाष्य में 'प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य' कह कर बुद्धि को प्रकाशात्मक (सत्त्वगुण प्रधान) माना है।

उपर्युक्त स्थलों पर बुद्धि को सत्त्वगुण प्रधान बताया है। और यह चित्त की ही एक वृत्ति होती है, उससे पृथक् नहीं। क्योंकि व्यासमुनि ने (योग० 1।2) सूत्र के भाष्य में चित्त को त्रिगुण बताते हुए लिखा है–

"चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव

तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति"॥

अर्थात् चित्त वस्तुतः प्रख्या=कान्ति, प्रवृत्ति=प्रगति तथा स्थिति=निवृत्ति स्वभाव वाला है। यह 'सत्त्वरजस्तमः' गुणों का बीजभाव वाला होने से त्रिगुणी है। सत्त्वप्रधान चित्त 'रजस्तमः' गुणों से संसृष्ट होता हुआ ऐश्वर्यप्रिय होता है; और वही चित्त तमोगुण की प्रधानता होने पर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्य को प्राप्त कराता है।

योगदर्शन में चित्त, मन तथा बुद्धि शब्दों को पयार्यवाची मानकर ही प्रयोग किया है। सम्पूर्ण दर्शन में अन्तःकरण के लिए चित्त शब्द का बाहुल्य से प्रयोग है और जैसे चित्त को ऊपर त्रिगुणी माना है, वैसे ही बुद्धि को भी त्रिगुणी मानते हुए व्यास मुनि लिखते हैं–

प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणः॥ 2।15 व्यास भा०॥

अर्थात् बुद्धि=चित्त के सत्त्व-रजस्-तमोरूप गुण शान्त, घोर या मूढ़ प्रतिभान को उत्पन्न करते हैं। 'चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामिचित्तमुक्तम्' (योग० 2।15 व्यास०) गुणों का व्यवहार अस्थिर और चित्त को शीघ्र परिणामी कहा गया है।

इससे स्पष्ट है कि जो सांख्यदर्शन में ज्ञानादि बुद्धि के धर्म माने हैं, वे ही योगदर्शन में चित्त के माने हैं। अतः बुद्धि को चित्त की अथवा अन्तःकरण की ही एक वृत्ति मानना उचित है, न्यायदर्शन में भी इसी बात की पुष्टि की गई है–

'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः; मनोऽत्राभिप्रेतम्।' (वात्स्यायनभाष्य०)

अर्थात् ज्ञान का साधन बुद्धि मन ही है; और 'बुद्धि' शब्द जहाँ ज्ञान का वाचक है, वहाँ वह गुण है। दर्शनों के इस विशिष्ट-रहस्य को अवश्य समझना चाहिए।

महर्षि दयानन्द और मनोविज्ञान

(1) शिक्षा में महर्षि-मनोविज्ञान का महत्त्व।

(2) मन की उत्पत्ति।

(3) मन का स्वरूप।

(4) मन की वृत्तियाँ।

(5) वृत्तियों का निरोध के उपाय।

(6) मन की स्थिरता कहाँ करे?

(7) मनोविजय कैसे होता है?

(8) मन की शक्ति के उपाय।

(9) मन का शरीर में स्थान।

(10) मुक्ति के लिए किन गुणों को धारण करें?

(11) मन के त्रिविध गुणों का वर्णन।

(12) त्रिविध गुणों का फलोदय।

(13) मन पर-शरीरों में नहीं जाता।

(14) मन जड़ है।

(15) मन सूक्ष्मशरीर का एक घटक है।

(16) मोक्ष में अन्तःकरण आत्मा के साथ नहीं रहते।

(17) बुद्ध्यादि मन की वृत्तियाँ हैं।

(18) विविध–अर्थात् मानसरोग, ज्ञान कैसे होता है, मन द्रव्य है गुण नहीं, बुद्धि क्या है, मन की जीत सुख का साधन, जितेन्द्रिय राजा ही सुशासक, परमेश्वरसुखानुभूति अन्तःकरण से, अन्तःकरण जीव के आधीन, मन बहिर्मुख कैसे होता है, अन्तःकरण की परिपक्वता (तप)।

(19) मन साकार पदार्थों में स्थिर नहीं होता।

(20) कर्मफलभोक्ता जीव है, मन नहीं।

(21) मनादि के साक्षात्कार का उपाय।

(22) मानस कर्मों का फल मन से भोगा जाता है।

(23) मन का संयम धर्म है।

(24) अन्तःकरण परम सूक्ष्म है।

(25) मन का योग बाह्य तथा आभ्यन्तर क्रियाओं से।

(26) मन की शान्ति के बिना पठनादि निरर्थक हैं।

(27) मन देव है।

(28) मनों का साक्षी परमेश्वर है।

(29) मन की जीत से इन्द्रियजय।

(30) ज्ञान-प्रक्रिया।

(31) मानसिक दुःख।

(32) मन की गणना देवों में की है।

(33) मन शब्द के विभिन्न अर्थ।

(34) मन इन्द्रिय है।

(35) बुद्ध्यादि से आत्मा भिन्न है।

(36) हृदय शब्द का मन के अर्थ में प्रयोग।

(37) चित्त के नौ विक्षेप।

(38) मन में क्लेश और उनकी वासनाएँ रहती हैं, आत्मा में नहीं। मनोविज्ञान के उपर्युक्त विषयों पर महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में विचार किया है। इस सूक्ष्म तथा गहन विषय पर महर्षि के अलौकिक विचारों पर विद्वानों को अवश्य मनन तथा क्रियान्वयन करना चाहिए। तभी मानव-जीवन के पुरुषार्थों की सिद्धि हो सकती है।

शिक्षा में महर्षि-मनोविज्ञान का महत्त्व–

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा में मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व माना है। शिक्षा के दृश्य-श्रव्य उभयविध साधनों में मनादि अन्तःकरण का विशेष महत्त्व है। शिक्षा के क्षेत्र में इन्द्रिय, मनादि के संयम के अतिरिक्त उनकी शुद्धि भी परमावश्यक है। महर्षि ने गर्भाधान से ही इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है। महर्षि के लेखों से इस बात की प्रबल पुष्टि होती है। देखिए–

(1) "माता-पिता को उचित है कि गर्भाधान से पूर्व, मध्य, और पश्चात् मादक द्रव्य मद्य, दुर्गन्ध, रुक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़कर जो शान्ति, आरोग्य, बल, पराक्रम, और सुशीलता से सभ्यता प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपानादि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें।" (सत्यार्थ० 2 समु०)

(2) "जो कोई दरिद्र हो, धायी को न रख सकें, तो वे गाय या बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जो कि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, करनेहारी हों, उनको शुद्ध जल में भिजो, ओटा, छान के दूध में समान जल मिला के बालक को पिलावें।" (सत्यार्थ० 2 समु०)

(3) "बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हो, और अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें।.....जब वह कुछ 2 बोलने लगे और समझने लगे, तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य पिता-माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो के सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें, वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें।" (सत्यार्थ० 2 समु०)

(4) "देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति रहती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण, और स्पर्शादि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उच्चत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें।" (सत्यार्थ० 2 समु०)

(5) "जैसे अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोहादि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें।" (सत्यार्थ० 2 समु०)

(6) "जो अध्यापक पुरुष या स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।" (सत्यार्थ० 3 समु०)

(7) (क) "जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर-क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।"

(ख) "पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहे। सबको तुल्यवस्त्र, खान-पान, आसन दिए जाएँ, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें।" (सत्यार्थ० 3 समु०)

(8) (क) "यमों के बिना केवल नियमों का सेवन न करें किन्तु इन दोनों का सेवन किया करें।"

(ख) "आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचार कर, प्रमाद रहित होके पढ़-पढ़ा, पूर्णब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं का ग्रहण...जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण, उनको कभी मत कर इत्यादि।"

(9) (क) "परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, और उपासना की रीति सिखलावे।"

(ख) "वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामी स्वरूप हमको दुष्टाचार अधर्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार मार्ग में चलावें। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग न करें।" (सत्यार्थ० 3 समु०)

(10) "(शमः) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा के पढ़ते पढ़ाते जाएँ।"

"(दमः) बाह्य-इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जाएँ।" (सत्यार्थ० 3 समू०)

उपर्युद्धृत महर्षि के कतिपय प्रकरणों पर जब हम विचार करते हैं, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि ने मनोविज्ञान का बहुत ही अधिक ध्यान दिया है। बच्चे के निर्माण समय से ही यह परम आवश्यक है कि बच्चे का आहार तथा वातावरण ऐसा होना चाहिए कि जिससे उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों के विकास के साथ सत्त्वगुण तथा शुद्ध विचारों की प्रधानता मिल सके। उसके अन्तःकरण पर ऐसा कोई प्रभाव न पड़े कि वह राग, द्वेषादि के प्रभाववश दुस्स्वभाव वाला हो जाए। उसको मादक मद्यादि आहार तथा बुरी संगति से बचाकर अच्छे बच्चों की संगति में ही रक्खा जाय। उसे बचपन से ही ऐसे दृश्य तथा श्रव्य साधन उपलब्ध कराएँ जो भद्र=कल्याणकारक हों। शिक्षा के लिए सदाचारी, धार्मिक तथा विद्वान् गुरु के पास ही भेजा जाए, जो उसके सर्वाङ्गीण विकास की समुचित शिक्षा दे सके। उस शिक्षा में नैतिक, चरित्र-निर्माण करने वाली शिक्षा की ही प्रमुखता होनी चाहिए। शिक्षा के आदिगुरु परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना तथा उपासना भी अवश्य सिखाएँ। क्योंकि वह परमेश्वर मनीषी=मन का साक्षी है। उसी के दृढ़ विश्वास तथा उपासना से बच्चा मानसिक दुर्गुणों तथा दुर्व्यसनों से सुरक्षित रह सकता है, और जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं के प्रभाव से भी बच सकता है।

महर्षि ने शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व समझकर ही सत्यार्थप्रकाश के 2-3 समुल्लासों में विशेष बल दिया है। महर्षि के उन अमूल्य एवं उपयोगी परामर्शों को भुला कर शिक्षा में मनोविज्ञान का कोई भी लाभ नहीं प्राप्त किया जा सकता। ***मानस-पटल के कलुषित होने पर कितनी भी शिक्षाएँ दी जाएँ, उनका प्रभाव नगण्य ही होता है।*** महर्षि ने मन की शुद्धि के लिए अष्टविध मैथुनों के परित्याग पर विशेष बल दिया है। आधुनिक-शिक्षा में उनका परित्याग तो दूर रहा, उनके प्रवर्धक साधनों के कारण मानस-पटल की शुद्धि वन्ध्या-पुत्र की भाँति असम्भव ही है। और अशुद्ध मन पर शुद्धि विद्यादि गुणों का कैसे प्रभाव हो सकता है?

महर्षि ने प्राचीन शास्त्रों के गम्भीराध्ययन तथा चिन्तन करके ही मन की रचना, मन का स्वरूप, मन का स्थान, मन की वृत्तियाँ तथा निरोध का उपाय, तथा मन के राग-द्वेषादि मल तथा उनका दूरीकरण का उपाय, आदि बताए हैं। इनको न समझ कर अथवा इनके अनुसार न चलकर क्या हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं? कदापि नहीं। क्योंकि यह मनोविज्ञान की शाश्वत, सत्यद्या ऋषि-महर्षियों ने घोर-तपस्या करके स्वयं साक्षात् अनुभवों के आधार पर लिखी है। इस सत्य-सनातन-पद्धति

का परित्याग करने से शिक्षा के क्षेत्र में जो दोषों की भरमार हो गई है, जिसके फलस्वरूप शिक्षा शिक्षा ही नहीं रही, प्रत्युत दोषावह बनकर साक्षर राक्षस बना रही है। आचार्य यास्क ने सत्य ही कहा है–

"यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥" (निरुक्त)

अर्थात् जो छात्र मन, वाणी तथा शारीरिक दोषों से रहित होने से शुद्ध है, जो प्रमादादि दोषों से रहित है, जिसने मादक मद्यादि को त्याग कर मेधाबुद्धि को प्राप्त किया है, और ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, उसे ही शिक्षा देनी चाहिए। अन्यथा विद्या कभी सफल नहीं होगी। प्राचीन काल में तीन समिधाएँ लेकर विद्यार्थी गुरु के चरणों में जाता था। उसका भाव भी यही था कि शिष्य समिधाओं से अपने भावों को प्रकट करता था कि गुरुवर! मैं, मन, वाणी तथा शरीर से स्वस्थ तथा शुद्ध हूँ। मुझ में इन शुष्क तथा शुद्ध समिधाओं की भाँति ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करो।

यदि आज हम महर्षि की वेदादि शास्त्रों के मन्थन तथा योगाभ्यास से परिपक्व शास्त्रसम्मत मान्यताओं को मान कर चलेंगे, तो हमें सन्मार्ग पर चलने से यथार्थ में सफलता मिलेगी। अन्यथा गन्दगी से भरे पात्र में शुद्ध जल डालने पर भी शुद्धि की क्या आशा होगी?

मन की उत्पत्ति–महर्षि दयानन्द ने मन की उत्पत्ति अहंकार से मानते हुए लिखा है–

(क) "जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृति रूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व और उससे कुछ स्थूल है, उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पाञ्च सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, पाञ्च ज्ञान इन्द्रियां, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाञ्च कर्म-इन्द्रिय हैं और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पाञ्च स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं।" (सत्यार्थ० अष्टम समु०)

(ख) 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः०' इस सांख्यसूत्र की व्याख्या में महर्षि मन को अहंकार का विकार मानते हुए लिखते हैं– "सत्त्व=शुद्ध, रजः=मध्य, तमः=जाड्य, अर्थात् जडता, तीन वस्तु मिल कर जो एक संघात है, उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व=बुद्धि उससे अहंकार, उससे पाञ्चतन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पाञ्च तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाञ्चभूत, ये चौबीस

और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पाञ्च सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियां, मन तथा स्थूलभूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति=उपादानकारण और किसी का कार्य है।"

(ग) "प्रकाश के परमाणुओं से मन और पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्यादि को ईश्वर रचता है और अन्धकार रूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है।"

(ऋ० भा० भू० 29० पृ०)

इस प्रकार मन की उत्पत्ति महर्षि ने अहंकार से मानी है। अहंकार महत्तत्त्व का विकार और महत्तत्त्व प्रकृति का विकार है। इस प्रकार मन प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक तथा जड़ है। इसमें जो भी प्रकृति तथा ज्ञानग्राहकता है, वह सब जीवात्मा के कारण है।

मन का स्वरूप–(क) 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इस (न्याय० 1।1।16) सूत्र के अनुसार महर्षि ने मन का स्वरूप इस प्रकार माना है–जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण-ज्ञान नहीं होता, उसको मन कहते हैं। (सत्यार्थ० 3समु०)

(ख) ऋग्वेद 8।4।49।3 के 'समानो मन्त्रः' मन्त्र का अर्थ करते हुए महर्षि ने मन व चित्त की व्याख्या इस प्रकार की है–

"शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम **मन** है। उससे सदा पुरुषार्थ करो। जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा *चित्त उसको कहते हैं कि जिससे सब अर्थों का स्मरण* अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह तुम्हारा एक सा हो।" (ऋ० भा० भू० वेदोक्त० 94 पृ०, आ. सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

(ग) यजुर्वेद के 34 वें अध्याय के 'यज्जाग्रतो०' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या में महर्षि ने मन का स्वरूप इस प्रकार बताया है–

(1) "जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर 2 घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्) ज्ञानादि दिव्य गुण वाला तथा प्रकाश स्वरूप रहता है। वैसे ही निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे। (ज्योतिषा०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला और एक है।" (ऋ० भू० 153 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

"ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकम्"

यहां संस्कृत में कुछ अधिक स्पष्ट किया गया है अर्थात् मन इन्द्रियों का तथा

सूर्यादि=प्राणादि का प्रकाशक है।

(घ) ऋग्वेद के 'समानमस्तु वो मनः' (ऋ० 8।8।49।4) मन्त्र में पठित 'मनः' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है–

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव०।" (शतपथ० का० 14 अ० 4)

"मनः शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायें"–

"(कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्त व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना, इसका नाम काम है।

(संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों के प्राप्त होने के लिए प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है, उसको संकल्प कहते हैं।

(विचिकित्सा) जो 2 काम करना हो उस 2 को प्रथम शंका कर करके ठीक निश्चय करने के लिए जो सन्देह करना है उनका नाम विचिकित्सा है।

(श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको श्रद्धा जानना।

(अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने, और अन्यायादि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिए।

(धृतिः) जो सुख-दुःख-हानि-लाभ आदि होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना, उसका नाम धृति है।

(अधृतिः) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं।

(ह्री) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको ह्री कहते हैं।

(धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है, उसको 'धीः' कहते हैं।

(भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उल्टे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता हैं, ऐसा जानकर उससे सदा डरना कि जो मैं पाप करूँगा, तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा, इत्यादि गुणवाली वस्तु का नाम मन है।" (ऋ० भू० 96 पृ० वेदोक्तधर्मविषयः, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मन की वृत्तियां–महर्षि दयानन्द ने 'वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टा-क्लिष्टाः' (योग० 1।6) इस सूत्र का अर्थ करते हुए लिखा है–

'सब जीवों के मन से पाञ्च प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं–एक क्लिष्ट, दूसरा अक्लिष्ट अर्थात् क्लेश सहित और क्लेश रहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेश सहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं, उनकी क्लेशरहित शान्त होती है। वे पाञ्च वृत्तियाँ ये हैं–'

पहली (प्रमाण) दूसरी (विपर्यय) तीसरी (विकल्प) चौथी (निद्रा) और पाञ्चवीं (स्मृति)। उनके विभाग और लक्षण ये हैं–

1. (प्रमाण)–इस की व्याख्या वेद-विषय के होम प्रकरण में लिख दी है। (प्रत्यक्षादि प्रमाण की व्याख्या योगदर्शन के प्रकरण में देख सकते हैं।)

2. (विपर्यय)–दूसरी विपर्यय कि जिससे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको विपर्यय कहते हैं।

3. (विकल्प)–तीसरी विकल्पवृत्ति, जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे, इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य होते होंगे, ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं। सो झूठी बात है अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम विकल्प है।

4. (निद्रा) चौथी निद्रा अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अधंकार में फंसी हो, उस वृत्ति का नाम निद्रा है।

5. (स्मृति)–पाञ्चवीं स्मृति अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता है और उस विषय को भूले नहीं, इस वृत्ति को स्मृति कहते हैं। (ऋ० भू० 166 पृ० उपासनाविषयः, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मन की तीन वृत्तियां–महर्षि दयानन्द ने प्राणापाननिमेष०, (वैशेषिक०) सूत्र की व्याख्या में मन की व्याख्या में तीन वृत्तियां भी मानी हैं–

(क) 'मनः=निश्चय, स्मरण, और अहंकार करना।' (सत्यार्थ० सप्तम०)

(ख) *स्मरणात्मक वृत्ति अर्थात् चित्त मन ही है, भिन्न नहीं।* इस विषय में यजु० के 'यस्मिन्नृचः' मन्त्र की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं–

"जिसमें सब प्रजा की चित्त=**जो स्मरण करने की वृत्ति है,** सो सब गंठी

भई है जैसे माला के मणिए सूत्र में गंठे भए होते हैं.....ऐसा जो मेरा मन है।" (ऋ० भू० पृ० 8, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

(1) "जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा, निश्चयात्मक-वृत्ति है। और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाश युक्त नाशरहित है। जिसके बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता, वह मेरा मन०।"

(2) "जिससे सब योगी लोग इन सब भूत भविष्यत् वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाश रहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलके सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है, पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन०।"

(3) "मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है, जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन०।"

(4) "मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है। जो हृदय में प्रतिष्ठित,गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है, वह सब **इन्द्रियों को अधर्माचरण** से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे।" (सत्याथ० सप्तम समु०)

उपर्युक्त यजुर्वेद के चार मन्त्रों के अर्थ महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में किए है। इनसे निम्न तथ्यों का स्पष्टीकरण होता है–

(क) ***स्मरण करने वाली चित्तवृत्ति तथा निश्चय करने वाली बुद्धि वृत्ति मन की ही वृत्तियाँ हैं। मन से भिन्न चित्त और बुद्धि नहीं है।***

(ख) मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है, और यह जन्म-जन्मान्तरों में भी जीवात्मा के साथ रहता है, और इस भौतिक शरीर के साथ नष्ट न होने से इसे अमृत=नाश रहित कहा है। किन्तु यह भी प्रकृति के अहंकार का परिणाम है, अतः जीव के साथ मुक्ति पर्यन्त ही रहता है।

(ग) मन का स्थान हृदय है।

(घ) मन के संयम से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

(ङ) मन ज्ञानेन्द्रिय तथा आत्मा से युक्त होकर ही काम करता है। अतः शरीर से बाहर दूसरे शरीर में मन के प्रवेश की बात मिथ्या तथा कल्पित ही है।

मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय–

"इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय

कहते हैं कि–

(1) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ योग०॥

जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे, वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना।" (ऋ० भू० उपासनाविषयः)

वृत्ति–निरोध का प्रयोजन–

(क) "प्रश्न–जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती है? इसका उत्तर यह है कि–जैसे जल के प्रवाह को एक और दृढ़ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति रोकने का यह प्रयोजन है। और दूसरा यह है कि–

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ योग०॥

अर्थात् उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष-शोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोक रूप दुःख सागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अधंकार में फंसती जाती है।"

(ऋ० भू० उपासना०)

(ख) "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥1॥

तदा द्रष्टुः सवरूपेऽवस्थानम्॥2॥

ये योगशास्त्र पातञ्जल के सूत्र हैं–मनुष्य रजोगुण, तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुण युक्त कर्मों से भी मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त का ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना।

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है।" (सत्यार्थ नवम समु०)

(2) "प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ योग० 1।34॥

जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु

को बाहर निकाल के सुख पूर्वक जितना बन सके, उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है।

(3) मैत्रीकरुणामुदितापेक्षाणाम्० (योग० 1।33)

मैत्री अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणि सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना,दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी, पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता, पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना, इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्य धर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है।" (ऋ० भू० उपासना० पृ० 172, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मन की स्थिरता कहां करे–

(क) "**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा** (योग० 3।1)

मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मन, मस्तक, नासिका, और जीभ के अग्रभागादि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना।" (ऋ० भू० उपासना० पृ० 178)

(ख) "इन्द्रियों को रोककर मन को नाभिप्रदेश, हृदयादि स्थानों पर स्थिर करें।" (सत्यार्थ० सप्तम०)

मनो विजय कैसे होता है–

(क) "मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय, और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय होता है।" (ऋ० भू० 29० पृ०)

(ख) "मन के विज्ञानादि गुण हैं। वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं।" (ऋ० भू० पृ० 112)

मन (अन्तःकरण) की शुद्धि का उपाय–

(1) "जब इन साधनों (यम=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, और नियम=शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान) को करता है, तब उसका आत्मा और **अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य** से पूर्ण हो जाता है।" (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समु०)

(2) (क) "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ मनु०॥

जल से शरीर के बाहर के अवयव, **सत्याचरण से मन,** विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सह के धर्म ही के अनुष्ठान करने जीव-आत्मा, ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि दृढ़ निश्चय पवित्र होता है।" (सत्यार्थ 3 समु०)

(ख) "किन्तु जल से ऊपर के अंग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने, और सत्य करने से शुद्ध०।"

(संस्कारविधि गृहाश्रम०)

3. (क) प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:॥ योग०॥

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता है। जब तक मुक्ति न हो, तब तक उसके आत्मा में ज्ञान बराबर रहता है"। (सत्यार्थ 3 समु०)

(ख) दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मला:। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा: प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु०॥

"जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट हो कर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।" (सत्यार्थ 3 समु०)

(ग) "इस प्रकार करने से (प्राणायाम और ओ३म् के जप से) आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।" (सत्यार्थ 3 समु०)

(घ) "प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र=सूक्ष्म रूप हो जाती है।" (सत्यार्थ 3 समु०)

(4) 'जो मनुष्य 44 वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्त:करण, आत्मा बल युक्त हो के सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते है।' (सत्यार्थ 3 समु०)

(5) 'जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं, वही सब वेदान्त अर्थात् सब के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है।'

(सत्यार्थ० समु०)

(6) "भीतर रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना, अर्थात् सत्यासत्य के विवेक पूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से (बुद्धि) निश्चय पवित्र होता है।" (सत्यार्थ० 4 समु०)

(7) "नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रक्खें। क्योंकि इनके

शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि०।" (सत्यार्थ० दशम समु०)

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः॥

यह छान्दोग्य का वचन है अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्य मांसादिरहित घृत दुग्धादि चावल गेहूँ आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि बल पुरुषार्थ, आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है।" (संस्कारविधि० गर्भाधान०)

(9) धारणाभिश्च किल्विषम्॥

"धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को.....भस्म कर देवे।" (संस्कारविधि संन्यास०)

(10) **मन की अपवित्रता क्या है–**

"(शौचम्) राग, द्वेष, मोहादि से मन और आत्मा को.....सदा पवित्र रखना।" (संस्कारविधि गृहाश्रम०)

(11) "शौच से अन्तःकरण की शुद्धि मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय, तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है।" (ऋ० भू० उपासना० 174 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

(12) **मन शुद्धि से लाभ–**

"मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्यज्ञान होता है और उसमें जो विज्ञानादि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनसे परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी 2 सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्यादि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र–और विद्यायुक्त करना है, ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्म-कार्य सिद्ध होते हैं।" ऋ० भू० 113 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

इस प्रकार महर्षि ने मन की शुद्धि के लिए राग, द्वेषादि मलों की शुद्धि, सत्याचरण, ईश्वरोपासना, विद्यावृद्धि करके अज्ञान दूर करना, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन, ओर 'ओ३म्' का जप करते हुए प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करना आदि उपाय बनाए हैं।

मन का शरीर में स्थान–

यजुर्वेद के 34 वें अध्याय के छठे मन्त्र में मन का स्थान शरीर में कहां है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है–

"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः०"॥

जो (मन) हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है। इससे स्पष्ट है कि शरीर में मन का स्थान हृदय है। उपनयन तथा विवाह संस्कारों में भी हृदय पर स्पर्श करा कर मनों की समानता के लिए उपदेश किया जाता है। और हृदय में मन या अन्तःकरण के निवास स्थान होने से ही हृदय शब्द मन का भी पर्यायवाची है। इसीलिए वेदों में भी "समाना हृदयानि वः" कह कर प्रार्थना की गई है।

वह हृदय-स्थान शरीर में कहां है? इस विषय में विद्वानों में भी दो मत हैं। कुछ तो हृदय ही मान बैठे हैं, एक शिर में और दूसरा छाती में। किन्तु महर्षि दयानन्द ने हृदय स्थान का बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है–

(क) "कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है" जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं।" (ऋ० भू० 180 पृ०)

(ख) "(अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्) दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अंगुलि शब्द अंग अवयववाची है। पाञ्च स्थूलभूत और पाञ्च सूक्ष्मभूत ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं तथा पाञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदय देश है, सो भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है।" (ऋ० भू० 120 पृ०)

इस महर्षि के दूसरे लेख से बहुत ही स्पष्ट है कि हृदय को दशाङ्गुल इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसके 5 प्राण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव अवयव के समान हैं। अर्थात् हृदय इनका निवास स्थान है।

मुक्ति के लिए किन गुणों को धारण करे?

'मन' अहंकार का परिणाम है, अतः प्रकृति का विकार होने से उसमें सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव बना रहता है। कभी कोई गुण प्रधान होता है, तो दूसरा दबा रहता है। मुमुक्षु जीवों को मुक्ति के लिए सतोगुण की प्रधानता रखनी आवश्यक है। इस विषय में महर्षि लिखते हैं–

"सदा तमोगुण अर्थात्–क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमाद आदि, रजोगुण अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेपादि दोषों से अलग हो के सत्त्व अर्थात् शान्त प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचारादि गुणों को धारण करे।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

मन के त्रिविध गुणों का वर्णन–

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥ मनु०॥

अर्थ–जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव

को अपने सदृश कर देता है।

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजःस्मृतम्।। मनु०॥

अर्थ–जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तम, और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे, तब रजोगुण जानना चाहिए।

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्।। मनु०॥

अर्थ–जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न प्रशान्त के सदृश शुद्ध भावयुक्त वर्त्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं।

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात् सततं हारि देहिनाम्।। मनु०॥

अर्थ–जब आत्मा दुःखसंयुक्त प्रसन्नता रहित विषय में इधर-उधर गमन आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण और तमोगुण अप्रधान है।

यत्तु स्यान्मोह संयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्।। मनु०॥

अर्थ–जो मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क रहित, जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिए कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं। (सत्यार्थ० नवम समु०)

त्रित्रिध गुणों का फलोदय–

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्।। मनु०॥

अर्थ–जो वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म क्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है यही सत्त्वगुण का लक्षण है।

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्त्रं राजसं गुणलक्षणम्।। मनु०॥

अर्थ–जो रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्य-त्याग, असत्यकर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त्त रहा है।

लोभो स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्।। मनु०॥

अर्थ–जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न 2 अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, जिस किसी से याचना मांगना, प्रमाद अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट व्यसनों में फंसना होवे, तब समझना कि तमोगुण मुझमें बढ़ कर वर्त्तता है।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मःश्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्।। मनु०॥

अर्थ–तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा और सत्त्व गुण का लक्षण धर्मसेवा करना है परन्तु तमोगुण से रजोगुण, और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है। (सत्यार्थ० नवम समु०)

मन पर-शरीर में नहीं जाता–

एक यह भी प्रश्न महत्त्वपूर्ण विद्वानों का विवादास्पद रहा है कि क्या मन शरीर से बाहर भी जा सकता है। इस विषय में महर्षि का स्पष्ट मत यह है कि मन अपने शरीर से पर-शरीर में जीवात्मा से भिन्न होकर कभी नहीं जा सकता। इसमें महर्षि के विचार इस प्रकार हैं–

(1) मन को महर्षि ने प्रकृति का विकार होने से जड़ माना है। और अचेतन वस्तु स्वयं कुछ नहीं कर सकती।

(2) मन को सूक्ष्म-शरीर का एक घटक माना है। जीवात्मा इस से आवेष्टित होता है और जन्म-जन्मातरों में जीवात्मा इसके आश्रय से जाता है। अतः मन जीवात्मा के मुक्ति होने तक साथ रहता है।

(3) महर्षि ने मन (अन्तःकरण) को प्राणों के समान जीवात्मा के आधीन माना है, अतः मन परतन्त्र होने से आत्मा से भिन्न कैसे कार्य कर सकता है।

(4) महर्षि ने शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या में ***दैवम्=देवे=आत्मनि भवम्*** लिखकर यह स्पष्ट लिखा है कि यह जीवात्मा के आश्रय से क्रिया में प्रवृत्त होता है पृथक् होकर नहीं।

शिवसंकल्प-मन्त्रों में पठित "सप्तहोता" पद की व्याख्या में महर्षि ने माना है कि यह मन पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है। इससे स्पष्ट है कि मन आत्मा से भिन्न होकर कदापि कुछ भी नहीं कर सकता।

(6) मन को समस्त शास्त्रों के अनुसार महर्षि ने अन्तःकरण माना है। और जो करण है, वह कभी भी कर्त्ता के बिना कार्य नहीं करता। इस प्रत्यक्ष के विरुद्ध मन को स्व-शरीर से पर-शरीर में तथा जीवात्मा से भिन्न होकर दूसरे शरीरों में जाने की बातें कदापि सत्य नहीं हो सकतीं।

मन (अन्तःकरण) जड़ है–

(क) 'देह और अन्तःकरण जड़ हैं, उनको शीतोष्णप्राप्ति और भोग नहीं है। जैसे पत्थर को शीत और उष्ण का भान या भोग नहीं है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी, उसको स्पर्श करता है, उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ हैं। न उनको भूख, न पिपासा, किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा, तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है। न उसको हर्ष, न शोक हो सकता है, किन्तु मन से हर्ष, शोक, दुःख, सुख का भोग जीव करता है।' (सत्यार्थ० नवम समु०)

(ख) "अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार" (सत्यार्थ० नवम समु०)

उपर्युक्त महर्षि के वचनों से स्पष्ट है, *मनादि सब अन्तःकरण हैं, और वह प्रकृति का विकार होने से जड़ है।* जो विद्वान् ऐसी मान्यता बनाए हुए हैं कि मन (अन्तःकरण) जीवात्मा का गुण या शक्ति है, उन्हें महर्षि के वचनों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(ग) "जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है। क्योंकि बिना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग या पाप-पुण्य कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

(घ) "व्यान (वायु) से जीव सब शरीर में चेष्टादि करता है।"

(सत्यार्थ० नवम समु०)

(5) "जिसके जीव के आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय, और अन्तःकरणादि हो।" (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

इत्यादि महर्षि ने समस्त लेखों से मन को जड़ माना है। और यह जीवात्मा के आश्रय से कार्यों में प्रवृत्त होता है। यथार्थ में जीवात्मा ही कर्त्ता, ज्ञाता तथा भोक्ता है।

मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है–

महर्षि ने तीन शरीरों (स्थूल शरीर, सूक्ष्मशरीर और कारण शरीर) की व्याख्या

करते हुए सूक्ष्म-शरीर का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है–

"दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत, और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्म-शरीर' कहाता है। यह सूक्ष्म-शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं–एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप[1] है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में रहता है, इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

इस महर्षि के लेख से निम्न बातों का स्पष्टीकरण होता है–

(क) मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है।

(ख) सूक्ष्म-शरीर सूक्ष्मभूतों के अंशों से निर्मित होने से मन भी सूक्ष्मभूतों के अंशों से निर्मित है।

(ग) सूक्ष्म-शरीर का एक घटक होने से मन जन्म-जन्मान्तरों में जीवात्मा के साथ रहता है।

(घ) भौतिक (सूक्ष्मभूतों के अंश से निर्मित) सूक्ष्म-शरीर का घटक मन मोक्ष में आत्मा के साथ नहीं रहता।

(ङ) **बुद्धिवृत्ति यद्यपि मन की ही एक वृत्ति है। यह महर्षि के अन्य लेखों से सिद्ध है, किन्तु यहाँ मन से भिन्न बुद्धि को रखने से सन्देह अवश्य होता है। परन्तु 'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' यह निश्चयात्मक वृत्ति अन्तःकरण की ही एक वृत्ति है। ब्राह्मण-वसिष्ठन्याय से गौणप्रधान भाव दिखाने से लिए सम्भव है, इसको पृथक् दिखाया हो।**

मोक्ष में अन्तःकरण आत्मा के साथ नहीं रहते–

(1) पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (योग० 4।34)

---

1. महर्षि ने जीवात्मा के निम्न 24 स्वाभाविक गुण माने हैं–
"(प्रश्न) उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है?
(उत्तर) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन 24 चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति, भोग करता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

"अर्थात् कारण के सत्त्व, रजः और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान की वृद्धि यथावत् होके स्वरूप-प्रतिष्ठा जैसा जीवन का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप, विज्ञान, प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य=मोक्ष कहते हैं।" (ऋ० भू० 184 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

(2) "मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब संकल्प विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त, और अहङ्कार के अर्थ अहंङ्काररूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है। और संकल्प मात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

(3) "मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर सङ्कल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं। क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते।" (सत्यार्थ० नवमसमु०)

(4) "यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है, दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

(5) "(प्रश्न) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता।

(उत्तर) (दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोक्ता तथा उसमें रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियाँ प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं।" (ऋ० भू० 186 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

(6) "यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

उपर्युक्त महर्षि के ग्रन्थों के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि मुक्ति में जीव के साथ प्रकृति से बनी कोई वस्तु नहीं जाती। यह जन्म-जन्मान्तरों में जीव के साथ जाने वाला (भौतिक) सूक्ष्म-शरीर भी जीव के साथ मुक्ति में नहीं रहता। *मुक्ति में जीव के स्वाभाविक गुण ही रहते हैं। सतोगुणादि का आश्रय, प्रकृति का विकार तथा*

सूक्ष्म-शरीर का एक घटक मन भी जीव के साथ मुक्ति तक ही रहता है, मुक्ति में नहीं।

बुद्ध्यादि मन की वृत्तियाँ हैं–

बुद्ध्यादि वृत्तियों के विषय में प्राय: सन्देह ही रहता है कि ये (बुद्धि, चित्त, मन तथा अहङ्कार) भिन्न-भिन्न हैं, या अन्त:करण की वृत्तियाँ हैं? महर्षि-दयानन्द के लेख से यही स्पष्ट होता है कि ये सब अन्त:करण की वृत्तियाँ ही हैं। इस तथ्य की पुष्टि निम्न विचारों से होती है–

(1) योगदर्शन के "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:" सूत्रार्थ में महर्षि ने चित्त का अर्थ मन ही किया है। और शिवसंकल्प-मन्त्रों की व्याख्या में स्मरणात्मक वृत्ति मन को बताई है।

(2) बुद्धि की निश्चयात्मक वृत्ति मानी गई है। महर्षि ने यजु० 34।5 मन्त्र की व्याख्या में मन की निश्चयात्मक वृत्ति मानी है। अत: सांख्य में जो बुद्धि का लक्षण किया है, वह मन की वृत्ति है।

(3) शिव-संकल्प मन्त्रों के अर्थ में (वेद-भाष्य के भावार्थ में) अन्त:करण की ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार चार वृत्तियाँ मानी हैं।

(4) सत्यार्थ प्रकाश (7 वें समु०) में–

"मन:=निश्चय, स्मरण, और अहङ्कार करना।"

यहाँ 'मन' शब्द के निश्चयादि तीनों अर्थ किए हैं।

(5) महर्षि ने ऋ० भू० में 'दशाङ्गुल' शब्द की हृदय-परक व्याख्या में हृदय में ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार को माना है। और इन्हें अन्त:करण माना है। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि ये सब मन की विभिन्न वृत्तियाँ ही हैं, और इनका स्थान हृदय है।

(6) सूक्ष्म शरीर जीव के रहता है, और उसके मन व बुद्धि दोनों घटक माने हैं। इससे भी बुद्धि का स्थान भी मन के साथ ही माना गया है।

(7) मन को इन्द्रिय माना गया है, बुद्धि आदि को नहीं। इन्द्र=जीवात्मा का लिङ्ग मन ही है। ज्ञान प्रक्रिया में भी इन्द्रिय-मन तथा आत्मा का संयोग माना गया है। यदि बुद्धि मन से भिन्न होती, तो ज्ञानप्रक्रिया में उसको अवश्य गिनाया जाता।

(8) महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण ग्रन्थ के आश्रय से मन की जो परिभाषा दी है, उसमें बुद्धिवृत्ति को मन ही माना है और यह माना है कि मन के अनेक अर्थ हैं–

'कामः संकल्पो.....धीर्भीरित्येत् सर्वं मन एव।'

(शतपथ० का० 14 अ० 4)

इस प्रमाण में धीः–बुद्धिवृत्ति को मन ही माना है।

इत्यादि महर्षि के वचनों से स्पष्ट है कि *मनन, स्मरण, निश्चय तथा अहङ्कारादि मन (अन्तःकरण) की ही वृत्तियाँ हैं, भिन्न नहीं।* महर्षि दयानन्द ने भी यह निर्णाय शास्त्रों के आधार पर ही किया है। उदाहरण स्वरूप न्याय-दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि लिखते हैं–

'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः। मनोऽत्राभिप्रेतम्'

अर्थात् ज्ञान करने का साधन बुद्धिवृत्ति मन ही है। और यदि मन व बुद्धि पृथक् 2 होते, तो मन तो युगपत् अनेक ज्ञानों के न होने का कारण है। किन्तु बुद्धि से ज्ञान हो जाने चाहिए। किन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि बुद्धिवृद्धि मन की ही वृत्ति है, इस पक्ष में शास्त्रों का एक यह भी प्रमाण है, कि सांख्य दर्शन में जिन धर्म-ज्ञानादि को बुद्धि का धर्म माना है, उन्हें ही योग-दर्शन में चित्त का धर्म माना गया है और महर्षि ने योगसूत्रों के भाष्य में सर्वत्र चित्त का अर्थ मन किया है।

मानस-रोग–

"अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र या पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं।" (सत्यार्थ० 2 समु०)

आचरण कैसे करे?

'सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्। (मनु०)

सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे।' (सत्यार्थ 2 समु०)

ज्ञान कैसे होता है?

'इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।' (सत्यार्थ 3 समु०)

मन द्रव्य है गुण नहीं?

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि॥ (वैशे० 1।1।5)

'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य हैं।'

'जिसमें क्रिया, गुण और केवल गुण भी रहें, उसको द्रव्य कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुण वाले हैं, तथा आकाश, काल, और दिशा ये तीन क्रिया रहित गुणवाले हैं।'

(सत्यार्थ 3 समु०)

बुद्धि क्या है–

'महर्षि दयानन्द ने वैशे० 1।1।6 सूत्र के प्रमाण से बुद्धि को गुणों में माना है। और बुद्धि का अर्थ बताते हुए लिखा है–'जिससे अच्छे बुरे का ज्ञान होता है वह बुद्धि०।' (सत्यार्थ 3 समु०)

इससे पाठकों को सन्देह हो सकता है कि बुद्धि गुण है तो यह क्या साधन भी है? इसका सामधान इस प्रकार हो जाता है कि 'बुद्धि' के दो अर्थ हैं–ज्ञान तथा अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति। अतः प्रकरणानुसार बुद्धि का अर्थ समझना चाहिए।

मन की जीत सुख का साधन–

'सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक क्रूर दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा, धर्मात्मा, मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे'। (सत्यार्थ० 4 समु०)

जितेन्द्रिय राजा ही सुशासक होता है–

"जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥ मनु०॥

जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इस) को जीते बिना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता।" (सत्यार्थ० 6 समु०)

परमात्मा के सुख की अनुभूति अन्तःकरण से होती है–

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते।'

यह उपनिषद् का वचन है। जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गए हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

अन्तःकरण जीवात्मा के आधीन है–

'जिसके (आत्मा के) आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हो, जो स्वतंत्र न हो तो उसका पाप पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता।' (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

मन बहिर्मुख कैसे होता है–

"जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे या बुरे कर्मों में लगता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

मनुष्यों का मुख्य कर्त्तव्य–

(क) "मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे।"

(ख) "इसलिए पाञ्च कर्म, पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय और ग्याहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार विहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे।" (सत्यार्थ० दशम समु०)

(ग) "बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते॥

जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें।" (सत्यार्थ० दशम समु०)

परिपक्व अन्तःकरण से परमेश्वर को प्राप्त किया जाता है–

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते॥ (ऋ० 9।83।1)

"उस आप को जो व्यापक पवित्र स्वरूप है, उसको ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रिय, सत्संगादि तपश्चर्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा अन्तःकरण युक्त है, वह उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध है, वे ही इस तप का आचरण करते हुए उस तेरे शुद्ध स्वरूप को अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं।" (सत्यार्थ० एकादश समु०)

इस महर्षि के लेख में निम्न बातों का विशेष उल्लेख है–

(1) तप किसे कहते हैं? तप का सच्चा स्वरूप क्या है?

(2) उपर्युक्त तप के बिना अन्तःकरण परिपक्व नहीं होता।

(3) परिपक्व अन्तःकरण होने पर ही ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान तथा ईश्वर की प्राप्ति होती है।

मन साकार पदार्थों में कभी स्थिर नहीं हो सकता–

"साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है। और निराकार अनन्त परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है, तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चञ्चल भी नहीं रहता किन्तु उसी के गुण, कर्म, स्वभाव का विचार करता-करता आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है। और जो साकार में स्थिर होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता। क्योंकि जगत् में मनुष्य स्त्री, पुरुष, धन मित्रादि साकार में फंसा रहता है, परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता, जब तक निराकार में न लगावे।" (सत्यार्थ० एकादश समु०)

कर्म-फल भोक्ता जीव है, अन्तःकरण नहीं–

"मन से हर्ष शोक, दुःख-सुख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी, दुःखी होता है, वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है। जैसा तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं होती, वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण रूप साधनों से अच्छे बुरे कर्मों का जीव सुख-दुःख का भोक्ता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

मनादि के साक्षात्कार का उपाय–

'नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।' (सत्यार्थ० नवम समु०)

मानस-कर्मों का फल मन से ही भोगा जाता है–

(क)

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥ मनु०॥

"यह भी निश्चय जानें कि यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है, उसको मन, वाणी से किए को वाणी और शरीर से किए को शरीर से अर्थात् सुख दुःख को भोगता है।"

(ख) मानसैरन्त्यजातिताम्॥ मनु०॥

"मन से किए दुष्ट कर्मों से चाण्डालादि का शरीर मिलता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

मन का संयम धर्म है–

धर्म के दश लक्षणों की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं–

(क) "(दमः) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना धर्म है।" (सत्यार्थ० पञ्चम समु०)

(ख) "मन का बल और शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है।" (ऋ० भू० 112 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

अन्तःकरण परम सूक्ष्म है–

महर्षि ने ऋ० भू० के सृष्टिविद्या विषय में "त्रिसप्त समिधः कृताः" (यजु०) की व्याख्या में लिखा है–

'प्रकृतिर्महत् बुद्ध्याद्यन्तःकरणं जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्।' (ऋ० भू० 128 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

अर्थात् इस ब्रह्माण्ड की 21 समिधाओं में एक समिधा है–प्रकृति, महत्तत्त्व, बुद्ध्याद्यन्तःकरण तथा जीव। इन सबको परम सूक्ष्म होने से एक समिधा कहा गया है।

मन का योग बाह्य तथा आभ्यन्तर क्रियाओं के साथ सदा रहता है–

"मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है।" (ऋ० भू० 46 पृ०)

मन की शान्ति के बिना पठनादि निरर्थक है–

"जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना भी पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।" (ऋ० भू० 179 पृ०)

मन देव और राजा है–

"इस प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञानेन्द्रिय भी देव कहाते हैं। उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं।" (ऋ० भू० 290 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मन का साक्षी ईश्वर है–

"(मनीषी) (परमेश्वर) सब के मन का साक्षी है।" (ऋ० भू० 303 पृ०, आ. सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मन के जीतने से इन्द्रिजय–

"ग्यारहवां इन्द्रिय मन है, वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं।" (संस्कारविधि वेदारम्भ, 86 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

ज्ञान-प्रक्रिया–

"इन्द्रियों के साथ मन का, मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है।" (सत्यार्थ तृतीय समु०)

मानसिक दु:ख–

महर्षि त्रिविध दु:खों की व्याख्या में (आधिदैविक दु:ख) लिखते हैं–

"आधिदैविक दु:ख=जो मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है।" (ऋ० भू० 2 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मन की गणना मूर्तिरहित देवों में की है-

"पूर्वोक्त आठ वसुओं में अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पाञ्च मूर्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्ति रहित देव हैं। तथा पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं।" (ऋ० भू० 71 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

'मन' शब्द के विभिन्न अर्थ–

(1) 'मनो यज्ञेन कल्पताम्' (यजु० 18।29)

इसकी व्याख्या में महर्षि ने (मन:) मननं ज्ञानम् (ऋ० भू० 156 पृ०, आ.सा. प्र. ट्रस्ट संस्करण) लिखकर 'मन:' का अर्थ 'ज्ञान' किया है।

(2) '(युक्तेन मनसा) योगयुक्तेन शुद्धान्त:करणेन'

(ऋ० भू० 156 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

यहाँ महर्षि ने 'मन:' का अर्थ अन्त:करण किया है।

(3) "(सुमना) पवित्रान्त:करणयुक्त प्रसन्नचित्त।"

(संस्कारविधि विवाह०)

(4) '(मनसा) अन्त:करण से।' (संस्कारविधि गृहाश्रम०)

मन इन्द्रिय है–

इन्द्रिय शब्द से प्राय: बाह्येन्द्रियों का ही ग्रहण होता है। किन्तु पाणिनीय

व्याकरण के अनुसार 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्०' अर्थात् इन्द्र जीवात्मा को कहते हैं, उसका लिङ्ग=ज्ञापक चिह्न जैसे बाह्येन्द्रियाँ हैं, वैसे अन्तःकरण भी है। क्योंकि अन्वयव्यतिरेक न्याय से ये जीव के ही लिङ्ग हैं। प्राचीन शास्त्रों तथा वेदों में 'इन्द्रिय' शब्द मन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है–

(1) "मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु०" इसका अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं–'इन्द्रियम् =श्रोत्रादिकं मनश्च' (ऋ० भू० 149 पृ०) अर्थात् इन्द्रिय शब्द से श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा मन का भी ग्रहण है।

(2) (इन्द्रियञ्च)=मन आदीनि वाग्भिन्नानि षड् ज्ञानेन्द्रियाणि (ऋ० भू० 102 पृ०) अर्थात् इन्द्रिय शब्द से मन तथा बाह्य इन्द्रियों का ग्रहण किया है।

(3) '(इन्द्रियञ्च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण।' (संस्कारविधि, गृहाश्रम)

बुद्धि आत्मा से भिन्न–

"बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना 'अस्मिता' क्लेश है।"

(सत्यार्थ० नवम समु०)

ज्ञान का साधन बुद्धिवृत्ति आत्मा से भिन्न है। जो इन्हें एक समझते हैं, वे अस्मिता क्लेशयुक्त होने से अविद्या ग्रस्त हैं। और जहाँ बुद्धि शब्द ज्ञान का पर्यायवाची आया है, वह आत्मा का गुण है। और इसलिए बुद्धि का बढ़ना ज्ञान का बढ़ना ही है। क्योंकि जो बुद्धिवृत्ति अन्तःकरण है उसकी वृद्धि क्या हो सकती है? अथवा साधनों का समुचित विकास ही वृद्धि हो सकता है।

हृदय शब्द का मन के अर्थ में प्रयोग–

(1) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि उपनिषद् के स्थलों में हृदय शब्द मन के अर्थ में प्रयुक्त है।

(2) 'समाना हृदयानि वः' (ऋ०) इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने 'हृदयानि=मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि' लिखकर हृदय शब्द का 'मन' अर्थ माना है।

(3) 'हृदयम्=अन्तःकरण और आत्मा को' (संस्कारविधि, विवाह०)

इत्यादि स्थलों में महर्षि ने हृदय शब्द का अर्थ मन, अन्तःकरण या आत्मा किया है।

चित्त के नौ विक्षेप, जिनसे चित्त अशान्त हो जाता है–

महर्षि दयानन्द ने योगदर्शन के अनुसार चित्त के नौ विक्षेप (उपासना योग के शत्रु) मानते हुए, उनकी निम्न प्रकार से व्याख्या की है–

(1) व्याधि=धातुओं की विषमता से ज्वरादि पीड़ा का होना।

(2) स्त्यान=सत्यकर्मों में अप्रीति।

(3) संशय=जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उसका यथावत् ज्ञान न होना।

(4) प्रमाद=समाधि साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना।

(5) आलस्य=मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना।

(6) अविरति=विषय सेवा में तृष्णा का होना।

(7) भ्रान्तिदर्शन=उल्टे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वर भाव करके पूजा करना।

(8) अलब्धभूमिकत्व=समाधि की प्राप्ति न होना।

(9) अनवस्थितत्व=समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना। (ऋ० भू० 170 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मन में अविद्यादि क्लेश तथा उनकी वासनाएँ रहती हैं, आत्मा में नहीं–

इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं–

"अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाक- स्तदनुगुणवासना आशयाः, ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते।"

अर्थात् जैसे योद्धा लोगों का जय या पराजय उनके स्वामी राजा का जय या पराजय कहलाता है, वैसे ही अविद्यादि क्लेश, कुशल अकुशल कर्म, उनका फल तथा तदनुकूल वासनाएँ मन में रहती हैं, किन्तु भोक्ता पुरुष में कहलाती हैं, क्योंकि वह उनके फलों का भोक्ता है। (ऋ० भू० 167 पृ०, आ.सा.प्र. ट्रस्ट संस्करण)

मनुस्मृति में मनोविज्ञान

मनुस्मृति में मन तथा मन से सम्बद्ध निम्न विषयों का वर्णन मिलता है–

(1) मन की उत्पत्ति। (2) मानस-यज्ञ सर्वोत्तक है। (3) मन का संयम धर्म है। (4) विद्याप्राप्ति में मनः-संयम की आवश्यकता। (5) मन इन्द्रिय है। (6) मनः-संयम के उपाय। (7) मानसिक कर्म और उनका फल। (8) मानस-कर्मों के फल का भोग। (9) अजितेन्द्रिय को विद्या का अधिकार नहीं। (10) गुरु विद्यार्थी को सर्वप्रथम क्या सिखाए? (11) मन की प्रवृत्ति को कैसे जानें? (12) पाप से

मुक्ति का उपाय। (13) गुणप्रधान मन के भिन्न-भिन्न लक्षण।

मन की उत्पत्ति का वर्णन–

मनुस्मृति में सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में मन की उत्पत्ति के विषय में दो स्थानों पर जो वर्णन मिलता है, उससे पाठक बहुत ही उलझन में पड़ जाता है कि अन्य शास्त्रों में मन की उत्पत्ति अहङ्कार से मानी है, किन्तु यहाँ उससे विपरीत बातें पढ़ने में आती हैं। परन्तु पूर्वापर का विचार करने पर इस समस्या का समाधान अवश्य मिल जाता है। यथार्थ में एक शब्द का जब भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग दिखाई देता है, तब शब्द-साम्य से उलझन विषम हो जाती है। जैसे सांख्यदर्शन के 1।72 सूत्र में तो कहा है कि–

महदाख्यमाद्यं कार्य तन्मनः॥

अर्थात् प्रकृति का जो सर्वप्रथम कार्य है, उसे महत्तत्व कहते हैं, और वह ही मन कहलाता है। किन्तु दूसरे स्थान पर 1।61 सूत्र में प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राओं, दश इन्द्रियों तथा ग्यारहवें मन की उत्पत्ति मानी है। यहाँ एक स्थान पर तो प्रकृति के प्रथम कार्य को मन माना है और दूसरे स्थान पर अहङ्कार का कार्य मन माना है। इससे सन्देह अवश्य होता है। किन्तु मनोविज्ञान प्रकरण में इन्द्रियों के अध्यक्ष मन की अपेक्षा है, महत्त्व की नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर मनुस्मृति के श्लोकों की संगति सम्यक् लग जाती है।

मनुस्मृति के श्लोकों की संगति–

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाहंकारमभिमन्तारमीश्वरम्॥

अर्थात् स्वयम्भू ब्रह्म ने अपनी प्रकृति से सत् एवं असत् रूप मन (महत्तत्त्व) को, और मन से सामर्थ्ययुक्त अहङ्कार को उत्पन्न किया।

यहाँ पाठकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि श्लोक में 'आत्मा' से मन=महत्तत्त्व की उत्पत्ति कही है। इससे नवीन वेदान्तियों के मत की पुष्टि प्रतीत होती है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा शब्द केवल चेतन के लिए ही नहीं आता। निरुक्त के 'आत्मा=अततेर्वा स्याद् आप्तेर्वा' प्रमाण के अनुसार जो जिस में व्यापक होता है, वह उस व्याप्य की आत्मा होता है। क्योंकि प्रकृति अपने सब कार्यों में व्यापक है, अत उसे 'आत्मा' शब्द से यहाँ कहा गया है। अथवा 'स्व-स्वामित्व' सम्बन्ध से 'आत्मा' शब्द का यहां प्रयोग किया गया है। महर्षि दयानन्द ने ऋ० भू० में उपर्युक्त 'आत्मा' शब्द की व्याख्या की है।

और मन=महत्तत्त्व को 'सदसदात्मक' क्यों कहा है? इसका उत्तर यह है कि मनु ने प्रकृति को भी–

'यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्'। (मनु० 1।11)

'सदसदात्मकम्' कहा है। सत् का अर्थ है, जो कारणरूप में सदा रहे और असत् का अर्थ है, जो जगत् के कार्यरूप होने पर असद् रूप में रहती है। अथवा जो कारण रूप में असद्=अव्यक्त रूप में रहती है और कार्य रूप में सद्=व्यक्तरूप में रहती है, अतः प्रकृति को सदसदात्मक कहा गया है। इसी प्रकार इस श्लोक में मन (महत्तत्त्व) को 'सदसदात्मक' कहा है। जो टीकाकार इस शब्द का संकल्प-विकल्पात्मक अर्थ करके मन (इन्द्रिय) अर्थ करते हैं, उसकी संगति अन्य शास्त्रों के प्रतिकूल होने से सत्य नहीं है। और मनुस्मृति के दूसरे श्लोकों से भी विरुद्ध है। मनुस्मृति के इसी अध्याय में आगे लिखा है–

(क) तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥ (मनु० 1।74)

अर्थात् ब्रह्मा उस सृष्टि-प्रलय के अहोरात्र के अन्त में सोकर जागता है और जागकर सदसदात्मक मन की रचना करता है। ब्रह्मा का सृष्टि रचना करना जागना तथा प्रलय करना ही सोना है। यहाँ भी मन शब्द से 'महत्तत्त्व' ही अर्थ लेना ठीक है। क्योंकि यह ही प्रकृति का प्रथम विकार है। इसके आगे कहा है–

(ख) मनःसृष्टिं विकुरते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः॥ (मनु० 1।75)

अर्थात् ब्रह्मा सृष्टि-रचना की इच्छा से प्रकृति से मनः सृष्टि=महत्तत्व की रचना करता है, जिससे परमाणुओं के संघातरूप होने से आकाश पैदा होता है, जिसका शब्द गुण है।

इस श्लोक के अर्थ में भी टीकाकारों को भ्रान्ति ही हुई है। क्योंकि प्रथम तो इन्द्रियरूप मन प्रकृति का प्रथम विकार ही नहीं है और श्लोक में मन को पृथक् करके सन्देह पैदा होता है कि अचेतन मन कैसे सृष्टि-रचना कर सकता है? उसमें 'सिसृक्षा' सृष्टि रचने की इच्छा कैसे हो सकती है। और श्लोक में 'विकुरुते' क्रिया भी विकारभाव को ही बता रही है। अतः यहाँ मन शब्द से महत्तत्त्व का ही अर्थ लेना चाहिए। इसी मन (महत्तत्त्व) को प्रलय में अपने कारण में लीन होने के कारण शक्तिहीन कहा गया है–

(ग) तस्मिन् स्वपिति सुस्थे तु.....मनश्च ग्लानिमृच्छति॥(मनु० 1।53)

अर्थात् ब्रह्मा के सोने पर (प्रलय काल में) प्रकृति के विकार अपने-अपने

कारण में लीन हो जाते हैं, और मन=महत्तत्त्व भी ग्लानि=क्षीण (शक्तिहीन) हो जाता है।

(घ) महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥ (मनु० 1।15)

इस का अर्थ टीकाकार इस प्रकार करते हैं–

'फिर क्रम से महत्तत्व और सत्त्व, रस् तथा तजस् तीनों गुणों वाली विषयों को ग्रहण करने वाली पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों को उत्पन्न किया।'

इस अर्थ में पूर्व श्लोक के अर्थ को ध्यान में रख संगति ठीक लगती है। क्योंकि मन तथा अहङ्कार की उत्पत्ति प्रथम श्लोक में कही है। और इस श्लोक में महत्तत्त्व तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति कही है। क्रम तो यह होना चाहिए–

प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व, उससे अहङ्कार और अहङ्कार से मन तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होनी चाहिए। अतः इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए–

"ब्रह्मा ने महान् आत्मा (व्यापक होने से) महत्तत्त्व को, त्रिगुणयुक्त पञ्चतन्मात्राओं को (सूक्ष्म भूतों को) तथा विषयों के ग्रहण करने वाली इन्द्रियों को क्रमशः उत्पन्न किया।"

इस श्लोक में यद्यपि अन्तःकरणरूप मन की उत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है, किन्तु इन्द्रियों की उत्पत्ति का किया है। इन्द्रियाँ कौन कौन सी हैं, इसका वर्णन मनु के शब्दों में ही पढ़िए–

'एकादशेन्द्रियाण्याहुः' (मनु० 2।89)

'एकादशं मनो ज्ञेयम्' (मनु० 2।92)

अर्थात् इन्द्रियाँ ग्यारह होती हैं। उनमें मन भी एक इन्द्रिय है। अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति से मन की उत्पत्ति का भी वर्णन मनु ने किया है। जिससे स्पष्ट है कि मन प्रकृति का ही विकार है।

मानस-यज्ञ सर्वोत्तम है–

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ (मनु० 2।85)

अर्थात् अग्निहोत्रादि विधियज्ञ से जपयज्ञ दशगुणा श्रेष्ठ है, जपयज्ञ से उपांशुयज्ञ सौगुणा श्रेष्ठ है, और उपांशयुयज्ञ से मानस यज्ञ हजार गुणा श्रेष्ठ है।

इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर का ध्यान तथा उसके नाम का जप बाह्येन्द्रियों को रोककर मन से ही करना सर्वोत्तम माना गया है। सन्ध्यादि के मन्त्रों का उच्चारण

करके ईश्वरोपासना केवल सिखाने का ही एक उपाय है। जो लोग ईश्वर के नाम पर लाउडस्पीकर लगाकर सारी रात जोर-जोर से गला खोलने का अभ्यास करते रहते हैं, न स्वयं सोते और न दूसरों को ही सोने देते। उन्हें मनुस्मृति के विधान का पुनरव लोकन करके 'मानसजप' की ओर ध्यान देना चाहिए।

मन का संयम धर्म है–

धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयम्०। (मनु० 6।92)

इस श्लोक में 'दमः=मन का संयम करना' धर्म माना है। इसके संयम से आभ्यन्तरिक शुद्धि तथा बाह्येन्द्रियों पर संयम स्वतः ही हो जाता है।

विद्याप्राप्ति में मन-संयम की आवश्यकता–

(क) **शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।**
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद् वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्।। (मनु० 2।192)

अर्थात् गुरु के समक्ष विद्यार्थी शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय तथा मन को वश में करके अन्जलि बान्धे गुरु के बताए संकेत के प्रति दत्तचित्त रहे।

(ख) **सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः।।** (मनु० 2।175)

अर्थात् विद्यार्थी एकादश इन्द्रियों के समूह (5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय तथा 11वाँ मन) को वश में करके अपने विद्या तप की वृद्धि की लिए नियमों का पालन करे।

मन इन्द्रिय है–

(क) **एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।** (मनु० 2।89)

अर्थात् प्राचीन मनीषियों ने (5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ तथा 11वाँ मन) ग्यारह इन्द्रियाँ मानी हैं।

(ख) **एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।**
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ।। (मनु० 2।92)

अर्थात् मन ग्यारहवीं इन्द्रियं हे। इसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से होने से कारण मन उभयेन्द्रिय कहलाता है। और मन के जीतने पर अन्य दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

मनादि इन्द्रियों के संयम का फल–

(1) **इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।**
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।। (मनु० 2।93)

अर्थात् मनादि इन्द्रियों के वश में न करने से निस्सन्देह जीवात्मा पाप को प्राप्त करता है, और उन्हें वश में करने से मोक्षादि पुरुषार्थों की सिद्धि कर लेता है।

(2) **वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।**
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ (मनु० 2।97)

अर्थात् मनादि के संयम न करने से अजितेन्द्रिय पुरुष के वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सफल नहीं होते।

(3) **इन्द्रियाणां च सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।**
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥ (मनु० 2।99)

अर्थात् जब मनादि इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं अथवा एक भी इन्द्रिय असंयत हो जाती है, तो उस व्यक्ति का ज्ञान का वैसे ही नष्ट हो जाता हैं, जैसे मशक से पानी बह जाता है।

(4) **वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य मनस्तथा।**
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥ (मनु० 2।100)

इसलिए 5 कर्मेन्द्रिय, 5 ज्ञानेन्द्रिय तथा ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे।

मन की शुद्धि का उपाय–

(क) **मनः सत्येन शुद्ध्यति॥** (मनु० 5।109)

सत्याचरण से मन की शुद्धि होती है, अर्थात् मन के राग, द्वेष, मोहादि मलों की शुद्धि सत्यज्ञान से मिथ्या ज्ञान के दूर होने पर होती है। और सत्याचरण से बुरी वासनाएँ भी दग्धबीज की तरह नष्टप्रायः हो जाती हैं।

(ख) **दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।**
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाःप्राणस्य निग्रहात्॥ मनु०॥

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट हो जाता है वैसे प्राणायाम के निग्रह से मन आदि इन्द्रियाँ दोषक्षीण होने से शुद्ध हो जाती हैं।

मन की शुद्धि का फल–

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥ (मनु० 2।160)

जिसकी वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित हैं, वह वेद-ज्ञान के सिद्धान्त रूप फल को प्राप्त करता है।

मनःसंयम के उपाय–

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान्यतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।। 4।204॥

यमों का पालन न कर के केवल नियमों का ही सेवन करने से पतित हो जाता है। अतः यमों का नित्य पालन करता रहे।

इसका भाव यह है कि नियमों का पालन तो बाह्य दिखाने के रूप में लोकैषण वश भी किया जा सकता है। अतः नियमों की अपेक्षा यमों का पालन अपरिहार्य है। यह नियमों की व्याख्या योगदर्शन के प्रकरण में द्रष्टव्य है।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः।। मनु० 2।3॥

अर्थात् व्रत, यम और धर्म सब संकल्प से उत्पन्न हैं। और संकल्प-विकल्प करना मन का धर्म हैं। शुभ कार्येच्छा को संकलप कहते हैं। मन के शिवसंकल्प वाला हो से ही यमों का पालन हो सकता है। अतः इन का पालन प्रत्येक मनुष्य को अवश्य ही करना चाहिए।

मानसिक कर्म और उनका फल–

(क) **शुभाशुभफलं कर्म मनो वाग्देहसम्भवम्।।** मनु० 12।3॥

अर्थः–मन, वाणी तथा शरीर से जो कर्म होता है, उसके शुभ तथा अशुभ फल होते हैं।

(ख) **तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।**
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्त्तकम्।। मनु० 12।4॥

अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा है। और शरीर में जो भी दश प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं, वे मन के सहाय से ही आत्मा करता है।

(ग) **परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।**
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।। मनु० 12।5॥

अर्थात् मन के दुष्कर्मों के तीन प्रमुख भाग हैं–

(1) दूसरों की वस्तु का ध्यान करना।

(2) मन से दूसरे का अनिष्ट चिन्तन करना।

(3) नश्वर देहादि में मोह वश अभिमान करना अथवा देहादि को ही अपना समझकर नश्वर न मानना।

मानस कर्मों के फल का भाग–

(क) **मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्॥** मनु० 12।8॥

जीवात्मा मन के द्वारा किए गए कर्मों का फल मन से ही भोगता है।

(ख) **मानसैरन्त्यजातिताम्॥** (मनु० 12।9)

मानस दुष्कर्मों के कारण चाण्डालादि का जन्म लेना पड़ता है।

अजितेन्द्रिय को विद्या का अधिकार नहीं–

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मा ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥ (मनु० 2।115)

अर्थात् विद्या का अधिकारी वह है जो शरीर वाणी तथा मन से पवित्र है, जो ब्रह्मचारी है और जो प्रमादी नहीं है। ऐसा विद्यार्थी सचमुच विद्या–कोष का रक्षक होता है।

गुरु विद्यार्थी को सर्वप्रथम क्या सिखाए?

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च॥ मनु० 2।96॥

अर्थात् गुरु शिष्य का उपनयन करके सर्वप्रथम बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शुद्धि सिखाये अर्थात् शरीर, वाणी तथा मन की पवित्रता कैसे होती है, यह सिखाये। और साथ ही सदाचार, हवन तथा सन्ध्योपासन की शिक्षा अवश्य करे।

मन की प्रवृत्ति को कैसे जानें?

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ मनु० 8।26॥

अर्थात् आकृति, इशारे, गति, चेष्टा, बोलचाल तथा नेत्र व मुख के विकारों से मन के भीतर की बातों को जाना जाता है।

अतः गुरु शिष्य की मानसिक क्रियाओं का प्रथम भलीभांति अध्ययन करे और फिर शिष्य की उन क्रियाओं का परिष्कार करता हुआ सन्मार्ग–दर्शन करे। अतः मनोविज्ञान का शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पाप से मुक्ति का उपाय–

(1) **यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।**
तथा तथा शरीरं तन्तेनाधर्मेण मुच्यते॥ मनु० 11।229॥

अर्थात् पापी मनुष्य यदि पाप से मुक्ति चाहता है, तो मन से उस पाप की खूब भर्त्सना किया करे। जैसे-जैसे वह मन से दुष्कर्म की निन्दा करेगा। वैसे-वैसे पाप से छूटता चला जायेगा।

(2) **सर्व ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥** मनु० 112।18॥

अर्थात् जो सब प्राणियों को आत्मदृष्टि से देखता है, उसका मन पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

गुणप्रधान मन के भिन्न-भिन्न लक्षण–

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम्॥ मनु० 12।31॥

अर्थ–सात्त्विक मन के कर्म ये हैं–वेदों का स्वाध्याय, तप, शास्त्र-ज्ञान, शुद्ध, इन्द्रियसंयम धार्मिक कार्यों में रुचि और आत्मिक चिन्तन।

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्त्रं राजसं गुणलक्षणम्॥ मनु० 12।32॥

अर्थ–राजसिक मन के कर्म ये हैं–प्रारम्भ में किसी कार्य के करने में रुचि होना, धैर्य का अभाव, असत्कार्यों में प्रवृत्ति और निरन्तर विषयों का सेवन करना।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥ मनु० 12।33॥

अर्थ–तामस-मन के कर्म ये हैं–लोभाकृष्ट होना, अधिक सोना, धैर्य का अभाव, क्रूरता, नास्तिकता, सदाचार का पालन न करना, मांगने का स्वभाव और आलस्य।

पाणिनि-शिक्षा में मनोविज्ञान

पाणिनीय वर्णोच्चारण-शिक्षा में शब्दोत्पत्ति-प्रकरण में लिखा है–

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्। (पाणिनीय शिक्षा)

अर्थात् जीवात्मा बुद्धि=ज्ञान से अर्थों को संचित=इकट्ठा करके कहने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है, मन शरीरस्थ जठराग्नि को उत्तेजना देता है, वह अग्नि वायु को प्रेरित करता है, और वक्ष में घूमती हुई शब्द को उत्पन्न करती है।

इस स्थल पर शिक्षा में स्पष्ट यह स्वीकार किया है–

(1) आत्मा और मन भिन्न-भिन्न हैं। मन जीवात्मा का साधन है, जो उसकी

प्रेरणा से ही कार्य करता है।

(2) मन आत्मा की प्रेरणा के बिना किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं कर सकता।

(3) इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है, कि मन का स्थान आत्मा के समीप ही है, दूर नहीं। जैसा अन्य शास्त्रकारों ने मन को सूक्ष्मशरीर का एक घटक और हृदयस्थ माना है, वैसा ही शिक्षाकार का भी मत है। मन यदि आत्मा के समीप न माना जाए, तो शब्दोत्पत्ति की पूर्वोक्त प्रक्रिया सम्भव न हो सके। क्योंकि शिक्षा में स्पष्ट किया है कि वायु को प्रेरित मन करता है।

(4) मन जीवात्मा के आधीन है, वह आत्मा से भिन्न होकर स्वयं कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता। अतः मन का शरीर से बाहर जाकर दूसरे शरीरों में प्रवेशादि की बातें कदापि सत्य नहीं हो सकतीं।

(5) शिक्षा के इस उद्धृत श्लोक में 'बुद्धि' शब्द ज्ञान का वाचक है। और ज्ञान आत्मा का गुण है। जैसा जीवात्मा में ज्ञान होता है, वैसी ही वह प्रेरणा मन को करता है। अन्य शास्त्रकारों ने जो बुद्धिवृत्ति मानी है, वह अन्तःकरण मन की एक वृत्ति है। वह ज्ञान का साधन होने से ज्ञान से भिन्न है।

शब्दोत्पत्ति में मन को कारण मानते हुए वेद में कहा है–

पंच नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पंचधा सो देशेऽभवत् सरित्॥ यजु० 34।11॥

अर्थ–"मनुष्य (सस्रोतसः) मन रूप समान स्रोत=प्रवाह वाली (पंच) ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ, जो (नद्यः) नदी के तुल्य प्रवाह रूप हैं, वे जिस (सरस्वतीम्) प्रशस्त विज्ञान वाली वाणी को (अपि) भी (यन्ति) प्राप्त करती हैं, वह (सरित्) नदी रूपी (सरस्वती) वाणी (देशे) अपने निवास स्थान में (पंचधा) पांच ज्ञान इन्द्रियों के शब्दादि विषय के प्रतिपादन से पांच प्रकार की (तु) तो निश्चित (अभवत्) होती है, इसे जानें॥" (महर्षि दयानन्द)

इस मन्त्र में पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों को नदी के तुल्य बताया है, और वे सस्रोतसः=मन रूप समान स्रोत=प्रवाह वाली हैं। तथा वे समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ सरस्वती=वाणी को प्राप्त करती हैं। इससे स्पष्ट है कि जो कुछ वाणी का व्यवहार है, उसका आधार पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, और पांच ज्ञानेन्द्रियों का आधार मन है। मन के आश्रय से ही इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करती हैं, और जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही वाणी का व्यवहार होता है। इसलिए कहा है–

"यन्मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति

तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते॥

यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है। जीव जिसका मन के ध्यान करता, उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता, उसी को प्राप्त होता है।" (सत्यार्थ० प्रथमसमु०)

इससे स्पष्ट है कि जीव क्रिया करने से पूर्व मन से ध्यान करता है,फिर ज्ञानेन्द्रियों की प्रवृत्ति तथा वाणी का व्यवहार करता है। अत: समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार मन है। शिक्षा का समस्त व्यवहार इसके बिना कदापि सम्भव नहीं है। वाणी के व्यवहार में जो हम भिन्न-भिन्न अभीष्ट ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, उनका कारण मन ही है। और यही बात प्रत्यक्ष-ज्ञान प्रक्रिया में न्यायदर्शन के भाष्य में कही है–

'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति०।' (वात्स्या० भाष्य)

अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा और मन का संयोग, मन और इन्द्रियों का संयोग तथा इन्द्रियों और विषयों का संयोग होता है। अत: स्पष्ट है कि मनादि जीवात्मा के साधन हैं, इनसे वह ज्ञान प्राप्त करता है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (132-136) January-June 2018 ISSN 2277-4351

अन्त:करण के विभाग

-स्व. श्री नारायण स्वामी जी महाराज

अन्त:करण के विभाग क्या हैं, उनका अत्यन्त संक्षेप से यहां उल्लेख किया जाता है-

1. **इच्छा शक्ति**- इच्छा शक्ति (Will Power) असल में इच्छा नहीं है बल्कि शक्ति है और वह मनुष्य के मस्तिष्क में, सबसे ऊपर उस स्थान में, जिसे योगी सहस्त्रदल कहते हैं रहती है। इस शक्ति के जाग्रत होने से मनुष्य उपासना के उच्चक्षेत्र में पग धरता है और इसी शक्ति को जाग्रत करने के लिए अन्त:करणों में से प्रत्येक करण के सदुपयोग करने की आवश्यकता है।
2. **मेधावी बुद्धि**- मस्तिष्क के ऊपरी भाग ही में शक्तिभण्डार से ठीक नीचे उत्कृष्ट अथवा प्रेरित या मेधावी बुद्धि का स्थान है जिससे काम लेने से उपासक में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होते हैं।
3. **तार्किक बुद्धि**- मेधावी बुद्धि से नीचे मस्तिष्क के प्राय: मध्य में साधारण या तार्किक बुद्धि का स्थान है। जिससे काम लेकर उपासक सत्यासत्य का विवेक करके सत्य का ज्ञान प्राप्त करके उसे ग्रहणीय और असत्य को त्याज्य समझता है।
4. **सन्देश तन्तु**- शिर का निचला भाग मन से सम्बन्धित सन्देश-तन्तुओं का स्थान है जिनसे काम लेकर मनुष्य ज्ञान (Understanding) प्राप्त किया करता हैं ये तन्तु स्वभावत: अनिच्छितरीति (Passive activities of mind) से शरीर में आत्मा की सत्ता मात्र से काम किया करते हैं। परन्तु इन पर अधिकार प्राप्त करने से अनेक विशेषताएं उपासक में पैदा होती हैं।
5. **मन**- वक्ष में हृदय से ठीक ऊपर इन्द्रियों के नियन्ता मन का स्थान है।
6. **चित्त**- जो स्मृति, वासना और संस्कार का भण्डार है और जिससे भावों (Will Power) का भी सम्बन्ध है, वह हृदय और नाभि के मध्य में रहता है।

7. सूक्ष्म प्राण– चित्त के नीचे सूक्ष्म (Psychic) प्राण रहते हैं।

यह है अन्त:करणों का विवरण। इन्हें यन्त्रवत् समझें। आत्मा इन यन्त्रों से काम लेने वाली यन्त्री है और काम लेने का साधन विद्युत् या गतिदायिनी शक्ति (Electricity or motor power) वही शक्ति है। इच्छा शक्ति इन यन्त्रों द्वारा काम किया करती है। बुद्धि के द्वारा विचार और ज्ञान, मन के द्वारा इन्द्रियव्यापार, चित्त के द्वारा भावुकता और प्राण के द्वारा भोग के लिए काम होता है–जब प्रत्येक अन्त:करण अपने विभाग की सीमा में रहते हुए काम करता है तब इच्छाशक्ति के काम में बाधा न पड़ने से उसका विकास और वृद्धि होती है।

(अमृत वर्षा, नवम्बर 1931, प्रथम संस्करण,
राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर से साभार)

✦✦✦

अन्त:करण और उसके काम

अन्त:करण चार होते हैं और इसीलिए अन्त:करणों को, अन्त:करण चतुष्टय भी कहते है। वे चार अन्त:करण ये हैं- (1) मन (2) बुद्धि (3) चित्त और (4) अहंकार। इनके कार्यों का विवरण इस प्रकार है–

मन का काम

मन को इन्द्रियों का राजा कहते हैं। उसका काम इन्द्रियों से काम लेना है। दशों ज्ञान और कर्म इन्द्रियां उसके अधीन रहती हैं।

बुद्धि का काम

बुद्धि का काम तर्क है- तर्क से सत्यासत्य का निर्णय करना बुद्धि का काम है।

चित्त का काम

चित्त के तीन कार्य है- (1) स्मृति रूप में ग्रहण की हुई बातों को अपने अधिकार में रखना। यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्मृति 3 सूरतों में चित्त में रहा करती है। उसकी पहली सूरत मामली स्मृति (किसी) विषय का याद रखना (Memory) है। दूसरी सूरत संस्कार (Impressions) है। मनुष्य के ऊपर अपने कृत्यों से तथा संसार में घटित अनेक घटनाओं से जो प्रभाव पड़ा करते है उन्हीं का नाम संस्कार है। तीसरी सूरत कर्मजन्य वासना है। स्मृति इन तीनों सूरतों में चित्त के

भीतर रहा करती है और वह न केवल प्रचलित जन्म ही का संग्रह होती है, किन्तु जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त और संगृहीत हुआ करता है।

(2) चित्त वृंत्ति को समीप या दूर भेज कर विषयों का ग्रहण करना।

(3) चित्त क्षोभ (Emotion)।

अहंकार का काम

अहंकार का कार्य यह है कि इसके आने से मनुष्य में ममता की उत्पत्ति होती है अर्थात् उसमें अपनेपन के भावों की जागृति होती है।

रमेश- पश्चिमी शरीरशास्त्र में इन अन्तःकरणों का वर्णन इस प्रकार का नहीं देखा जाता।

आत्मवेत्ता- यह ठीक है। पश्चिमी शरीर विद्या (Physiology) बहुत अधूरी है। उसमें केवल स्थूल शरीर का वर्णन है। सूक्ष्म और कारण शरीरों को वह नहीं जानती। हां, पश्चिमी मनोविज्ञान (Psychology) में कुछ वर्णन अन्तःकरणों का है परन्तु वहां चित्त (Mind) के कार्यों की बात आती है तो उसे वह (मनोविज्ञान) भी अलौकिक (Mystory) कहकर टाल दिया करता है। अवश्य अब पश्चिम के कुछेक विद्वानों ने अन्तःकरणों के समझने का यत्न किया है। एक विद्वान् ने बताया है कि मस्तिष्क दो प्रकार का है।[1] एक का नाम है तार्किक (Objective mind) दूसरे का नाम है चैत्तिक मस्तिष्क (subjective mind)। उसने दोनों के कार्यों का विवरण इस प्रकार दिया है-

तार्किक मस्तिष्क के कार्य

इस मस्तिष्क का कार्यक्षेत्र बाह्य जगत् होता है। मनुष्य कार्य के साधन पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हुआ करती हैं। मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस मस्तिष्क की सृष्टि हुई है और इसीलिए यह अपने प्राकृतिक साधनों से इस मामले में मनुष्य का पथप्रदर्शन किया करता है। इसका सबसे बड़ा काम तर्क द्वारा बाह्य उलझनों का सुलझाना है। अन्तःकरण चतुष्टय में से मन और बुद्धि दोनों के स्थान में इस मस्तिष्क की कल्पना पश्चिमी मनोविज्ञान में की गई है। शरीर शास्त्र में इसी को मुख्य मस्तिष्क (Cerebrain) कहते हैं।

चैत्तिक मस्तिष्क के कार्य

यह मस्तिष्क अपने कार्यक्षेत्र में इन्द्रियेतर साधनों से कार्य करता है, इन्द्रियों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। इसका कार्य (ज्ञान प्राप्ति) का साधन

---

1. The law of phychic phenomena by Hudson. p. 26 and 30.

अन्तर्मुखी वृत्ति (Intuition) है यह चित्त क्षोभ (Emotion) और स्मृति का भण्डार है। यह मस्तिष्क अपने उच्च और महान् कार्यों को उस समय किया करता है जब तार्किक मस्तिष्क का कार्य बन्द हुआ करता है। स्वप्न अथवा मूर्छित अवस्था में, वह मूर्छा चाहे मेस्मरइज्म द्वारा उत्पन्न कीं गई हो अथवा अन्य किन्हीं कारणों से, यह मस्तिष्क अपने को अच्छी तरह से व्यक्त किया करता है और उसी अवस्था में इसके कार्य आश्चर्यजनक हुआ करते हैं। वह बिना आँख खोले देखता है, अपनी (चित्त) वृत्तियों को दूर-दूर भेजकर वहां का प्रायःयथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया करता है। दूसरों के हृदयों की जानकारी भी प्राप्त कर लिया करता है। परोक्ष का ज्ञान कर लेना इसके लिए वैसा ही सुगम है जैसा तार्किक मस्तिष्क के लिए प्रत्यक्ष का। इसी का नाम परोक्ष दर्शनं (Clairvoyance) है।

दोनों मस्तिष्कों का अन्तर-

दोनों मस्तिष्कों का स्पष्ट अन्तर समझ लेने ही से मनुष्य उनके कार्यों की सीमा को ध्यान में रख सकता है, इसलिए उनका अन्तर समझ लेना चाहिए। तार्किक मस्तिष्क का काम शारीरिक है और शरीर से बाहर हुआ करता है और उसके कार्यक्षेत्र की सीमा इन्द्रियों की सीमा से सीमित है परन्तु इसके सर्वथा विपरीत चैत्तिक मस्तिष्क स्थूल शरीर से भिन्न एक पृथक् स्वतंत्र सत्ता है और उसके कार्य के साधन भी इन्द्रियों से भिन्न स्वतंत्र और आन्तरिक हैं। हडसन ने इस दूसरे मस्तिष्क को आत्मा (Soul) कहा है।[1] परन्तु आत्मा तो शरीर और मस्तिष्क सभी का अधिष्ठाता है। उसको एक मस्तिष्क कहना उचित नहीं है। अन्तःकरणों में से, चित्त की गोलक, हम इस चैत्तिक मस्तिष्क को कह सकते है। यह चैत्तिक मस्तिष्क उस समय अपने अलौकिक कार्यों का सम्पादन कर सकता है जब, मनुष्य धारणा का अभ्यास करके चित्त को एकाग्र कर सकने की सिद्धि प्राप्त कर लिया करता है।

एक और मुख्य अन्तर-

इन दोनों मस्तिष्कों में एक और भी बड़ा अन्तर है और वह यह है कि जब तक तार्किक बुद्धि काम करती रहती है और मनुष्य जागृतावस्था में रहा करता है, उस समय तक उस पर मेस्मरइज्म या हिप्नाटइज्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् कोई स्त्री पुरुष यह चाहे कि उस पुरुष को जिसकी तार्किक बुद्धि बलवती है और अपना काम दृढ़ता के साथ करती है मेस्मरइज्म आदि से मूर्छित कर दें तो यह सम्भव नहीं है। वहां वह पुरुष अवश्य मूर्छित हो सकता है जिसकी तार्किक बुद्धि बलहीन और इच्छा शक्ति को दृढ़ बनाने में असमर्थ सी है। तार्किक बुद्धि का काम

---

1. The law psychic phenomena by Hudson y. 29-30

बन्द हो जाने पर चैत्तिक मस्तिष्क अन्यों के प्रभावों को चाहे वे कितने ही निकम्मे क्यों न हों, बिना किन्तु परन्तु किये ग्रहण कर लिया करता है। इस अवस्था में उससे यदि कोई कहे कि तुम बन्दर हो या कुत्ते हो या बिल्ली हो तो वह उसे तत्काल अगर मगर किए बिना स्वीकार कर लेगा, इत्यादि।

अन्तःकरणों या मस्तिष्कों के कार्य, उनकी शक्ति और उनके अन्तर को अच्छी तरह समझ लेने और ध्यान में रखने से मनुष्य कभी गलतीं में नहीं पड़ सकता।

(मृत्यु और परलोक से साभार)

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (137-150) January-June 2018 ISSN 2277-4351

आधुनिक मनोविज्ञान*

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

वेद विभाग, गु.का.वि.वि. हरिद्वार

आज शिक्षा के क्षेत्र में नवीन मनोविज्ञान की अत्यधिक चर्चा है। हमारे महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान को एक विषय के रूप में भी पढ़ाया जाता है। प्राचीन मनोविज्ञान के साथ नवीन मनोविज्ञान को देना इसलिए भी अत्यावश्यक है कि जिससे दोनों विज्ञानों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। नवीन मनोविज्ञान में निम्न प्रकार से मनादि के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है–

(1) मनोविज्ञान की परिभाषा–

(1) मनोविज्ञान मन तथा उसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन है।

(2) क्योंकि हमारी ये मानसिक प्रक्रियाएं व्यवहार के रूप में प्रकट होती हैं, इसलिए हम मनोविज्ञान को व्यवहार का अध्ययन भी कह सकते हैं।

(3) क्योंकि हमारे व्यवहार और वातावरण में एक अटूट सम्बन्ध है, इसलिए वातावरण से पैदा हुए उत्तेजकों और वातावरण में होने वाली प्रतिक्रियाओं का अध्ययन व्यवहार के अध्ययन के लिए जरूरी है। हमारा व्यवहार वातावरण में होता है। मनोविज्ञान के लिए इसका अध्ययन जरूरी है। (पृ०2)

(2) विज्ञान किसे कहते हैं–

'किसी विशेष क्षेत्र-सम्बन्धी व्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है।' "विज्ञान तीन प्रश्नों का उत्तर देता है–क्या? क्यों और कैसे।" (पृ० 3)

---

* हमने नवीन मनोवैज्ञानिकों के विचार मनादि के विषय में बहुत ही संक्षेप में दिये हैं। इनका संग्रह तथा पृष्ठसंख्या श्रीयुत बलवीर सिंह गौछवाल लिखित 'मनोविज्ञान' से किया गया है। कहीं-कहीं अक्षरश: तथा कहीं-कहीं उनके भावों को ही यहाँ दिखाया गया है। क्योंकि समयाऽभाव तथा इस अंक में स्थानाऽभाव पद-पद पर रोक लगा रहा था। अत: श्री गौछवाल महोदय का धन्यवाद तो करना ही चाहिए, साथ ही उनका बहुत ही आभार भी मानता हूँ। क्योंकि उन्होंने बहुत ही परिश्रम से मनोविज्ञान-सम्बन्धी सामग्री को संकलित किया है।

'मनोविज्ञान एक विज्ञान है, जिसका अपना एक विषय–मन का अध्ययन है और जो कुछ वैज्ञानिक विधियों का सहारा लेकर अपने विषय-की व्याख्या करता है।' "यह मन की सत्ता को विना सिद्ध किए स्वीकार करता है।" (पृ० 5)

(3) मनोविज्ञान का विषयक्षेत्र–

'मनोविज्ञान का उद्देश्य मन और उसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन है।' मनोविज्ञान साधारण तथा असाधारण दोनों तरह की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन कराता है। मनोविज्ञान में हम मानसिक विकास का भी अध्ययन करते हैं। (पृ० 6–7)

'उसके (बच्चे के) मन के बीज रूप में बहुत सारी प्रवृत्तियां हैं, परन्तु वे धीरे-धीरे विकार में आती हैं। ज्यों-ज्यों वह आयु में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका व्यवहार पहले से ज्यादा जटिल बनता जाता है। मनोविज्ञान इन सारी अवस्थाओं का अध्ययन कराता है।'

'शरीर और मन का आपसी सम्बन्ध बहुत गहरा है। यदि मन अपनी किसी इच्छा को पूरा करना चाहता है तो वह इच्छा कुछ शारीरिक क्रियाओं के रूप में प्रकट होती है। इसी तरह जब कोई उत्तेजक बाहरी दुनिया से हमारी किसी ज्ञानेन्द्रिय पर क्रिया करता है, तो मन को उसका तुरन्त ज्ञान हो जाता है। मन तथा इसकी प्रक्रियाओं का ठीक तरह अध्ययन करने के लिए हमें साथ-साथ अपने शरीर की क्रियाओं का भी ज्ञान होना चाहिए।' (पृ० 7)

'वैयाक्तिक-मन का अध्यन करने के अलावा मनोविज्ञान **समाज-मन** की समस्याओं पर भी अध्ययन करता है।' हर समाज की कुछ, संस्थाएँ होती हैं। 'मनोविज्ञान जनमत, सामाजिक संस्थाओं, रीतिरिवाज, धार्मिक तथा सामाजिक इतिहास, भाषादि का अध्ययन कराता है।' (पृ० 8)

मनोविज्ञान के भेद–'सामान्य मनोविज्ञान, असाधारण मनोविज्ञान, जन्तु-मनोविज्ञान, बालमनोविज्ञान, परीक्षणात्मक मनोविज्ञान तथा व्यावहारिक मनोविज्ञान'। (पृ० 8–10)

(4) मन और व्यवहार–

हमारा मन कोई ऐसी चीज नहीं, जिसको आंखों द्वारा देखा जा सके या हाथों द्वारा छुआ जा सके। 'व्यवहार मानसिक जीवन का बाहरी रूप है। यदि मन और व्यवहार का अलग-अलग अध्ययन किया जाए तो मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत छोटा हो जाता है।' **मन या चेतना को जानना ही असम्भव है** फिर हम इसकी क्या परिभाषा कर सकते हैं। चेतना या मन के चक्कर में पड़कर सिद्धान्तों की रचना

करते रहना भी बेकार है। प्राणी के बाहरी व्यवहार को ही हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं। इसलिए **मनोविज्ञान को व्यवहार का अध्ययन कहना** ही कुछ लाभदायक हैं। यह मत जे० बी० वाट्सन नामी एक अमरीकन विद्वान् ने थोड़े समय पहले पेश किया है। (पृ० 11)

'इस मत को सब विद्वानों द्वारा स्वीकार न करने का बड़ा कारण यह है कि इसमें **मन के लिए कोई स्थान नहीं है।**' व्यवहार तो हमारे मन का बाहरी रूप होता है, इसके पीछे जो **मानसिक शक्ति है, वह भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि हमारा व्यवहार।** (पृ०11)

मन का ज्ञान कैसे होता है–

मन हमारी ज्ञानेन्द्रियों से दूर है।–संसार की चीजों को हम देख सकते हैं, और छू सकते हैं, परन्तु मन को न हम देख सकते हैं और न ही छू सकते हैं। इसलिए इसका **ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास एक ही साधन है–अन्तर्दृष्टि।** (पृ०12)

'बच्चे, पागल, मूर्ख तथा पशु इस विधि को काम में नहीं ला सकते। उनका मन इतना विकसित नहीं होता।'.....केवल समझदार बड़ी आयु वाले लोग ही इस विधि का प्रयोग कर सकते हैं। (पृ० 13)

व्यवहारवादी अन्त:प्रेक्षण को एक उपयोगी विधि न मानने का एक कारण यह बताते हैं कि इस काम में जुटे सब लोग अलग-अलग परिणामों पर पहुँचते हैं। उनके परिणाम कई बार आपस में मिलते-जुलते भी नहीं। (पृ० 14)

'व्यवहारवादियों के लिए तो अन्त:प्रेक्षण का नाम ही हव्वा है।' (पृ० 15)

(5) शरीर-विज्ञान का मनोविज्ञान के साथ अटूट सम्बन्ध–

मन को पूरी तरह समझने के लिए शरीर के कुछ भागों का अध्ययन करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा जरूरी है।

(1) **केन्द्रीय स्नायु-मण्डल**–स्नायु मण्डल को दो विभागों में बांटा जा सकता है–केन्द्रीय स्नायु-मण्डल और स्वतंत्र स्नायु मण्डल। स्वतन्त्र स्नायु-मण्डल में स्नायु सूत्र पाये जाते हैं जो केन्द्रीय स्नायु-मण्डल को ज्ञानेन्द्रियों से मिलाते हैं।

मस्तिष्क–केन्द्री स्नायुमण्डल का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है, यह खोपड़ी के भीतर बड़ी अच्छी तरह सुरक्षित होता है। इसके मुख्य तीन भाग हैं– (1) बड़ा मस्तिष्क (2) छोटा मस्तिष्क और (3) सुषुम्णा-शीर्षक।

बड़ा मस्तिष्क–यह भाग मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग है और खोपड़ी के

ऊपरी भाग में स्थित है। लम्बाई के रुख यह एक दरार द्वारा दो बराबर भागों में बँटा है जो गोलार्ध आकृति के हैं।.....इस मस्तिष्क का दायां भाग शरीर के बाँए अंग को संचालित करता है और बायाँ भाग दाएँ अंग को। यह दो प्रकार के पदार्थों का बना है-भूरा तथा सफेद।

मस्तिष्क के इस भाग में बोध केन्द्र तथा कर्म क्षेत्र भिन्न 2 भागों में पाए जाते हैं। यह परीक्षण द्वारा देखा गया है कि यदि श्रवण-केन्द्र को उत्तेजित कर दिया जाए तो व्यक्ति को आवाज सुनाई पड़ने लगती है, यदि दृष्टि केन्द्र को उत्तेजित कर दिया जाय तो वह प्रकाश देखता है और यदि कर्म क्षेत्र को उत्तेजित कर दियाजाय तो वह हाथ पैन हिलाने लगता है।

छोटा मस्तिष्क—यह बड़े मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित है। वैसे तो इसका क्षेत्र बड़े मस्तिक के क्षेत्र से बहुत थोड़ा है, परन्तु इसकी क्रियाएँ हमारे जीवन के लिए बड़ा महत्त्व रखती हैं। इसी से शरीर में भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। हमारी बहुत सी ऐसी शरीरिक क्रियाएँ हैं, जिन में मांसपेशियाँ काम करती हैं, जैसे दौड़ना, चलना, बोलना, गाना, तैरना आदि। इस मांसपेशियो की गतियों को जोड़ना, उन पर नियंत्रण रखना और हमारी इस प्रकार की क्रियाओं की गति को आसान करना छोटे मस्तिष्क का काम है।.....जब किसी व्यक्ति के छोटे मस्तिष्क में किसी प्रकार का विकार हो जाता है, तो वह अपते शारीरिक-सन्तुलन को खो बैठता है।

सुषुम्णा शीर्षक—यह छोटे मस्तिष्क के ठीक नीचे स्थित है। वास्तव में यह सुषुरुम्णा का उभरा हुआ भाग है, जो सुषुम्णा को मस्तिष्क से मिलाता है। जितने स्नायु सूत्र सुषुम्णा से निकल कर मस्तिष्क की ओर जाते हैं, वे सभी सुषुम्णा शीर्षक को लांघकर जाते हैं। इनका काम हृदय की धड़कन रक्त संचार तथा पाचनक्रिया का संचालन करते रहना है। यदि इसका ऊपरी भाग किसी चोट लगने से विकार ग्रस्त हो जाए, तो मस्तिष्क और दूसरी शारीरिक क्रियाओं का सम्बन्ध टूट जाता हैं।..... ....यदि इसका नीचे का भाग चोट के कारण खराब हो जाए, तो दिल और फेफड़े अपना काम बन्द कर डालते हैं और इस प्रकार श्वास-क्रिया तथा रक्त संचार के बन्द होने पर व्यक्ति की जीवन समाप्त हो जाता है।

सुषुम्णा—हमारे शरीर के भिन्न 2 भागों में जो स्नायु सूत्र मस्तिष्क को जाते हैं, वे पीठ की हड्डी से जुड़े होते हैं। इस हड्डी के लम्बे तार को सुषुम्णा कहते हैं। ऊपर की ओर यह सुषुम्णा-शीर्षक से मिली होती है और नीचे पीठ के मोहरे के पास स्नायुओं के एक समूह के रूप में समाप्त हो जाती है। इसकी लम्बाई लगभग अठारह इंच होती है।.....बोधतन्तु सुषुम्णा में दोनों ओर से आते हैं और कर्मतन्तु दोनों ओर बाहर निकलते हैं।

इस प्रकार सुषुम्णा के दो बड़े काम हुए–एक तो यह कि यह अपनी बोध-स्यानुओं द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न भागों से भिन्न 2 संवेदनाओं को इकट्ठा करके मस्तिष्क को पहुँचा देती है। दूसरा काम यह है कि जो आज्ञा मस्तिष्क देता है, उसे यह अपनी कर्म स्नायुओं द्वारा शरीर के भागों तक पहुँचाती है। जिससे शरीर में गतियाँ होती हैं। (पृ० 30–33 तक)

मन और शरीर का सम्बन्ध अवश्य है। जब मैं मेज पर पड़ी पुस्तक उठाने की इच्छा करता हूँ, तो मन में से यह इच्छा तुरन्त शरीर द्वारा प्रकट हो उठती है। जब मेरी उंगली पर कांटा लगता है, तो मुझे तुरन्त दर्द मालूम होता है। यह शरीर द्वारा मन में अनुभव पैदा हुआ।

उपविकारवाद–इसके अनुसार मन मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाला पदार्थ ही है। मस्तिक में विभिन्न क्षेत्र हैं, इन क्षेत्रों में नाडी-कोश पाए जाते हैं। जब इनसे नाडी-कोशों को उत्तेजना मिलती है, तो मानसिक प्रक्रियाएँ जन्म लेती हैं। अपने आप मानसिक प्रक्रियाएँ पैदा नहीं हो सकतीं। इनका अस्तित्व मस्तिष्क के क्षेत्रों की उत्तेजना पर निर्भर करता है। मानसिक प्रक्रियाएँ मस्तिष्क में होने वाली क्रियाओं का उत्पादन ही हैं। जिस प्रकार पत्थर के दो टुकड़ों की आपसी रगड़ से आग पैदा हो जाती है, उसी प्रकार मस्तिष्क में होने वाली क्रियाएँ मानसिक प्रक्रियाओं को जन्म देती हैं। इस तरह देखा जाए तो मन मस्तिष्क से पैदा होने वाला पदार्थ ही है।

उपविकारवाद की दलीलें–

(1) कार्य-कारण का नियम कहता है कि संसार में जो कुछ भीहोता है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है यदि यह नियम उचित है, तो फिर मानसिक प्रक्रियाओं का कोई न कोई कारण जरूर होगा। मस्तिष्क के क्षेत्रों में जो नाडी-कोश है, उनकी उत्तेजना ही मानसिक व्यापारों का कारण है।

(2) यह देखा गया है कि मस्तिष्क में पाए जाने वाले बोध-केन्द्र तथा कर्म-केन्द्र यदि ठीक काम करते हैं, तो हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों से सब तरह के अनुभव ठीक तरह होते रहते हैं। यदि इनमें कुछ गड़बड़ी हो जा जाए तो हमारी मानसिक प्रक्रियाएँ या तो बिल्कुल नहीं होतीं या अधूरी होती हैं।.....इससे साफ तौर पर पता चलता है कि मानसिक प्रक्रियाएँ मस्तिष्क की क्रियाओं पर आधारित हैं।

(3) यदि व्यक्ति किन्हीं नशीली चीजों का इस्तेमाल करले तो उनके प्रभाव से मस्तिष्क की क्रियाएँ ठीक तरह करना बन्द कर देती हैं। फिर मानसिक क्रियाओं के ठीक तरह होने में भी रुकावट पड़ने लगती है।..... ऐसी हालत में हम सोच

विचार ठीक तरह नहीं कर पाते। इससे भी पता चलता है कि मानसिक क्रियाएँ मस्तिष्क की क्रियाओं पर आश्रित है।

(4) यदि मस्तिष्क किसी प्रकार के रोग का शिकार हो जाए या चोट से इस में कोई खराबी पैदा हो जाए, तो मानसिक प्रक्रियाएँ भी असाधारण रूप में न हो पायेंगी।

उपविकारवाद में न्यूनताएँ–

(1) मस्तिष्क एक जड़ पदार्थ है, यह अचेतन है, परन्तु मानसिक प्रक्रियाएँ चेतन होती हैं। फिर यह कैसे हो सकता है कि अचेतन क्रियाओं से चेतन क्रियाओं का जन्म हो सके।

(2) एक वस्तु अपनी किस्म की दूसरी वस्तु को तो पैदा कर सकती है, अपने से भिन्न वस्तु को नहीं। मन चेतन तथा क्रियाशील है, मस्तिष्क अचेतन तथ जड़। फिर मानसिक प्रक्रियाएँ किस तरह मस्तिष्क की क्रियाओं का उत्पादन माना जा सकता है।

(3) हमारी सब तरह की क्रियाओं के पीछे कोई न कोई प्रयोजन जरूर होता है। यह प्रयोजन हमारे मन में होता है। इसी से हमारी क्रियाएँ होती है। जैसा कि मैक्डूगल ने भी कहा है। पशुओं की क्रियाओं में भी कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है। यदि हमारी मानसिक प्रक्रियाएँ जड़ तथा अचेतन मस्तिष्क की क्रियाओं की उत्पत्ति है, तो फिर हम मानव तथा पशु व्यवहार में पाए जाने वाले प्रयोजन की किस तरह व्याख्या कर सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता। (पृ० 55)

(6) **मन क्या है?** बहुत समय से इस बात पर काफी वाद-विवाद होता आया है कि मन का असली स्वरूप क्या है। इस सम्बन्ध में काफी मत बने हैं, परन्तु ये सब मत मन के व्यावहारिक अभिव्यक्ति के निरीक्षण के आधार पर ही बने हैं।

कुछ विद्वानों ने सोचा कि मन में अनुभवों को ग्रहण करने की शक्ति तो है, पर ये शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की होंगी, क्योंकि जो अनुभव मन ग्रहण करता है वे भी स्वरूप से एक दूसरे से भिन्न ही हैं। किसी विषय को याद करना उसके बारे में कल्पना करने से बिल्कुल भिन्न है। ये दो ऐसे अनुभव हैं, जो स्वरूप से ही एक दूसरे से अलग हैं, परन्तु फिर भी मन एक ही है, जिसमें ये सुरक्षित हैं।

हमारे सामने बहुत सारी चीजें-मेज, कुर्सियाँ, चारपाई, किताबें पड़ी हैं। मेज में कितनी ही चीजें शामिल हैं,–उसकी टांगें, उसके ऊपर का तख्ता, बराबर के लकड़ी के टुकड़े, परन्तु फिर भी हम इसको एक ही नाम देते हैं–मेज। इसके

विभिन्न हिस्सों से अलग 'मेज' नाम की कोई चीज नहीं है। इन सब हिस्सों की आपसी मिलावट को ही हम 'मेज' कहते हैं। यही बात कुर्सी, चारपाई, कलम आदि पर लागू होती है और "यही बात 'मन' के बारे में भी ठीक है।"

जैसा कि हम पहले (अध्याय) में कह आए हैं–मन कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसका प्रत्यक्ष रूप में अनुभव हो सके। हम इसको आंखों से देख नहीं सकते। इसीलिए कुछ लोगों ने मत बनाया है कि मन एक अभौतिक वस्तु है जो हमारे शरीर में विद्यमान है। **इसकी अपनी शक्तियाँ हैं–सोचना, कल्पना करना, स्मरण करना** इत्यादि। यह मत हमें बताता है कि मन क्या नहीं है, यह नहीं बताता कि मन क्या है।

विभिन्न प्रकार के अनुभवों को ग्रहण करने की योग्यताओं तथा शक्तियों को सामूहिक रूप में मन कहा जाता है। असल में मन एक सृजनात्मक शक्ति है। कल्पना, स्मृति, संकल्प, बुद्धि आदि शक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि ये व्यक्त की क्रियाएँ करने के ढंग को बताती हैं, जिनको हम मन की शक्तियाँ कहते हैं।

बुद्धि द्वारा हम अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। स्मृति हमें पुराने अनुभवों की याद कराती है। कल्पनाशक्ति द्वारा हम नये-नये अनुभवों का विचार कर पाते हैं।

अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मन विभिन्न प्रकार की योग्यताओं या प्रक्रियाओं का ही नाम है। इनसे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं।.....इन अनुभवों या प्रक्रियाओं का समुच्चय ही मन है। (पृ० 52–53)

(7) **बुद्धि का स्वरूप**–सब विद्वान् मानते हैं कि बुद्धि एक मानसिक शक्ति है। **स्टर्न** केअनुसार बुद्धि एक ऐसी योग्यता है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने आप को परिस्थिति के अनुकूल बना पाता है।

'टरमन' के अनुसार अमूर्त चिन्तन की योग्यता ही बुद्धि है।

'थार्नडाइक' और **'थौम्सन'** जैसे विद्वान् बुद्धि को केवल एक ही योग्यता नहीं मानते। उनके विचार में बुद्धि अनेक प्रकार की योग्यताओं का, जो अपने आप स्वतंत्र तौर पर काम करती है, एक भण्डार है।

वेल्स के अनुसार बुद्धि का ठीक अर्थ वह शक्ति है जो हमारे व्यवहार के अंशों को इस तरह पुनः संगठित करती है कि हम नई परिस्थितियों में ज्यादा अच्छी तरह काम कर सकें।

प्रो० वुडवर्थ ने बुद्धि का स्वरूप ठीक तरह समझाने के लिए बुद्धि और मनीषा में भेद बतायाहै। इन दोनों में बहुत गहरा सम्बन्ध होते हुए भी कुछ भेद है।

मनीषा सोचने-समझने, याद करने, जानने तथा ज्ञान प्राप्त करने की एक शक्ति है। मनीषा हमें ज्ञान प्राप्त कराती है, परन्तु बुद्धि का काम इससे कहीं ज्यादा है। यह हमें समस्याओं के सुलझाने में मदद देती है।

स्पीयर मैन ने बुद्धि को सामान्य और विशिष्ट दो प्रकारों में बाँट दिया है।

इस तरह से बुद्धि के विषय में भिन्न-भिन्न राय हैं, परन्तु सभी विद्वान् ज्ञानात्म्क पहलू पर ही जोर देते हैं। अतः बुद्धि एक मानसिक योग्यता है, जिसका प्रदर्शन व्यक्तियों के कार्य योग्यता-प्राप्ति में पाया जाता है।

(8) **स्मृति क्या है?** हमारी वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा हम अपने गत अनुभवों को यथार्थ रूप में जागृत कर पाते हैं, स्मृति कहलाती है। प्रो० विलियम जेम्स के अनुसार–'चेतना से एक बार हट जाने के बाद मन की पूर्व अवस्था के पुनः ज्ञान का नाम ही स्मृति है।'

(9) **मूल प्रवृत्तियाँ और आदत**–मूल प्रवृत्तियाँ जन्म-जात होती हैं और आदतें अर्जित होती हैं। भोजनान्वेषण प्रवृत्ति, पलायन प्रवृत्ति आदि मूल प्रवृत्तियाँ हैं और सिगरेट पीना, शराब पीनादि आदतें हैं। मूल प्रवृत्तियों का वर्जन सम्भव नहीं किन्तु आदतें छोड़ी जा सकती हैं। मूल प्रवृत्तियों में संशोधन हो सकता है।

(10) मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ–

ज्ञानात्मक अनुभव चेतना के स्वभाव को प्रकट करते हैं। ये अनुभव मनोवृत्तियाँ कहलाते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना की उपमा नदी से दी है। जैसे नदी का पानी लगातार बहता रहता है, वैसे ही चेतना में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव एक दूसरे के पश्चात् आते रहते हैं। कोई भी क्षण ऐसानहीं होता जब हमारी चेतना अनुभवों से शून्य हो।

प्रत्येक मनोवृत्ति एक बार चेतना में आते ही फिर मानसिक क्षेत्र को नहीं छोड़ती, बल्कि अव्यक्त रूप में **चेतन केन्द्र** के समीप ही स्मृति के वेश में अपनी सत्ता बनाए रखती है। इस मानसिक अवस्था को **अवचेतना** कहते हैं। हमारे मानसिक सारे अनुभव एक समान नहीं होते। कुछ रुचिकर, उपयोगी तथा शुभ होते हैं और दूसरे कड़वे, अनुपयोगी तथा अशुभ होते हैं। इन दूसरे अनुभवों को मन निकालने का पूरा प्रयत्न करता है, किन्तु ये एक बार छाप लगाने वाले अनुभव कभी सर्वांश में नष्ट नहीं होते, किन्तु चेतना से दूर अपने असहाय रूप में एकत्रित होते रहते हैं। यह मानसिक दशा **अचेतना** होती है। चेतना का तीसरा गुण है–चयनात्मकता। चेतना की इस चयनात्मकता में विषय का प्रत्येक भाग क्रमशः चेतना-केन्द्र में प्रधान होता जाता है। चेतना का चौथा गुण है–उसकी **एकता**। हमारी चेतना में भिन्न-भिन्न

प्रकार के अनुभव आते रहते हैं, यपि ये अनुभव संख्या में अधिक और स्वभाव से भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं, तो भी ये चेतनालड़ी में बंधे रहते हैं। चेतना की एकता व्यक्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है।

इस तरह देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चेतना की मात्राएँ हैं—चेतना, अवचेतना, अचेतना। मन की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। इनसे हमारे मानसिक अनुभव विद्यमान रहते हैं। (पृ० 44—50)

(11) प्रत्यक्षीकरण और संवेदना—

वातावरण से पैदा होने वाली उत्तेजना या घटनाओं का तुरन्त ज्ञान प्राप्त करने की मानसिक प्रक्रिया का नाम ही प्रत्यक्षीकरण है। हमारा वातावरण तरह-तरह की वस्तुओं तथा घटनाओं से परिपूर्ण है। ये वस्तुएँ और घटनाएँ हमारी भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों को समय-समय पर उत्तेजित करती रहती हैं। जब कोई उत्तेजना हमारी किसी ज्ञानेन्द्रिय पर क्रिया करती है, तो उसका प्रभाव हमारी ज्ञानेन्द्रिय पर कुछ समय के लिए चलता रहता है। इस तरह **संवेदनाओं** का जन्म होता है। जब मन इन संवेदनाओं के स्वरूप को जान लेता है, तो फिर ये मानसिक अनुभव का रूप धारण कर लेती हैं इन संवेदनाओं का जिस चीज या घटना के साथ सम्बन्ध होता है, मन को उस चीज या घटना का पूरी तरह ज्ञान हो जाता हे। इस ज्ञान को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं।

संवेदना एक सरल मानसिक प्रक्रिया है, प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है। **रैक्स** तथा **नाइट** ने कहा है कि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चेतन या अचेतन दशा में कुछ ऐसे गुण भी अपनी तरफ से जोड़ देते हैं, जो पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु उस समय नहीं दीखते, यह प्रत्यक्षीकरण में मन का अपना हिस्सा है।

संवेदना में धुन्धली-सी चेतना ही होती है, मन को उत्तेजना के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्षी करण में स्पष्ट ज्ञान होता है। (पृ० 85—87 तक)

(12) **ध्यान—**मन को एकाग्र करके किसी वस्तु की ओर लगाने की क्रियाको ध्यान कहते हैं। इसीलिए **जेम्सवार्ड** ने ध्यान को मानसिक क्रिया कहा है। (पृ० 98)

कल्पना—व्यक्ति की वह मानसिक शक्ति, जिसके द्वारा वह अपने पूर्व अनुभवों को नये ढंग से रचता है, कल्पना कहलाती है। हम अपने पूर्व अनुभवों को दो तरह से पुनःस्मरण कर सकते हैं। उनके वास्तविक रूप में या उनके संयोजक तत्त्वों में बदलकर नये रूप में। पहली स्थिति को स्मृति तथा दूसरी को कल्पना कहते हैं। (पृ० 155—156)

क्रिया–मुख्य रूप से क्रियाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. ऐच्छिक् क्रिया 2. अनैच्छिक क्रिया। ऐच्छिक क्रियाएँ प्रेरणा-संघर्ष के बाद निर्णीत संकल्प से की जाती हैं। और अनैच्छिक क्रियाएँ विना संकल्प के होती हैं। मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ या सहजक्रियाएँ अनैच्छिक हैं। (पृ० 169)

संवेग–संवेग व्यक्ति की वह भावात्मक मानसिक अवस्था है, जो किसी स्थिति, घटना या वस्तु के देखने, याद आने या सुनने से उत्तेजित हो जाए। संवेगात्मक अनुभव के समय व्यक्ति के मन में इतनी उथल-पुथल मच जाती है कि उसका सारा व्यवहार स्पष्ट रूप में अध्ययन किया जा सकता है। (पृ० 190)

स्थायीभाव–जब कोई वस्तु किसी प्रकार के संवेग को बार-बार उत्तेजित करती है, तो वह उस संवेग से एक विशेष सम्बन्ध बना लेती है। जब वह सम्बन्ध रूप ले लेता है, तो हम उसे स्थायीभाव कहते हैं। (पृ० 205)

चिन्तन–प्रो० वुडवर्थ के अनुसार चिन्तन पूर्व निरीक्षित तथ्यों का पुनः स्मरण, तथ्यों का समूहीकरण, तथ्यों को सुलझाने में प्रयत्न और मूलविधि का प्रयोग, उद्देश्य अथवा प्रगतिशील क्रिया द्वारा नियन्त्रणादि क्रियाओं का सम्मिश्रण है (पृ० 211)

(13) मनोविज्ञान के मुख्य सम्प्रदाय–

(1) मनोविश्लेषणवाद–इसके जन्मदाता प्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्रायड हैं। आप मनोविकृतियों के प्रथम चिकित्सक रहे। आपने मन सम्बन्धी खोजें और व्यावहारिक सिद्धान्त संसार के समक्ष रखे, जो बहुत ही लोकप्रिय बन गए हैं। आपने अपने सिद्धान्तों में जो महत्त्व काम-प्रवृत्ति को दिया है, वह बहुत ही अनोखा है। आपने अनुसार स्वप्नों तथा मानसिक विकारों का कारण काम-प्रवृत्ति है।

(2) उद्देश्यवाद–इसके जन्मदाता विलियम मैक्डूगल हैं। इनका मनोवैज्ञानिक क्षेत्र पर पर्याप्त प्रभाव है। इनके अनुसार प्राणियों के व्यवहार का आधार उद्देश्य है। प्रत्येक क्रिया में किसी न किसी प्रकार का उद्देश्य अवश्य होता है। उद्देश्य ही प्राणी के व्यवहार का प्रेरक है। मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियां ही व्यक्ति के व्यवहार की मूल प्रेरक हैं। मूल प्रवृत्तियाँ तीन अवस्थाओं में प्रकट होती हैं–ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा इच्छात्मक।

(3) व्यवहारवाद–इसके जन्मदाता जे० बी० वाट्सन नामक विद्वान् हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान का असली विषय व्यक्ति का व्यवहार है। जो बाह्यगत रूप से अध्ययन किया जा सकता है। "मन का मनोविज्ञान की परिभाषा में कोई स्थान नहीं"। वाट्सन का विचार है कि जब तक मनोविज्ञान का विषय मन रहेगा, उस

समय तक यह एक विज्ञान का रूप धारण नहीं कर सकता। क्योंकि मन का बाह्यगतरूप अध्ययन करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। जब मन ही मनोविज्ञान का विषय नहीं हो सकता, तो अन्तःप्रेक्षण-विधि व्यवहारवाद के लिए निरर्थक है।

यह सम्प्रदाय वर्त्तमान काल में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना अपने जन्म के तुरन्त पश्चात् रखता था। मन और व्यवहार एक ही व्यक्तित्व के दो महत्त्वपूर्ण भाग हैं।

(4) गैस्टाल्ट मनोविज्ञान–इसके जन्तदाता तीन जर्मन मनोवैज्ञानिक हैं। इनके अनुसार अनुभव को सम्पूर्ण रूप में प्राप्त करना एक मानसिक गुण है।यदि अनुभव को उसके भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित करके अध्ययन किया जाए तो उसकी अपनी विशेषता खो जाती है। इन मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षीकरण और सूक्तविधि के जो सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में रक्खे हैं, वे आधुनिक खोजों से तालमेल खाते हैं। (पृ० 242–254)

(14) मनोविज्ञान के अध्ययन के लाभ–

मन तथा वातावरण के सम्पर्क से जो क्रियाएँ व्यक्ति करता है, वे मानसिक विकास पर बहुत प्रभाव डालती हैं। हमारा मन बीज के दाने के समान है। बीज के एक दाने को जमीन में बो दिया जाए तो कुछ समय बाद वह एक छोटे से अंकुर के रूप में प्रकट होता है। धूप, पानी, खादादि की सहायता से वह बड़ा होने लगता है। धीरे-धीरे उसका विकास होने लगता है। कुछ वर्षों के बाद वह एक पेड़ बन जाता है। मन में बीज रूप में सब तरह की शक्तियाँ विद्यमान हैं, परन्तु उनका विकास तभी हो सकता है, जब उसके अनुकूल वातवारण हो (पृ० 21)

शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानसिक जीवन का विकास है। मन सम्बन्धी ज्ञान सारी शिक्षाविधियों का आधार कहा गया है। विद्यार्थियों का मानसिक विकास, नैतिक उन्नति आदि अध्यापक के मानसिक ज्ञान पर निर्भर करते हैं। (पृ० 22)

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बच्चे की उन सब मानसिक शक्तियों को, जो सुषुप्त अवस्था में उसके मन में विद्यमान हैं, व्यक्ति या जागरित करना है, जिससे वह अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने में इनका सदुपयोग कर सके। (पृ० 258)

मनोविज्ञान का उद्देश्य मानसिक प्रक्रियाओं तथा मानसिक शक्तियों के स्वरूप, उनकी अभिव्यक्ति के साधन, उनके विकसित होने का ज्ञान तथा उनकी जांच करने की विधियों का अध्ययन करना है। (पृ० 258)

नवीन मनोविज्ञान की समीक्षा–

नवीन मनोविज्ञान तथा वैदिक मनोविज्ञान में निम्न समानताएँ हैं–

(1) शिक्षा में मनोविज्ञान की उपयोगिता अत्यधिक है। (2) मन में बीज के दाने की तरह प्रसुप्त शक्तियाँ या संस्कार विद्यमान रहते हैं। (3) मन एक अभौतिक तत्त्व है, जो शरीर के अन्दर है। सोचना, कल्पना करना, स्मरण करना, निश्चय करना आदि मन के कार्य हैं। (4) मन प्रत्यक्ष नहीं है। (5) बुद्धि, स्मृति आदि मानसिक वृत्तियाँ हैं। (6) मन को समझने के लिए शारीरिक विज्ञान का जानना अत्यावश्यक है। (7) ज्ञानात्मक अनुभव मानसिक क्षेत्र को नहीं छोड़ते, प्रत्युत चेतना केन्द्र के समीप ही स्मृति के रूप में अंकित होते रहते हैं। (8) मन किसी भी प्रकार का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही कराता है।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी दोनों विज्ञानों में अनेक विषमताएं भी हैं। (1) नवीन विज्ञान में कोई भी विद्वान् मन का स्वरूप निर्धारण नहीं कर सका है।और मन की परिभाषा के बिना समस्त मनोविज्ञान भ्रान्तिपूर्ण तथा अपूर्ण ही दीखता है। (2) प्राचीन दार्शनिक मन को अन्तः-करण मानते हैं, जीवात्मा की प्रेरणा से मन कार्य करता है, स्वतः नहीं। किन्तु नवीन मनोवैज्ञानिक जीवात्मा के विषय में बिल्कुल मौन धारण किए हुए हैं। और मन को करण न मान का एक शक्ति मानते हैं। (3) प्राचीन दार्शनिक मन को जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मातरों में साथ मानते हैं, किन्तु नवीन इस विषय में चुप हैं। (4) नवीन भोजन-प्रवृत्ति, जिज्ञासादि मूल प्रवृत्तियों को प्राकृतिक मानते हैं, जब कि प्राचीनों का एक मत से यह निश्चय है कि जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार मन में विद्यमान रहते हैं, और जीवात्मा इनके अनुसार ही क्रिया करता है। (5) नवीन विद्वान् चेतन-शक्ति जीवात्मा को न मान कर मानसिक क्रियाओं को स्वीकार कर रहे हैं, किन्तु अचेतन पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति कदापि सम्भव नहीं है, अतः यह भ्रान्ति ही है। क्योंकि जड़ पदार्थों में यह विवेक कहाँ है कि मैंने यह देखा था और अब उसे ही देख रहा हूँ। अथवा पूर्वानुभूत पदार्थ को देख कर ही रसास्वादन की स्मृति होने लगे। इस सब एकरूपता का कारण एक जीवात्मा ही है। (6) मन आत्मा के संयोग के विना और ज्ञानेन्द्रिय मन के संयोग के बिना कार्य नहीं कर सकते। यही कारण है कि अनेक बार हम देखते हुए भी नहीं देख सकते, सुनते हुए भी नहीं सुन सकते। यही मन का लिङ्ग=ज्ञापक है। इस सर्वजन अनुभव में आने वाले मन के ज्ञापक लिङ्ग को जानते हुए भी न मानना क्या प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं है? अन्यथा बाह्य वस्तुओं तथा वातावरण के प्रभाववश एक समय में अनेक ज्ञान होने चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः नवीन वैज्ञानिकों के माने हुए संवेग तथा प्रत्यक्षीकरण के अन्तर को कैसे माना जा सकता है! प्रथम संवेग

और फिर प्रत्यक्षीकरण यह ज्ञान की प्रक्रिया त्रुटिपूर्ण है। मन के संयोग के बिना कोई भी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती। (7) प्राचीन विद्वान् गुण या क्रिया के आश्रय को द्रव्य मानते हैं। उन्होंने मन को भी नौ द्रव्यों में एक द्रव्य माना है। उसके स्मृति आदि गुण माने हैं। किन्तु नवीन मानसिक क्रियाओं तथा शक्तियों को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके आधार-भूत मन को द्रव्य नहीं मानते अथवा उसके विषय में चुप हैं। क्या बिना आश्रय के भी कोई शक्ति या क्रिया हो सकती है? (8) हमारी समस्त क्रियाओं के मूल में एक उद्देश्य परिलक्षित होता है। इस बात को सभी स्वीकार करते हैं। क्या बिना इन्द्रियाँ, मन, शरीरादि के स्वामी जीवात्मा का एक उद्देश्य हो सकता है? और जीवात्मा बहिर्गमन करने पर इन्द्रियादि क्यों कार्य नहीं कर सकतीं? इस विषय का विना निर्धारण किए क्या नवीन मनोविज्ञान विना नींव के मकान के समान नहीं है? (9) नवीन वैज्ञानिकों ने जो विज्ञान की परिभाषा की है कि विज्ञान क्या? क्यों और कैसे? का उत्तर देता है। मन क्या है? इस बात को न बताकर क्या नवीन मनोविज्ञान विज्ञान कहा जा सकता है। (10) मन या चेतना को जानना असम्भव है, यह नवीनों की महाभ्रान्ति है। प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य का युक्ति व प्रमाण से निर्धारण किया हुआ है। नवीनों को इस विषय में उनकी शरण में जाकर अपनी भ्रान्ति दूर करनी चाहिए। (11) मन को ज्ञानेन्द्रियों से दूर बताना भी भ्रान्तिपूर्ण मान्यता है। क्योंकि मन के संयोग के बिना ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य ही नहीं कर सकतीं। नवीनों को इन्द्रियों के बाह्य गोलकों को ही इन्द्रिय मानने से यह भ्रान्ति हुई है। उन्हें प्राचीन दार्शनिकों के इन्द्रियोत्पत्ति प्रकरण को ध्यान से पढ़ना चाहिए। (12) नवीनों ने शिक्षा में मनोविज्ञान का महत्त्व तो स्वीकार किया है, किन्तु मन के स्वरूप व उसके एकाग्र करने के साधनों से प्रायः वे अपरिचित ही हैं। इसी कारण उन्हें सन्मार्ग से भ्रष्ट ही कहना चाहिए। उन्हें प्राचीन ऋषिमुनियों के स्वानुभूत यम-नियमादि सत्य-उपायों का भी परीक्षण अवश्य करना चाहिए। (13) प्रायः नवीनों की यह भ्रान्ति ही है कि जिन्होंने मन या चेतना के विषय में खोज की है, उनमें कदापि एकरूपता नहीं रही। हमने वेद-उपनिषद्, दर्शन, ब्राह्मण तथा स्मृति आदि प्राचीन आचार्यों के वचनों का इस मनोविज्ञान अंक में संग्रह किया है, किन्तु उनमें सब की एकरूपता ही है। कहीं भी मनादि के विषय में मतभेद नहीं है। (14) नवीन आचार्यों की यह भी भ्रान्ति ही है कि प्राचीन दार्शनिकों ने मनादि के सिद्धांतों की तो खोज की, किन्तु मनादि के व्यावहारिक पक्ष को नहीं रक्खा। इस मिथ्या-भ्रान्ति को दूर करने के लिए विद्वानों को दार्शनिकों के विचारों पर निष्पक्ष होकर विचार करना चाहिए। विशेषरूप में योगदर्शन को। जिसमें यम-नियमादि का एक सर्वांगपूर्ण तथा व्यावहारिक पक्ष हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है। जिसका आश्रय प्राचीन शिक्षा-शास्त्री सदा से करते रहे हैं। और उनका आश्रय किए बिना

कदापि मनोविज्ञान का शिक्षा में उपयोग नहीं किया जा सकता।

मन और शरीर का घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि मन भी शरीराश्रय से ही कार्य करता है। प्रस्तुत नवीन मनोविज्ञान के मस्तिष्क, सुषुम्णादि के स्थलों को पढ़कर प्राचीन दर्शनकारों के सत्यविचारों की ही पुष्टि हो रही है। प्राचीन दर्शनकारों ने आत्मा के साथ मन का स्थान हृदय (छाती) में माना है। यहाँ आत्मा मन को प्रेरणा देता है और मन सुषुम्णा के दोनों ओर विद्यमान बोध-तन्तुओं को प्रेरित करता है, और वे मस्तिष्कादि स्थानों से होकर इन्द्रियों को प्रेरित करते हैं। विद्वान् इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें, तो इस विषय का बहुत ही स्पष्टीकरण हो सकता है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (151-162) January-June 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक मनोविज्ञान

-डॉ. कपिलदेव द्विवेदी
विश्वभारती अनुसंधान परीषद् रामपुर,
भदौही (उ.प्र.)

मनोविज्ञान का स्वरूप

वर्तमान समय में मनोविज्ञान एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। इसे मनोविज्ञान या Psychology कहा जाता है। Psychology शब्द Psycho (ग्रीक Psyche-spirit, Mind, आत्मा, मन) और Logy (ग्रीक Logia, विज्ञान) शब्दों के मेल से बना है। इसका अर्थ है, मन का विज्ञान या मन की विभिन्न स्थितियों का विज्ञान। मन के समस्त क्रिया-कलाप का वैज्ञानिक अध्ययन इसका विषय है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध दर्शन और विज्ञान दोनों से है। मन और मन की विविध चेष्टाएँ दर्शन का विषय है, अतः यह दर्शन है। मन के विविध क्रियाकलापों का यन्त्रों के द्वारा सूक्ष्मतम निरीक्षण और उनका परीक्षण, उन परीक्षणों से विविध निष्कर्ष निकालना आदि विज्ञान का विषय है, अतः मनोविज्ञान दर्शन और विज्ञान दोनों से संबद्ध है।

मनोविज्ञान के अन्तर्गत संक्षेप में ये विषय लिये जाते हैं:- स्नायु-मण्डल (Nervous System), संवेदना (Sensation), प्रत्यक्षीकरण (Perception), अवधान या ध्यान (Attention), सीखना (Learning), स्मरण (Remembering), विस्मरण (Forgetting), कल्पना (Imagination), चिन्तन (Thinking), भाव या अनुभूति (Feeling), संवेग (Emotion), प्रेरणा (Motivation) , चेतना (Consciousness) स्वप्न (Dream), बुद्धि (Intelligence), योग्यताएँ (Aptitude), व्यक्तित्व (Personality), वंशानुक्रम एवं वातावरण (Heredity and Environment), विफलता (Frustration), आदि।

आधुनिक मनोविज्ञान में ज्ञान और विज्ञान के विविध क्षेत्रों को लेकर इसकी अनेक शाखाएँ हो गई हैं। जैसे- बाल-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, उद्योग-मनोविज्ञान, न्याय या विधि-मनोविज्ञान, वाणिज्य-मनोविज्ञान, अपराध-मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान, स्नायु-मनोविज्ञान (Neuro-psychology) आदि।

भारतीय चिन्तन की धारा

वेदों में मनोविज्ञान की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उसका कुछ विकसित रूप ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में प्राप्त होता है। जिस प्रकार वर्तमान समय में मनोविज्ञान का विश्लेषणात्मक अध्ययन हो रहा है, उतना विस्तृत और व्यापक अध्ययन प्राचीन समय में प्राप्त नहीं होता है। ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में मन का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया गया है। इनमें मन के गुण, धर्म, स्वरूप और कार्यों की समीक्षा है। इनका ही यहाँ पर संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को ब्रह्म कहा गया है।[1] यह सर्वशक्तिमान् है और परमात्मा का स्वरूप है, अतः ब्रह्म है। मन सृष्टि का कर्ता है, अतः उसे ब्रह्मा कहा गया है।[2] इसी कर्तृत्व के आधार पर उसे प्रजापति या सृष्टि-निर्माता बताया गया है।[3] मन की कल्पना से ही यह सारा संसार है। मन जैसा चाहता है, वैसा होता है, अतः उसे सर्वम् (सब कुछ) कहा है।[4] मन की शक्ति अनन्त है, अतः उसे अनन्त और अपरिमित कहा गया है।[5] मन की दिव्य शक्तियों के कारण उसे देव बताया गया है।[6] मन में प्रेरणा शक्ति है, अतः उसे अग्नि कहा गया है।[7] मन कल्पनाओं और शक्तियों का अथाह भण्डार है, अतः उसे समुद्र बताया गया है।[8] मन विचारों का भण्डार है। महानदी है और उसका प्रकाशन वाणी के द्वारा होता है, अतः वाणी को मन की नहर कहा है।[9]

मन प्रजापति या ब्रह्म का विशिष्ट शरीर है।[10] मन का ही काम है कि वह नाना प्रकार की सृष्टि-रचना करता है। मन और वाणी का असाधारण सम्बन्ध है। जो मन सोचता है, वाणी उसे प्रकट करती है।[11] मन में ही आत्मा (चेतना) की प्रतिष्ठा है, अर्थात् मन ही आत्मा के सब काम करता है।[12] मन प्राणों का अधिपति

---

1. मनो ब्रह्म। गोपथ ब्रा. 1.2.11
2. मनो ब्रह्मा। गोपथ ब्रा. 1.2.11
3. मनो वै प्रजापतिः। तैत्ति. ब्रा. 3.7.1.2
4. मन एव सर्वम्। गोपथ ब्रा. 1.5.15
5. अनन्तं वै मनः। शत. 14.6.1.11; मनो वा अपरिमितम्। कौषी. 26.3
6. मनो देवः। गोपथ ब्रा. 1.2.11
7. मन एवाग्निः। शत. 10.1.2.3
8. मनो वै समुद्रः। शतः 7.5.2.52
9. तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्। जैमिनीय उप. ब्रा. 1.58.3
10. अपूर्वा (प्रजापतेस्तनूः) तन्मनः। ऐत. ब्रा. 5.25
11. यद् हि मनसाऽभिगच्छति, तद् वाचा वदति। तांड्य ब्रा. 11.1.3
12. मनसि हि अयमात्मा प्रतिष्ठितः। शत. ब्रा. 6.7.1.21

है। मन जिस प्रकार प्राणों को आदेश देता है, उसी प्रकार प्राण चलते हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि मन के आदेशानुसार स्नायु-मंडल एवं रक्त-प्रवाह का संचालन होता है। समस्त प्रत्यक्षीकरण का काम मन करता है। मन ही देखता है, मन ही सुनता है।[2]

शतपथ ब्राह्मण में बहुत महत्त्वपूर्ण बात की गई है कि ये सभी तत्त्व मन के ही विभिन्न रूप हैं-काम (इच्छा), संकल्प (विचार), विचिकित्सा (ऊहापोह, सन्देह), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धैर्य), अधृति (अधीरता), ह्री (लज्जा), धी (ज्ञान), भी (भय, डर, आतंक)।[3]

इसी प्रकार उपनिषदों में मन के विधि गुण-धर्मों का वर्णन किया गया है। मन महान् शक्ति है, उसका सब पर अधिकार है, वह परमेश्वर-रूप है, अतः उसे सम्राट् और परब्रह्म कहा गया है।[4] मन प्रकाशक है और ज्योतिरूप है। वही ज्ञान का दाता है, अतः उसे ज्योति कहा गया है।[5]

मन चेतनारूप (Consciousness) है। मानव का निर्माण चेतना करती है। जैसी मन की प्रवृत्ति होती है, वैसा ही मनुष्य का स्वभाव और व्यक्तित्व विकसित होता है। अतः उपनिषद् का कथन है कि मनुष्य मनोमय है।[6] मनुष्य के मन का अध्ययन उसके व्यक्तित्व का अध्ययन है। उसकी इच्छाएँ, उसके संकल्प, उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। अतः उपनिषद् ने पुरुष को काममय या इच्छा-स्वरूप कहा है।[7]

मन का स्वरूप चेतना है। अतः मन को शरीर में आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[8] मन में कर्त्तत्व और निर्मातृत्व है, अतः वह आत्मरूप है। प्राणमय शरीर से मनोमय शरीर सूक्ष्म है, अतः मनोमय शरीर सूक्ष्म आत्मा बताया गया है।[9]

इस समस्त सृष्टिरूपी यज्ञ में मन ही ब्रह्मा है। वही इस सृष्टिचक्र का

---

1. मनो वै प्राणानाम् अधिपतिः। शत. ब्रा. 14.3.2.3
2. मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति। शत. ब्रा. 14.4.3.8
3. कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मन एव। शत. 14.4.3.9
4. मनो वै सम्राट्, परमं ब्रह्म। बृहदा. उप. 4.1.6
5. मनो ज्योतिः। बृहदा. उप. 3.9.10
6. अयं पुरुषो मनोमयः। तैत्तिरीय उप. 1.6.1, बृहदा. उप. 5.6.1
7. अयं काममयःपुरुषः। बृहदा.उप. 3.9.11
8. मन एवास्य आत्मा। बृहदा. 1.4.17
9. अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तैत्ति. उप. 2.3

निर्देशक है।[1] मन की शक्तियाँ अनन्त हैं, अतः उसे अनन्त कहा गया है।[2] परमात्मा की प्राप्ति का साधन मन है। मन ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है।[3]

मन के गुण

अथर्ववेद के एक मन्त्र में सूत्ररूप में मनोविज्ञान के सभी विषयों का उल्लेख है।[4] इसमें 'मनसे' के द्वारा संवेदना (Sensation) और प्रेरणा (Motivation) का ग्रहण है। 'चेतसे' के द्वारा चेतना (Consciouness) और चिन्तन (Thinking) अभिप्रेत है। **'धिये'** के द्वारा ध्यान या अवधान (Attention) अभिप्रेत है। **'आकूतये'** के द्वारा अनुभूति (Feeling) और संवेग (Emotion) का ग्रहण है। **'चित्तये'** के द्वारा चित्त के धर्म स्मरण (Remembering) और तदभावरूप में विस्मरण (Forgetting) का ग्रहण है। **'मत्यै'** के द्वारा बुद्धि (Intelligence) अभिप्रेत है। **'श्रुताय'** के द्वारा श्रवण, पठन एवं शिक्षण (Learning) का ग्रहण है। **'चक्षसे'** के द्वारा चक्षु-कार्य, दर्शन या प्रत्यक्षीकरण (Perception) अभिप्रेत है।

यजुर्वेद के 34वें अध्याय में **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** वाले 6 मन्त्रों में मन के सभी महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख किया गया है। मन न केवल जागृत अवस्था में ही इधर-उधर दूर तक जाता है, अपितु स्वप्न (Dream) अवस्था में भी उसी तरह दूर-दूर तक जाता है। इसको ज्योतियों की ज्योति अर्थात् प्रकाशों का प्रकाशक कहा गया है। यह एक प्रकाश है, जो ज्ञान और विज्ञान के सभी तत्त्वों को प्रकाशित करता है। यह चेतना (Consciousness) का आधार हैं।[5]

इस मन को मानव-हृदय में रहने वाली अमर ज्योति और अपूर्व यक्ष अर्थात् आदरणीय तत्त्व माना गया है। (मंत्र 3 और 4)। मन आत्मा का प्रतिनिधि है, अतः आत्मतत्त्व के तुल्य वह अमर है। प्रकाशरूप है। मन की सत्ता से सब काम होते हैं, अतः उसे अनुपम यक्ष कहा गया है। मन ही प्रेरणा (Motivation) का स्रोत है। इसकी प्रेरणा से सारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्य होते है।[6]

एक मंत्र में मन के तीन महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख हुआ है। ये हैं- प्रज्ञान (Cognition), चेतस् (Recollection) और धृति (Retention)। साथ ही यह भी

---

1. मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा। बृहदा. 3.1.6
2. अनन्तं वै मनः। बृहदा. 3.1.9
3. मनसैवेदमाप्तव्यम्। कठ. उप. 2.1.11
4. मनसे चेतसे धिय, आकूतय उत चितये।
   मत्यै श्रुताय चक्षसे, विधेम हविषा वयम्। अथर्व. 6.41.1
5. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 3-4
6. वही, पृ. 5-6

कहा गया है कि यह एक ज्योति है। इसके बिना संसार का कोई काम नहीं होता हैं।[1]

मन वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में व्याप्त है। तीनों काल मन की सीमा में आते हैं। मन के द्वारा तीनों कालों का दर्शन होता है। कोई ऐसा काल नहीं है, जिसके विषय में मन चिन्तन और मनन न कर सकता हो[2]। मन में ही संसार का सारा ज्ञान और बुद्धि (Intelligence) निहित है। इसमें ही चित्त अर्थात् प्रज्ञा शक्ति (Cognition faculty) का समावेश है[3]।

मन एक योग्य सारथि है। यह इन्द्रियरूपी घोड़ों को ठीक ढंग से नियन्त्रित करता है। इसका निवासस्थान हृदय है। इसकी गति अद्वितीय है और इसमें असाधारण कार्यक्षमता है[4]।

अनेक मन्त्रों में मन की तीव्र गति का उल्लेख है। मन को वायु के तुल्य तीव्रतम गति वाला बताया गया है[5]। मन की गति न केवल पृथ्वी तक ही है, अपितु यह अन्तरिक्ष और द्युलोक तक जाता है[6]। यह संसार भर में घूमता है। कभी भी शान्ति से नहीं बैठता है[7]। मन चंचल है, अतः विशिष्ट कार्य के लिए उसको रोककर नियन्त्रित करना आवश्यक है[8]। गीता में मन के निग्रह के लिए अभ्यास और वैराग्य को साधन बताया गया है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (गीता 6.35)

मन के कतिपय अन्य गुणों का भी उल्लेख मिलता है। संसार में व्याप्त शाश्वत नियमों को 'ऋत' कहते हैं। इनकी विभिन्न शाखाएँ हैं, इनको ऋत के तन्तु या सूत्र कहा जाता है। इन सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान मन के द्वारा होता है[9]। मस्तिष्क में विद्यमान स्नायु-तन्तुओं को भी ऋतु के तन्तु कहा जाता है। यजुर्वेद का कथन है कि ये ऋत तन्तु या ज्ञान-तन्तु चारों ओर फैले हुए हैं। ऋषि या सूक्ष्मदर्शी ही इन तन्तुओं को देख पाते हैं। जो इनका साक्षात्कार कर लेता है, वह तत्त्वदर्शी हो जाता है।

---

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 7-8
2. वही, पृ. 9-10
3. वही, पृ. 10-11
4. वही, पृ. 12-13
5. वही, पृ. 16-17
6. वही, पृ. 19-20
7. वही, पृ. 20-21
8. वही, पृ. 22
9. वही, पृ. 23-24

मस्तिष्क में विद्यमान ये तन्तु या सूत्र ज्ञान के साधन हैं, अतः इन्हें ज्ञानतन्तु भी कहा जाता है।

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य,
तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥ यजु. 32.12

मन त्रिकालदर्शी है। वर्तमान, भूत और भविष्य सर्वत्र इसकी गति है[1]। मन ही वाक्तत्त्व का धारक है। वाक्तत्त्व में संसार का सारा ज्ञान निहित है, अतः मन ज्ञानमात्र का धारक और प्रेरक है[2]। मन को हृदय का निर्देशक कहा गया है, अतः मन हृदय को आदेश करता है।

मन का कार्य चिन्तन और संकल्प-विकल्प (Thinking) है। ऊहापोह, तर्क-वितर्क, गुण-दोष का विचार और विविध कल्पनाएं (Imagination) मन का विषय है। अतः कहा गया है कि मन से संकल्प करता है[3]। यजुर्वेद में भी मन के गुण काम (Desire) और आकूति (Intention, will) बताए गए हैं[4]।

ऋग्वेद में मन के दो गुणों का उल्लेख है। मन ज्ञान और कर्म का साधन है। अतः उसे दक्ष अर्थात् ज्ञानयुक्त और क्रतु अर्थात् क्रियाशील कहा गया है[5]। मन श्रेय वस्तुओं को ग्रहण करता है, अतः ज्ञान का साधन है। वह उस ज्ञान के आधार पर तदनुकूल प्रेरणा देता है और कार्य कराता है, अतः वह प्रेरणा (Motivation) का स्रोत है। एक मन्त्र में बुद्धि (Intelligence) का कार्य बताया गया है कि वह मन को चेतना देती है। मन को प्रेरणा देना, उसे कार्यों में नियुक्त करना तथा ध्यान और एकाग्रता की क्षमता प्रदान करना बुद्धि का कार्य है[6]।

अथर्ववेद के एक मंत्र में प्रत्यक्षीकरण (Perception) की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। संवेदनाओं (Sensations) को 5 ज्ञानेन्द्रियां ग्रहण करती हैं और मन के द्वारा इनका प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः 5 ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये 6 मिलकर प्रत्यक्षीकरण का कार्य पूरा करते हैं[7]।

मन की विशेषताएँ

मन की अनन्त विशेषताएँ हैं। संसार का ऐसा कोई सुख-दुःख, हानि-लाभ,

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 24-25
2. वही, पृ. 27-28
3. वही, पृ. 29
4. वही, पृ. 30-31
5. वही, पृ. 33-34
6. वही, पृ. 37-38
7. वही, पृ. 36-37

ज्ञान-विज्ञान, उद्योग, संघर्ष, द्वन्द्व, चिन्तन, कल्पना, अनुभूति और अभीष्ट लाभ नहीं है, जो मन के कार्यक्षेत्र में न आता हो। मन को सहस्त्रकिरण या असंख्यशक्ति कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं है। मन द्यावापृथिवी, लोक-परलोक, वर्तमान, भूत और भविष्य सभी को अपनी परिधि में रखता है। अतः वेदों में इसकी अनन्त शक्तियों का उल्लेख है।

अथर्ववेद का कथन है कि मन वशीकरण का साधन है। मन दूसरे के मन को आकृष्ट करता है। उसे वश में कर लेता है और अपने इच्छानुसार उसे यथास्थान प्रवृत्त करता है[1]। मेस्मरिज्म और हिप्नॉटिज्म (Mesmerism & Hypnotism) मन के द्वारा वशीकरण के सफल प्रयोग हैं। साधना और तप के द्वारा मन की चुम्बकीय शक्ति को विकसित किया जाता है।

शुद्ध एवं पवित्र मन की विशेषता बताई गई है कि इसके द्वारा तेजस्विता, समृद्धि और शारीरिक नीरोगता आदि प्राप्त की जाती है[2]। शारीरिक नीरोगता का साधन मानस-चिकित्सा है। मन की शुद्धि शरीर के मल और विक्षेपों को दूर करती है।

मन संजीवनी शक्ति है। यह निर्जीव को सजीव और अक्षम को सक्षम बना देती है। इसमें संजीवनी शक्ति है। यह चेतनता प्रदान करता है और कर्म में प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार मन चेतना और प्रेरणा का मूल है[3]। मन की शक्तियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मनोबल से मृत्यु को वश में किया जा सकता है। मरणासन्न को मृत्यु से बचाया जा सकता है। जिस प्रकार मोटी रस्सी से जूए को कसा जाता है, उसी प्रकार मन के द्वारा मृत्यु को भी कस कर वश में लाया जा सकता है[4]।

मन की पवित्रता, विचारों की शुद्धि और तपस्या को मुक्ति का साधन माना गया है[5]। मन यदि शुद्ध है तो मनुष्य जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। यदि वह अशुद्ध है तो मनुष्य सदा बन्धन से ग्रस्त रहता है। अतएव कहा गया है कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। शाट्यायनीय उप. 1

विचारों की शुद्धता का फल बताया गया है कि इससे सारे मनोरथ सफल होते है। साथ ही यह भी बताया गया है कि विचारों की शुद्धि का एकमात्र साधन है-पापों

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 40-41
2. वही, पृ. 42-43
3. वही, पृ. 56
4. वही, पृ. 51-54
5. वही, पृ. 44-45

से निवृत्ति, बुराइयों से बचना या कुकर्मों का छोड़ना[1]। मन की पवित्रता से पापों पर विजय प्राप्त की जाती है। मन की पवित्रता सभी प्रकार के युद्धों में विजय प्राप्ति का अमोघ साधन है। पाप कोवृक्ष कहा गया है। शुभ विचारों से वृक्ष का वध किया जाता है[2]।

जैसा मनुष्य का हृदय होता है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि होती है। विचारों और भावनाओं की शुद्धि बुद्धि के परिष्कार का साधन है। अतः कहा गया है कि शुद्ध हृदय से बुद्धि को परिष्कृत करता हूँ[3]।

अनेक मंत्रों में मनोबल या इच्छाशक्ति (will- power) के महत्त्व का वर्णन किया गया है। मनोबल वह शक्ति है, जिसे कोई दबा नहीं सकता है। यह अधर्षणीय है। मनोबल पहाड़ से भी अधिक शक्तिशाली है। दृढ निश्चय को पहाड़ भी नहीं रोक सकते हैं[4]। मनोबल का यह महत्त्व है कि मनुष्य जीवन में कभी हारना नहीं जानता। सदा विजय-लाभ करता है। वह मृत्यु से हार नहीं मानता। मृत्यु को भीवश में रखता है[5]।

मनोबल वह शक्ति है, जिससे विश्वविजय की जाती है। मंत्र का कथन है। कि मनोबल से द्युलोक और पृथिवी को जीतता हूँ। मनोबल से युक्त व्यक्ति को चारों दिशाएं प्रणाम करती हैं। सारी पृथिवी उसके लिए सुख-समृद्धि देती है[6]। मनोबल को काम या कामना शब्द से संबोधित करते हुए कहा गया है कि वह अपनी सामर्थ्य से प्रतिष्ठित है। उसके लिये किसी दूसरे सहायक की आवश्यकता नहीं है। वह युद्धों में विजयी बनाता है, ओज देता है और तेजोमह है[7]।

मनोबल का उपयोग जनहित या जनकल्याण के लिए भी होता है। जनहित के लिए मंत्र में नाराशंस शब्द का प्रयोग है। जनहितकारी मन का आह्वान किया गया है[8]। मनोबल एवं तीव्र संकल्प का फल बताया गया है कि मनुष्य जो कुछ चाहता है, वह उसे प्राप्त हो जाता है। उसके मनोरथ सिद्ध होते हैं[9]। मन अभीष्टसिद्धि में रथ का काम करता है और प्रार्थित वस्तु लाकर उपस्थित करता है, अतः उसे रथ

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 47-48
2. वही, पृ. 46
3. वही, पृ. 50-51
4. वही, पृ. 57-58
5. वही, पृ. 59-60
6. वही, पृ. 62
7. वही, पृ. 63-64
8. वही, पृ. 65
9. वही, पृ. 66-67

की उपमा दी गई है[1]। मनोबल से असंभव कार्यों को भी संभव बनाया जा सकता है। मनोबल शक्ति का स्त्रोत है[2]। मनोबल मनुष्य को अजेय बना देता है। दो-चार नहीं, सैकड़ों शत्रु उसे परास्त नहीं कर सकते हैं। वह शत्रुओं को खलिहान में धान की पूली की तरह रौदं देता है[3]। मनोबल से पापी और आक्रामक को निष्प्रभाव बना दिया जाता है[4]।

इच्छाशक्ति के विधि उपयोग

वेदों में इच्छाशक्ति (will-power) के लिए आकूति और काम शब्द मिलते हैं। इच्छाशक्ति का अनेक प्रकार से महत्त्व बताया गया है। उसको अनेक-रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

इच्छाशक्ति सौभाग्य की देवी है। यह मन में रहती है। यह विचार और चिन्तन की जननी है। इसको आगे रखकर सभी महत्त्वपूर्ण कार्य किए जाते हैं[5]। यह इच्छाशक्ति ऐश्वर्य का स्त्रोत है। यही मनुष्य को सफलता दिलाकर समृद्ध करती है[6]। इच्छाशक्ति को मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अध्यक्ष या संचालक बताया गया है। यही मानव को प्रेरणा देती है, शत्रुओं को नष्ट करती है और सभी को सहयोगी बनाती है। जहाँ प्रबल इच्छाशक्ति होती है, वहाँ सभी सहायक होने लगते है[7]।

इच्छाशक्ति को अभेद्य कवच बताया गया है। इसका संरक्षण सर्वोत्कृष्ट है। यह तीन प्रकार से रक्षा करती है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की विपत्तियों से यह मानव की रक्षा करती है। इसको **'ब्रह्म वर्म'** अर्थात् ज्ञान-कवच या आत्मबलरूपी कवच कहा गया है। इसके द्वारा सभी विपत्तियों, कष्टों और शत्रुओं को जीता जाता है[8]।

इच्छाशक्ति के वश में सभी देवगण है। सभी देवों और देवताओं की उत्पत्ति इच्छाशक्ति से हुई है। यह उनका मार्गदर्शन करती है। शरीर के अन्दर विद्यमान इन्द्रियरूपी देवता और बाह्य जगत् में विद्यमान् पृथिवी आदि देवता सब इच्छाशक्ति के नियन्त्रण में हैं[9]।

---

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 54-55
2. वही, पृ. 68
3. वही, पृ. 69-70
4. वही, पृ. 137-138
5. वही, पृ. 80-81
6. वही, पृ. 82
7. वही, पृ. 85
8. वही, पृ. 86-87
9. वही, पृ. 93-94

यह कामनारूपी इच्छाशति स्थावर जंगम और समुद्र आदि से भी महान् है।महत्ता में इसके समान कोई नहीं है[1]। जो कार्य इच्छाशक्ति कर सकती है, वह कोई नहीं कर सकता, अतः यह सबसे महान् है। इस इच्छाशक्ति का आदि और अन्त नहीं है। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि कोई नहीं पा सकता है। अतः यह सबसे बढ़कर है[2]। मानवमात्र की कामनाएँ पूर्ण करती है और अभीष्ट की साधक है[3]।

इच्छाशक्ति से ही जीवन में श्रेष्ठता आती है। इससे ही देवता श्रेष्ठ हुए। अतएव देवों को **'कामज्येष्ठाः'** कहा गया है[4]। इच्छाशक्ति को कामधेनु कहा गया है। यह सभी कामनाओं को पूर्ण करती है, अतः कामधेनु है। इच्छाशक्ति से विचार उद्‌बुद्ध होते हैं। विचारों की अभिव्यक्ति वाणी से होती है। अतः विराट् वाक्‌तत्त्व को काम की पुत्री बताया गया है[5]।

इच्छाशक्ति और उत्साह परस्पर संबद्ध हैं। अतः इनका एक मंत्र में पति-पत्नी के रूप में वर्णन किया गया है। संकल्प (विचार) की पुत्री इच्छा है और इसका मन्यु (उत्साह) के साथ विवाह हुआ। संकल्प या विचारों से इच्छाशक्ति का जन्म होता है औ वह उत्साह के साथ कार्य में प्रवृत्त होती है[6]।

विचारों का प्रभाव

विचार (Thoughts) मानव को सदा प्रभावित करते रहते हैं। जीवन का निर्माण विचारों के अनुसार होता है। शुभ विचार उन्नति, विकास, प्रगति और दीर्घायु के साधन हैं तथा अशुभ विचार रोग, शोक, दैन्य और अल्पायु के कारण है[7]। शुभ विचार सदा समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ये अधृष्य, अप्रतिहत और उन्नतिकारक है। शुभ विचार देव-कृपा का फल है, अतः शुभ विचारों में देवों का निवास है। इसलिएमंत्र में प्रार्थना की गई है कि शुभ विचार सभी ओर से आवें[8]। शुभ विचार पापभावना को नष्ट करते हैं। जीवन में विजय दिलाते हैं और वृत्ररूपी पाप को नष्ट करके आत्मशक्ति को विजयी बनाते हैं[9]।

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 73-74
2. वही, पृ. 89-90
3. वही, पृ. 91
4. वही, पृ. 92
5. वही, पृ. 83-84
6. वही, पृ. 95-96
7. वही, पृ. 98-99
8. वही, पृ. 104
9. वही, पृ. 102-103

विचारशक्ति में ऊर्जा है, गति है, शक्ति है और प्रभावकता है। विचारशक्ति का उद्‌बोधन, संप्रेषण और संक्रमण सभी कुछ हो सकता है। इसमें अजेयता है, आकर्षण शक्ति है और दुर्गुणों के निरोध की क्षमता है। इसके आधार पर ही जीवन में समरसता और विषमता आती है। अनेक मंत्रों में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

विचारशक्ति का संप्रेषण होता है। प्रेम आदि के विचार अपने प्रिय या प्रिया तक पहुँचाये जाते है[10]। भक्त की कामनाओं को अभीष्ट देव सुनते हैं और पूरा करते हैं[11]। विचारों का संक्रमण होता है। अपने हृदय के विचार दूसरे के हृदय में संक्रमित किये जाते हैं[1]। विचारों में आकर्षण शक्ति है। दूसरे के इधर-उधर गए मन को लौटाकर लाया जा सकता है[2]। विचारों की पवित्रता मनुष्य को अजेय बना देती है। दुर्जनों आदि के कटु प्रहार उस पर निष्प्रभावी हो जाते है[3]।

विचार-शुद्धि से काम आदि भावनाओं पर विजय प्राप्त की जाती है[4]। विचार-शुद्धि जीवन में समरसता लाती है। इससे शुभ-अशुभ सभी को समभाव से ग्रहण किया जाता है[5]। विचार-शुद्धि से पाप-प्रवृत्ति का नाश होता है, अतः परमात्मा का क्रोधरूपी बाण उस पर कभी नहीं पड़ता[6]। देवता पापी और पुण्यात्मा को जानते हैं। जहाँ शुभ विचार है, वहाँ देवों का निवास है। विचारों की शुद्धि से ही आत्मा का साक्षात्कार किया जाता है[7]। जब तक दुर्विचारों को नष्ट नहीं किया जाता, तब तक सुख का मार्ग प्रशस्त नहीं होता[8]। जिस प्रकार शुभ विचारों का संक्रमण होता है, उसीप्रकार दुर्विचारों का भी संप्रेषण और संक्रमण होता है। अभिचार के कृत्यों में दुर्विचारों का संप्रेषण किया जाता है[9]।

संकल्पशक्ति का महत्त्व

वेदों में संकल्पशक्ति का वर्णन काम शब्द के द्वारा हुआ है। संसार में सबसे

---

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 104
2. वही, पृ. 105-106
3. वही, पृ. 107
4. वही, पृ. 108-109
5. वही, पृ. 110
6. वही, पृ. 111-112
7. वही, पृ. 113-114
8. वही, पृ. 115
9. वही, पृ. 118
10. वही, पृ. 120
11. वही, पृ. 121-122

पहले संकल्पशक्ति का आविर्भाव हुआ। उससे ही सारी सृष्टि बनी[1]। संकल्प शक्ति सबसे महान् है। यह द्यावापृथिवी से भी उत्कृष्ट है[2]। संकल्पशक्ति मन का सार भाग है, अतः इसे मन का रेतस् या वीर्य कहा गया है[3]। संकल्पशक्ति आग्नेय तत्त्व है, अतः अग्नि कहा गया है[4]। सभी प्रकार के यज्ञों से संकल्पशुद्धि को अधिक प्रभावशाली बताया गया है[5]। संकल्पशुद्धि से कुस्वप्न आदि दोषों का निराकरण किया जाता है[6]।

वेदों में मनोबल या मनःशक्ति को क्षीण करने वाले कुछ तत्त्वों का उल्लेख है। इनमें मुख्य हैं-पाप-भावना, ईर्ष्या और काम-भावना। इनके निरोध से मनोबल पुष्ट होता है[7]।

✦✦✦

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक मनोविज्ञान, वि.भा.अनु.प., पृ. 124
2. वही, 125-126
3. वहीं, पृ. 127
4. वही, पृ. 128
5. वही, पृ. 130
6. वही, पृ. 131-132
7. वही, पृ. 49, 97, 140-143

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (163-180) January-June 2018 ISSN 2277-4351

वेदान्त दर्शन में मनोविज्ञान का स्वरूप

-डॉ. उधम सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, योग विज्ञान विभाग
गु.का.वि.वि., हरिद्वार

-डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर, योग विज्ञान विभाग
संकायाध्यक्ष, आयुर्विज्ञान एवं स्वास्थ्य संकाय
गु.का.वि.वि., हरिद्वार

भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि ये वैचारिक तल पर तो समृद्ध हैं ही, उतने ही व्यावहारिक जीवन के लिए उत्कृष्ट प्रयोग भी हैं। दर्शन बुद्धि का विलास मात्र नहीं है, इनकी रचना तो जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी ध्यान में रखकर की गई है। भारतीय दर्शन वैचारिक सिद्धांतों के साथ-साथ विज्ञान से भी समृद्ध है। सत्य के साक्षात्कार के लिए भारतीय दर्शन व्यावहारिक मार्गदर्शन के रूप में व्याख्यायित हैं। इनमें मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य, आत्मोपब्धि अथवा मोक्ष की संकल्पना के साथ उसको प्राप्त करने के व्यावहारिक सोपानों, साधनाओं का भी वर्णन किया है।

भारत की दार्शनिक परंपरा में सबसे महत्वपूर्ण दर्शन वेदान्त ही माना जाता है। वेद के अंतिम भाग होने के कारण उपनिषद् साहित्य को वेदान्त कहा जाता था। वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्र को वेदान्त सूत्र भी कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों ने अपने भाष्य की पुष्टि के लिए वेद और उपनिषदों के सिद्धांतों का सहारा लिया। जितने भी भाष्यकार हुए उन्हीं के नामों से वेदान्त दर्शन के संप्रदायों का विकास हुआ, जिनमें पाँच प्रमुख संप्रदाय हैं[1]।

वेदान्त है परामनोविज्ञान का शास्त्रः

वेदान्त के अनुसार आत्म तत्व के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता ही नहीं है। ब्रह्म से आत्मा भिन्न नहीं है, दोनों एक ही हैं। जीव तथा ब्रह्म में तादात्म्य संबंध है। माया के द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप छिपा रहता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी दूसरी सत्ता का अस्तित्व ही नहीं है।

वेदान्त दर्शन में वर्तमान जीवन के अलावा लोकोत्तर जीवन की व्याख्या की गई है। सामान्य मनुष्य और वेदांतिक उपासना पद्धति से अपने ब्रह्म सत्ता की अनुभूति के स्तर पर ले जाती है। वेदान्त स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म और कारण शरीर की व्याख्या करता है। अन्तःकरण चतुष्टय, चेतना की चार अवस्थाओं और पंचकोशों का वर्णन वेदान्त के आचार्यों ने वर्णित किया है। साथ ही चेतना के विकास के लिए मनोवैज्ञानिक तकनीकों का वर्णन किया है।

आत्मा का स्वरूपः

आत्मा वेदांतिक मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है। वेदांतिक मनोविज्ञान में आत्मा केन्द्रीय विषय के रूप में प्रतिपाद्य है। वेदान्त के अनुसार आत्म तत्व के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता नहीं है। तत्वबोध में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों से भिन्न, पंचकोशातीत, जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी है और सच्चिदानंद स्वरूप है, वह आत्मा है।

वेदांतिक मनोविज्ञान के अनुसार आत्मा के दो रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। एक शुद्ध, निर्विकार जिस पर अविद्या आदि कषाय-कल्मषों का कोई प्रभाव नहीं होता है। इसीलिए इसे परमात्मा के समकक्ष माना जाता है। आत्मा का दूसरा रूप है जो अविद्या, अज्ञान से आवृत रहता है, इसे जीवात्मा की संज्ञा दी गई है। इस संसार में जीवात्मा का ही पुनः पुनः आवागमन होता रहता है। वेदान्त के अनुसार आत्मा का आनुभूतिक ज्ञान हो जाने पर जीवात्मा आवागमन से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्म का स्वरूपः

वेदान्त में आचार्य शंकर अद्वैतवादी हैं। ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जीव व जगत् सत्य नहीं है।

आचार्य के अनुसार सत्ता की तीन कोटियाँ मानी गई हैं-

1. पारमार्थिक सत्ता-ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से पूर्णतः सत्य है। ब्रह्म स्वयं ज्ञान है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है।

2. व्यावहारिक सत्ता-विश्व जगत् को व्यावहारिक सत्ता के अंतर्गत रखा गया है।

3. प्रातिभासिक सत्ता-स्वप्न, भ्रम आदि

चेतना की अवस्थाएँः

वेदांत दर्शन में चेतना की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है-

जाग्रत अवस्था

चेतना की प्रथम अवस्था जाग्रत अवस्था कही गयी है। बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला सात अंगों वाला, उन्नीस मुखों वाला और स्थूल विषयों का भोक्ता है, वह वैश्वानर पहला पाद है। वेदांत दर्शन के अनुसार जाग्रतावस्था मन की निम्नावस्था व स्थूल दृष्टिकोण की परिचायक है। इस अवस्था में चौदह इन्द्रियों, उनके देवताओं तथा चौदह विषयों सहित बयालीस तत्वों का व्यापार चलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन्द्रिय, देवता तथा विषय इन तीनों का व्यावहार चलता है, उसे ही जाग्रतावस्था कहते हैं। यह स्थूल शरीर अथवा अन्नमय कोष की अवस्था है।

स्वप्नावस्था

स्वप्नावस्था को ब्रह्म का द्वितीय पाद कहा गया है। यहाँ ब्रह्म के सात अंगों तथा उन्नीस मुखों द्वारा सूक्ष्म विषयों को भोगता है। सूक्ष्म रूप में सात लोक उसके अंग हैं और दस इन्द्रियां, पांच प्राण तथा चार अंत:करण उसके मुख हैं। इस अवस्था वाले ब्रह्म को हिरण्यगर्भ कहा गया है। स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर के व्यापार बंद हो जाते हैं। स्वप्नावस्था में बाह्य जगत से इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता है, इसलिए यह जाग्रत अवस्था से भिन्न है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण के अनुसार स्वप्नावस्था में मनुष्य के अचेतन मन में स्थित वासनाएं सक्रिय हो जाती हैं, जिन वासनाओं को हम जाग्रतावस्था में पूर्ण नहीं कर पाते हैं।

सुषुप्ति अवस्था

मांडूक्योपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति अवस्था को ब्रह्म के तृतीय पाद के रूप में वर्णित किया गया है। यह अवस्था कारण शरीर की कही गयी है। सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त पुरुष न तो किसी भोग की इच्छा ही करता है और न ही कोई स्वप्न ही देखता है। सुषुप्ति अवस्था प्रलय अवस्था के भांति है विश्व की यह प्रलय अवस्था ही कारण अवस्था कही गयी है। इस अवस्था में समस्त विश्व अव्यक्त अवस्था में रहता है, यह कारण अवस्था पूर्ण ब्रह्म के तृतीय पाद प्राज्ञ का शरीर है।

तुरीयावस्था

तुरीयावस्था उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। यह अवस्था सामान्य मनुष्यों की नहीं है अपितु योगी ही इस अवस्था को प्राप्त करते हैं। माण्डूक्योपनिषद् में निर्गुण आकार रहित ब्रह्म को परब्रह्म का चतुर्थ पाद गया कहा है।

वेदान्त में मनुष्य की चेतना के चार स्तरों के उपर्युक्त वर्णन के संदर्भ में कहा जा सकता है कि जो आत्मा को शारीरिक चेतना के रूप में मानते हैं, वे पूर्णतया भौतिकवादी हैं। जो स्वप्नगत चेतना और सुषुप्ति अवस्था को मानते हैं, वे भौतिकवादियों से थोड़े ऊपर हैं। पर ये भी पूरी तरह सत्य नहीं है। शारीरिक चेतना को ही परम सत्य समझ लेना ही भूल है और न ही स्वप्नगत चेतना और सुषुप्तिगत चेतना परम सत्य है। वेदान्त ही चेतना के मूल स्वरूप के सबसे निकट की अनुभूति के विषय में स्पष्ट करता है। विवेक चूडामणि में आचार्य शंकर लिखते हैं कि वेदान्त का सिद्धान्त कहता है कि जीव और सम्पूर्ण जगत केवल ब्रह्म ही है। जीव ज्ञान प्राप्ति के अभ्यास में निरत रहने से चेतना की इन अवस्थाओं में वह क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त होता है।

तीन शरीरः

वेदान्त दर्शन में स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का वर्णन मिलता है। मनुष्य जितना दृश्यमान है, उससे कहीं अधिक वह अदृश्य है। मानव का शरीर जो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है उसका अस्तित्व सूक्ष्म और कारण शरीर पर आधारित होता है। मनुष्य के शारीरिक क्रियाकलाप स्थूल शरीर से संबन्धित है, वहीं वैचारिक क्रियाकलाप सूक्ष्म शरीर और भावनाएं कारण शरीर की विषयवस्तु है।

स्थूल शरीरः

शंकराचार्य जी ने स्थूल शरीर की विवेचना करते हुए लिखा है कि मज्जा,

अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म और त्वचा इन सात धातुओं से निर्मित तथा चरण, जंघा, वक्षः स्थल (छाती), भुजा, पीठ और मस्तक आदि अंगोंपांगों से युक्त "मैं" और "मेरा" रूप से प्रसिद्ध इस मोह के आश्रयरूप देह को विद्वान लोग स्थूल शरीर कहते हैं। यह शरीर पंचमहाभूतों से निर्मित है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि आकाश, वायु, तेज (अग्नि) जल और पृथ्वी ये सूक्ष्म भूत हैं इनके परस्पर मिलने से स्थूल होकर स्थूल शरीर के हेतु होते हैं और इन्हीं की तन्मात्राएं भोक्ता जीव के भोगरूप सुख के लिए शब्दादि पाँच विषय हो जाती है।

आचार्य शंकर कृत तत्व बोध नामक ग्रंथ में कहा गया है कि स्थूल शरीर पंच्चीकृत हुए पाँच महाभूतों से बना हुआ है तथा सत्कर्मों से प्राप्त, सुख- दुःखादि को भोगने का यह स्थान है। इसमें उन्होने शरीर के षड्विकारों का वर्णन किया है। जो क्रमशः निम्न हैं-अस्तिः शरीर का अस्तित्व है। जायतेः जन्म लेता है। वर्धतेः वृद्धि करता है। विपरिणमतेः परिवर्तनशील है, प्रतिक्षण बदलता रहता है। अपक्षीयते : क्षय होता है। विनश्यतिः अंत में नष्ट हो जाता है। पूर्वकर्मानुसार उत्पन्न यह शरीर आत्मा का स्थूल भोगायतन है; इसकी अवस्था जाग्रत है जिसमें कि स्थूल पदार्थों का अनुभव होता है।

सूक्ष्म शरीरः

प्रत्यक्ष मानवीय शरीर का आधार सूक्ष्म शरीर माना गया है। सूक्ष्म शरीर का वर्णन विवेक-चूडामणि में इस प्रकार मिलता है-वागादि पाँच कर्मेन्द्रियां, श्रवणादि पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, प्राणादि पाँच प्राण, आकाशादि पाँच भूत, बुद्धि आदि अन्तःकरण चतुष्टय, अविद्या तथा काम और कर्म यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाता है। स्वप्न इसकी अवस्था है, जहाँ यह स्वयं ही बचा हुआ भासता है। स्वप्न में, जहाँ यह स्वयंप्रकाश परात्मा शुद्ध चेतन ही भासता है, बुद्धि जाग्रतकालीन नाना प्रकार की वासनाओं से कर्ता आदि भावों को प्राप्त होकर स्वयं ही प्रतीत होने लगती है।

कारण शरीरः

स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का आधार कारण शरीर माना गया है। आचार्य शंकर सूक्ष्म शरीर के विषय में बताते हैं कि तीनों गुणों (सत्व, रज और तम्) के निरूपण से यह अव्यक्त का वर्णन हुआ। यही आत्मा का कारण शरीर कहलाता है। इसकी अभिव्यक्ति सुषुप्ति अवस्था में होती है। जिसमें बुद्धि की समस्त वृत्तियाँ लीन हो जाती है।

पंचकोशः

मानवी चेतना पाँच भागों में विभाजित है। जिन्हें हम पंचकोशों के नाम से जानते हैं। अन्नमय कोश इंद्रिय चेतना का प्रतीक है। प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति। मनोमय का तात्पर्य विचार बुद्धि तथा अचेतन सत्ता एवं भाव प्रवाह को विज्ञानमय कोश कहा जा सकता है। आत्म जाग्रति या आत्मबोध की अवस्था को आनंदमय कोश के नाम से जान सकते हैं।

चित्रः पंचकोश

अन्नमय कोशः

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ है। वह यह पुरुष एवं रसमय ही है। उपर्युक्त वर्णन शरीर रूपी अन्नमय कोश का है। आत्मा के पाँच कोशों में प्रथम कोश अन्नमय कोश कहलाता है। आचार्य शंकर अन्नमय कोश का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि अन्न से उत्पन्न होने वाली देह ही अन्नमय कोश है, जो अन्न से ही जीता है और उसके बिना नष्ट हो जाता है। यह त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, अस्थि और मल आदि का समूह स्वयं नित्य शुद्ध आत्मा नहीं हो सकता है।

प्राणमय कोशः

अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय कोश विद्यमान है। इस प्राणमय कोश में पाँच कर्मेन्द्रिय से युक्त पाँच प्राण व उप प्राण विद्यमान रहते हैं, इन्हीं के संगठित स्वरूप को प्राणमय कोश कहते हैं। प्राणमय कोश के आधार पर ही स्थूल शरीर या अन्नमय कोश विद्यमान रहता है। शरीर नष्ट होने पर यह सूक्ष्म शरीर ही संस्कारों सहित लोकलोकांतरों में गमन करता है। तथा जिससे युक्त यह अन्नमय कोश अन्न से तृप्त होकर समस्त कर्मों में प्रवृत्त होता है।

मनोमय कोशः

मनोमय कोश आत्मा पर यह तीसरा आवरण है। मनोमय कोश प्राणमय कोश के भीतर होता है। यह ज्ञानेंद्रियाँ और मन ही मैं मेरा आदि विकल्पों का हेतु यह मनोमय कोश कहलाता है, जो नामादि भेद कल्पनाओं से जाना जाता है और बड़ा बलवान है तथा पूर्व-कोशों को व्याप्त करके स्थित है।

विज्ञानमय कोशः

सारे स्थूल जगत और सूक्ष्म जगत के क्रिया व्यापार का ज्ञान इसी के द्वारा होता है। ज्ञानेंद्रियों के साथ वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्तापन के स्वभाववाला विज्ञानमय कोश है, जो पुरुष के (जन्म-मरण) संसार का कारण है। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, आदि का अभिमान भी इसी विज्ञानमय कोश के कारण ही पुरुष को होता है।

आनंदमय कोशः

आत्मा का पहला आवरण और पाँचवा कोश विज्ञानमय कोश कहलाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार विज्ञानमय कोश से भिन्न उसके अंदर रहने वाला आनंदमय कोश या आनंदमय शरीर है। यह आनंदमय कोश भी पुरुषाकार ही है। वह उस विज्ञानमय शरीर की आत्मा है। इस प्रकार से पांचों कोशों का वर्णन हुआ है। ये चेतना की पाँच शक्तियाँ हैं।

अंतःकरण चतुष्टयः

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से मिलकर अंतःकरण बना है।

मन : शंकराचार्य जी ने मन को परिभाषित करते हुए विवेक चूड़ामणि में कहा है कि जो संकल्प विकल्प करता है, वह मन है। मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है। कल्पना करना मन का प्रधान गुण है। मन की गति बड़ी ही तीव्र है। इसलिए क्षण भर में ही पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच जाता है, इसकी उड़ान बड़ी तेज है। यह एक स्थान पर देर तक स्थिर नहीं रहता। श्रीमद्भगवद्गीता में मन के विषय में कहा है कि मन बड़ा ही चंचल है। यह शरीर को क्षुब्ध और इंद्रियों को विक्षिप्त यानि परवश कर देता है। यह मन बड़ा ही बलवान है वायु को रोकने जैसे दुष्कर है, उससे भी कहीं अधिक मन को रोकना अर्थात् वश में रखना बहुत ही कठिन है।

भोग को भोगने का साधन तो इन्द्रियाँ हैं परंतु इन सबके पीछे मन की महत्वपूर्ण भूमिका सन्निहित रहती है। मन की इच्छा और प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ विविध प्रकार के भोगों के लिए संलग्न होती हैं। मन को ग्यारहवीं इंद्रिय भी कहा जाता है, यद्यपि वह अन्य इन्द्रियों की भाँति दिखाई नहीं देता, लेकिन रसानुभूति में सबसे आगे रहता है। यदि मन उदास हो, खिन्न हो, तो आकर्षक भोग भी अच्छे नहीं लगते और यदि मन की प्रेरणा प्रबल हो तो निर्बल इन्द्रियाँ भी उत्तेजित होकर भोगों में निरत हो जाती हैं। अतः मन इंद्रियों के माध्यम से सुख-दुःख आदि का भोग करता है।

मन का निर्माण:

छान्दोग्योपनिषद् में अन्न से मन के निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। खाये हुए अन्न का जो सूक्ष्म अंश होता है वह मन बन जाता है। जो अन्न खाया जाता है उसके तीन परिणाम बताये हैं। जो स्थूल भाग होता है, उसका मल बन जाता है और मध्यम भाग से मांस निर्मित होता है और जो अत्यंत सूक्ष्म है, उससे मन बन जाता है।

गया है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:" अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन और मुक्ति का कारण है। वश में किया हुआ मन, सबसे बड़ा मित्र है और असंस्कृत मन से बढ़कर मानव का दूसरा शत्रु नहीं। यही कारण है कि आत्मकल्याण की इच्छा करने वाले व्यक्ति को मन को वश में करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

मनोनिग्रह:

माण्डूक्योपनिषद् में मनोनिग्रह करने के लिए उपदेश दिया गया है। आचार्य शंकर कठोपनिषद् के मंत्र का भाष्य करते हुए लिखा है कि समस्त योगियों का अभय मन के निग्रह के अधीन है क्योंकि आत्मा से संबंध रखने वाले मन के चलायमान रहते हुए अविवेकी पुरुषों का दु:ख क्षय नहीं हो सकता। आत्मज्ञान भी मन के निग्रह के आधीन है तथा मोक्षनाम्नी उनकी अक्षय शांति भी मनोनिग्रह के आधीन है।

मनोनिग्रह के लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता होती है। उद्विग्न और अधीर होकर मनोनिग्रह की साधना नहीं हो सकती, इसके लिए असीम धैर्य की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार कुश नामक घास के अग्र भाग से समुद्र के जल को बाहर निकालने अथवा उलीचने का प्रयत्न करना चाहिए अत्यंत कठिन कार्य है किन्तु तब भी दीर्घकाल तक सभी प्रकार की खिन्नता को त्यागकर उसी कार्य में निरत हो जाना। आचार्य शंकर अपनी व्याख्या में लिखते हैं कि उद्यमशील रहने वाले अखिन्न खेदशून्य चित्त वाले का ही मनोनिग्रह हो पाता है।

बुद्धि :

विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर ने बुद्धि को परिभाषित करते हुए कहा है कि "बुद्धि: पदार्थाध्यवसायधर्मत:" अर्थात् पदार्थ का निश्चय करने के कारण बुद्धि कहलाती है। श्रीमद्भगवद्गीता में बुद्धि के विषय में आचार्य शंकर लिखते हैं

कि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि पदार्थों को समझने वाली अन्तःकरण की ज्ञान शक्ति का नाम बुद्धि है। बुद्धि का प्रमुख कार्य है निर्णय करना। तर्क करना बुद्धि का कार्य है। मन अनेकों प्रकार की कल्पनाएं करता रहता है। बुद्धि उन सभी कल्पनाओं में से किसी एक का चुनाव करती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में गुणों के आधार पर बुद्धि के तीन भेद बताए गए हैं:

सात्विक बुद्धिः

जो बुद्धि प्रवृत्ति के हेतु रूप संसार को और निवृत्ति के हेतु रूप सन्यास को जानती है। करने योग्य और न करने योग्य को भी जानती है। दृश्य-दृष्टा विषयक जो भय और अभय है उन दोनों कारणों को जानती है। हेतु सहित बंधन और मोक्ष को जानती है, वह बुद्धि सात्विक बुद्धि कहलाती है।

राजसिक बुद्धिः

आचार्य शंकर ने सात्विक बुद्धि की व्याख्या करते हुए अपने गीता भाष्य में उल्लेख किया है कि जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य शास्त्रविहित धर्म को और शास्त्र प्रतिषिद्ध अधर्म को एवं पूर्वोक्त कर्तव्य और अकर्तव्य को, यथार्थरूप से सर्वतोभाव से निर्णयपूर्वक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी कहलाती है।

तामसिक बुद्धिः

जो तमोगुण से आवृत्त हुई बुद्धि अधर्म को निषिद्ध कार्य को धर्म मान लेती है, अर्थात् शास्त्र विहित मान लेती है, तथा जानने योग्य अन्यान्य समस्त पदार्थों को भी, जो विपरीत ही समझती है, वह तामसी बुद्धि कहलाती है।

चित्त : चित्त को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि "इष्ट चिंतन के कारण चित्त कहलाता है"। योग दर्शन में चित्त को विस्तार से समझाया गया है।

अहंकारः

अहंकार को परिभाषित करते हुए 'विवेक चूड़ामणि' में अभिमान को अहंकार कहा गया है। अहंकार एक प्रकार से अपने आपके सम्बन्ध में मान्यता है। मैं कौन हूँ? यह प्रश्न सभी के सामने उपस्थित होता है। प्रत्येक मनुष्य इस प्रश्न का उत्तर अपनी समझ और अपनी मान्यताओं के आधार पर जैसा सोचता समझता है, उसके अनुसार देता है। *अपने सम्बन्ध में स्थिर की गई भावना को, मान्यता को अहंकार*

कहते हैं। अभिमान और अहंकार को कई व्यक्ति एक बात समझते हैं। यह शब्द समानार्थी भले ही समझे जाते हों पर अध्यात्म शास्त्र में अहंकार का प्रयोग 'आत्म मान्यता' के सम्बन्ध में ही होता है। अहंकार मन का वह भाव है जो मोटी दृष्टि से कुछ विशेष उपयोगी नहीं जान पड़ता पर वस्तुतः इसका भारी महत्त्व हैं। ईश्वर और जीव की पृथक्ता का प्रधान आवरण यह 'अहम्' ही है। यह अहंता जब तक रहती है, तब तक सायुज्य मुक्ति नहीं हो सकती। ईश्वरीय प्रचण्ड तेज की एक छोटी चिंगारी जब अपने अस्तित्व की प्रथम मान्यता कर लेती है और 'मैं' का एक छोटे दायरे में अनुभव करती है, तभी वह जीव संज्ञा को प्राप्त कर लेती है। ईश्वर से पृथकता में मैं की मान्यता ही जीवन का मूल कारण है। इस मान्यता को हटाकर, द्वैत को मिटाकर जब मैं और तू को एक कर दिया जाता है तो वह अद्वैत भाव ही ब्रह्म सायुज्य में परिवर्तित हो जाता है। अहं का जो स्वरूप है, वह विराट हो जाता है।

अन्तः करण चतुष्टय के चारों भागों को, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को जब सात्विकता के शान्तिमय पथ पर अग्रसर किया जाता है तो हमारी चेतना शक्ति का दिन-प्रतिदिन विकास होता है। यह मानसिक विकास अनेक सफलताओं और सम्पत्तियों का स्वामी है। मनोबल से बड़ी और कोई सम्पत्ति इस संसार में नहीं है। मानसिक दृष्टि से जो जितना बड़ा है, उसी अनुपात से संसार में उसका गौरव होता है, अन्यथा शरीर की दृष्टि से तो प्रायः सभी मनुष्य लगभग समान होते हैं। उन्नति के इच्छुकों को अपने अन्तः करण चतुष्टय का विकास करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इस विकास में ही साँसारिक और आत्मिक कल्याण सन्निहित है।

वेदान्त और कर्मफल का मनोवैज्ञानिक स्वरूपः

व्यक्ति एक भी क्षण बिना कर्म किए हुए नहीं रह सकता। शरीर और मन के क्रियाकलाप सोते-जागते किसी न किसी रूप में सदैव होते रहते हैं। मनुष्य प्रतिक्षण कर्म में रत रहता है। बिना कर्म किए एक पल भी नहीं रहा जा सकता। तत्व बोध नामक ग्रंथ में कर्म के प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य शंकर ने आगामि, संचित और प्रारब्ध कर्म के तीन प्रकारों का उल्लेख इस ग्रंथ में किया है।

आगामि : ज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् ज्ञानी के शरीर के द्वारा जो पाप-पुण्य रूप कर्म होते हैं, वे आगामि कर्म के नाम से जाने जाते हैं।

संचित : असंख्य जन्मों के किए हुए जो कर्म जीवात्मा के साथ स्थित होते हैं, उन्हे संचित कर्म जानना चाहिए।

प्रारब्ध : पूर्व जन्म में किए हुए पुण्य व पाप रूप कर्मों के फल स्वरूप सुखः दुःख का जो इस जन्म में भोग है वही प्रारब्ध कर्म कहलाता है। जो स्थूल शरीर के द्वारा सुख-दुःख भोगे जाते हैं, वह प्रारब्ध कर्म तो भोगने से ही नष्ट होते हैं।

वेदांतिक मनोविज्ञान में पारलौकिक जीवनः

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जब पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है तो वह वायु लोक में आता है, वायुलोक से सूर्यलोक में आ जाता है, फिर वह चंद्रलोक में पहुँच जाता है और अंत में ब्रह्मलोक पहुँच जाता है। अतः कहा जा सकता है कि वेदान्त के आचार्यों द्वारा पारलौकिक जीवन की चर्चा भी की गई है। मनुष्य का जीवन इस लोक में ही नहीं अपितु अन्य लोकों में भी होने की पुष्टि होती है।

पुनर्जन्म सिद्धान्तः

वेदोक्त साहित्य के अनुसार शरीर की मृत्यु होती है, आत्मा की नहीं। आत्मा वर्तमान शरीर के संस्कारों के साथ अन्य योनियों में चली जाती है। आचार्य शंकर अपने श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में उल्लेख करते हैं कि जिसने जन्म लिया है, उसका मरण निश्चित है और जो मृत्यु को प्राप्त हो गया है उसका जन्म निश्चित है। इसलिए यह जन्म-मरणरूप भाव अपरिहार्य है। इसका किसी भी प्रकार से प्रतिकार नहीं किया जा सकता है।

कर्मानुसारगतिः

प्रश्नोपनिषद् के मंत्रों के भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि जीव को उसके पाप-पुण्य युक्त कर्मों के अनुसार एवं उसके संकल्पों या अभिप्रायानुसार लोकों में चला जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जो अच्छे आचरण वाले होते हैं वे शीघ्र

कठोपनिषद् में कहा गया है कि जीवित रहते हुए शरीर के पतन होने से पूर्व ब्रह्म को जान लेने पर जीव संसार बंधन से मुक्त हो जाता है। यदि न जान सका तो फिर से जन्म लेता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कर्म के अनुसार विविध योनियों की प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। संस्कार निर्मित होने की प्रक्रिया इस मंत्र में सन्निहित है। संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोह से जीवात्मा को विविध योनियाँ प्राप्त होती है।

वेदांतिक मनोविज्ञान में मनोविकारों का वर्गीकरण:

माया ही मनोविकारों का मूल कही गयी है। मनोविकार रजोगुण और तमोगुण के ही परिणाम है। सत्व, रज और तम ये तीन उसके गुण कहे गए हैं। विवेक चूड़ामणि में मनोविकारों का वर्गीकरण किया गया है, जो निम्न प्रकार से है–

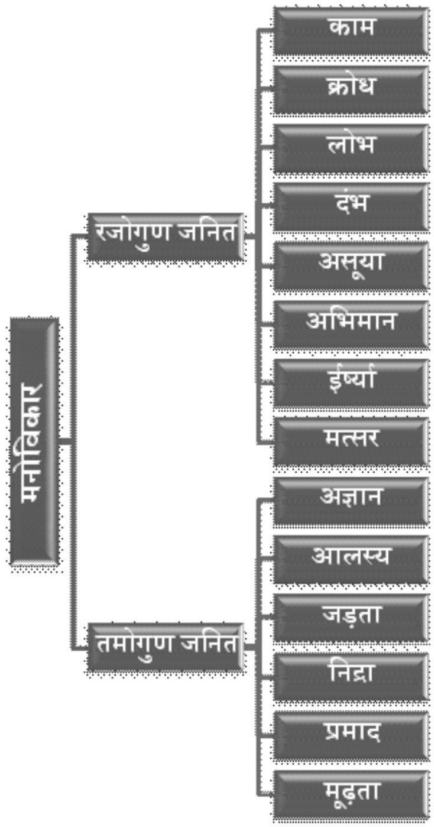

वेदान्त में मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण:

वेदान्त में रजोगुण और तमोगुण से निवृत्ति होने पर सत्वगुण का प्राकट्य होता है। प्रसन्नता, आत्मानुभव, परमशान्ति, तृप्ति, आत्यन्तिक आनन्द और परमात्मा में स्थिति ये विशुद्ध सत्त्वगुण के धर्म हैं, जिनसे मुमुक्षु नित्यानन्दरस को प्राप्त करता है। उपर्युक्त लक्षण मानसिक रूप से स्वास्थ्य को प्रकट करते हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति:

दो प्रकार के लोग होते हैं एक संयत मन वाले, दूसरे जिनका अपने मन पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं है।

वेदान्त में "आत्मा को रथी, शरीर को रथ और बुद्धि को सारथी तथा मन को लगाम कहा गया है। इंद्रियों को घोड़े एवं इनके विषयों को मार्ग कहा है"। अतः मन रूपी लगाम से इंद्रियरूपी घोड़ों को वश में करके लक्ष्य तक पहुँचने की बात कही गई है।

दो प्रकार की गतिः

अनियंत्रित असंयत चित्तः जो बुद्धि रूपी सारथी प्रवृत्ति और निवृत्ति के विवेक से रहित होता है, उसके अधीन घोड़े रूपी इंद्रियां कभी वश में नहीं रहती है। अतः इंद्रिय अपने-अपने विषयों की ओर अनियंत्रित होकर भागती रहती हैं। ऐसे मनुष्य को इस परमात्म सत्ता की अनुभूति कभी नहीं होती बल्कि जन्म-मरण रूपी संसार को प्राप्त होता रहता है।

नियंत्रित संयत चित्तः

किन्तु जो बुद्धि रूपी सारथी कुशल विवेकयुक्त होता है उसके अधीन इंद्रियाँ नियंत्रित रहती है। मन रूपी लगाम से श्रेष्ठ दिशा की ओर गमन करता है। इस प्रकार के संयत चित्त वाले उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं और वह जन्म-मरण रूपी संसार में फिर नहीं आते हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य को बुद्धि को विवेकयुक्त करना चाहिए। मन को चंचलता रहित करके इंद्रियों के द्वारा विषयों का समुचित भोग करना चाहिए।

वैचारिक दृष्टिकोणः

वेदान्त चिंतन की पराकाष्ठा के रूप में प्रसिद्ध है। आचार्य शंकर ब्रहदारण्यकोपनिषद् के एक मंत्र के भाष्य में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि ज्वरादि व्याधियों से ग्रस्त हुआ पुरुष ताप को प्राप्त होता है अर्थात् मानसिक और शारीरिक ताप से पीड़ित होता है। यह जो ताप है, वह भी तप है। क्योंकि ताप और तप इनमें समान रूप से क्लेश है। अतः जो मनुष्य व्याधि को तप मान लेता है, उसकी निंदा नहीं करता, उसके विषय में चिंता नहीं करता तो वह तप में परिवर्तित हो जाता है और यह तप कर्मक्षय का हेतु हो जाता है। अतः दुःख परेशानी, कठिनाई के समय को तप में परिवर्तित करने वाला विजयी हो जाता है।

ब्राह्मी वृत्तिः

"मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का चिंतन, भावमयी अवस्था ब्राह्मी वृत्ति कहलाती है। मनुष्य को हमेशा बल का, शक्ति का चिंतन करना चाहिए। स्वयं को हम जैसा

मान लेते हैं वैसे ही हम हो जाते हैं। अतः वेदान्त ब्राह्मी वृत्ति से युक्त जीवन जीने को प्रेरित करता है। समस्त दुर्बलताओं को त्यागकर श्रेष्ठ का चिंतन करना चाहिए।

वेदान्त में चेतना के समग्र विकास का राजमार्गः

प्रत्येक मनुष्य की अपनी क्षमतायें और सीमाएं होती हैं। मनुष्य विषयासक्ति के कारण अपने आप पर नियंत्रण नहीं रख पाता है। सीमाएं अधिक हैं और क्षमतायें न्यून हैं। वेदान्त हमारी संभावनाओं, क्षमताओं को जाग्रत करता है। वेदान्त विचारों की उड़ान का शिखर है। आचार्य शंकर कहते हैं कि "उद्धरेदात्मनात्मानं" अर्थात् अपनी आत्मा का स्वयं उद्धार करें। क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपनी सहायता कर सकता कोई दूसरा नहीं। "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" अर्थात उठो, जागो और लक्ष्य को प्राप्त करो। वेदान्त मनोविज्ञान में चेतना का विकास सम्पूर्ण रूप से किया जा सकता है।

साधन चतुष्टयः

आत्मा स्वभावतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चौतन्य, मुक्त और अविनाशी है। लेकिन अज्ञान के वशीभूत होकर वह बंधन को प्राप्त होती है। जब तक जीवात्मा में ज्ञान के प्रकाश का उदय नहीं हो जाता, तब तक वह संसार में आसक्त रहकर दुखों को भोगता रहता है। अविद्या-अज्ञान के नाश हो जाने पर ही जीव के संचित कर्मों की समाप्ति हो जाती है और वह दुखों से मुक्त हो जाता है।

आचार्य शंकर ने ज्ञान को ही मुक्ति का मुख्य मार्ग माना है। ज्ञान प्राप्ति का मार्ग ज्ञानयोग के नाम से भी जाना जाता है। वेदान्त में जिस साधना मार्ग का निरूपण किया गया है उसे साधन चतुष्टय कहते हैं।

नित्यानित्यवस्तुविवेकः

साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिए। "ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है" ऐसा जो निश्चय है, यही नित्यानित्यवस्तुविवेक कहलाता है।

इहामुत्रार्थफलभोगविरागः

दर्शन और श्रवणादि द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थों में घृणा बुद्धि है, उसे ही वैराग्य कहते हैं। साधक को लोक-परलोक के भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए।

शमदमादि षट्सम्पत्तिः

साधक को शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान, इन छः साधनों को अपनाना चाहिए। शम का तात्पर्य है मन का निग्रह करना। चक्षु आदि बाहरी इंद्रियों का निग्रह करना दम कलता है। वृत्ति का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना, यही उपरति है। सम्पूर्ण दुखों को सहन करने को तितिक्षा कहते हैं। शास्त्र और आचार्य के वचनों में भक्ति रखना ही श्रद्धा है। चित्त की एकाग्रता ही समाधान है।

मुमुक्षुत्वः

साधक में मोक्ष प्राप्ति की इच्छा होनी चाहिए। अहंकार से लेकर देह पर्यंत जितने अज्ञान कल्पित बंधन हैं, उनको अपने स्वरूप के ज्ञान के द्वारा त्यागने की इच्छा मुमुक्षुत्व कहलाती है।

उपर्युक्त चार आवश्यक तत्त्व साधक की चेतना को आलोड़ित करने लगे और मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो जाए तो उसे गुरु की शरण में जाना चाहिए ताकि आगे का मार्ग वह प्रशस्त कर सके।

आत्मानुसंधान प्रमुख लक्ष्यः

स्पष्ट है कि मनुष्य को स्वयं की खोज करने के लिए वेदान्त प्रेरणा प्रदान करता है। स्वयं को जान लेने पर विश्व ब्रह्मांड को जान लिया जाता है। अंतरंग साधनों के रूप में श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं जो कि आत्म साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वेदान्त के प्रमुख तत्त्वज्ञ ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी को आत्मा के अनुसंधान हेतु निर्देशित किया था–"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयी" अर्थात् हे मैत्रेयी! आत्मा ही दर्शन करने, श्रवण करने, मनन करने एवं निदिध्यासन करने योग्य है। आत्म तत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने से ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

श्रवणः गुरुमुख से उपदेश ग्रहण करने को श्रवण कहा गया है। ब्रह्म को जानने की इच्छा जब हो तो ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के समीप जाना चाहिए, उनके कहे हुए उपदेशों का श्रवण करना चाहिए।

मननः जो उपदेश आचार्य द्वारा सुने होते हैं, उनका तार्किक दृष्टि से विचार करना चाहिए।

निदिध्यासनः मनन के पश्चात् निदिध्यासन का क्रम आता है। निदिध्यासन ही साक्षात्कार का माध्यम है।

उपर्युक्त साधना दृढ़ता होने पर "तत्त्वमसि" की दीक्षा गुरु के द्वारा प्रदान की जाती है। जिससे "अहं ब्रह्मास्मि" का बोध होकर मोक्ष की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

मनोविज्ञान के विभिन्न तत्त्वों के संदर्भ में देखा जाए तो वेदान्त दर्शन मनोविज्ञान की भूमि दृष्टिगत होती है। हम पुरजोर कह सकते हैं कि वेदान्त में ही मनोविज्ञान का जन्म हुआ है।

सन्दर्भ-

1. आचार्य शंकर-अद्वैत वेदान्त, रामानुजाचार्य-विशिष्टाद्वैत, माध्वाचार्य-द्वैतवाद, वल्लभाचार्य-शुद्धाद्वैत, निम्बार्काचार्य-द्वैताद्वैत स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराद्वयतिरिक्तः पंचकोशातीतः सन् अवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन् यस्तिष्ठति स आत्मा। तत्त्व बोध-9.2
2. माण्डूक्योपनिषद् 3
3. माण्डूक्योपनिषद् 3
4. माण्डूक्योपनिषद्। शांकरभाष्य 5
5. माण्डूक्योपनिषद् 6
6. वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च। विवेक चूडामणि, 497
7. विवेक चूड़ामणि, 74
8. विवेक चूड़ामणि, 75
9. तत्व बोध, 10.2
10. विवेक चूड़ामणि, 90
11. विवेक-चूडामणि, 98
12. विवेक-चूडामणि, 122
13. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1
14. मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिः। विवेक चूड़ामणि ९५
15. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् श्रीमद्भगवद्गीता 7/34
16. एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषती तन्मनो भवति। ६/६/२
17. अन्नमशीतं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मासं योऽणिष्ठ स्तन्मनः ६/५/१
18. शांकर भाष्य, माण्डूक्योपनिषद् अद्वैत प्रकरण, 40
19. विवेक चूड़ामणि ९५
20. शांकरभाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता १०/४
21. स्वार्थानुसंधान गुणेन चित्तम। विवेक चूड़ामणि ९६
22. अत्राभिमानादहमित्यअहङ्कृतिः। विवेक चूड़ामणि ९६
23. आगामिसंचित प्रारब्ध भेदेन त्रिविधानि सन्ति। तत्वबोध 37.1

24. ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं ज्ञानिदेहकृतं पुण्यपापरूपं कर्म यदस्ति तदागामीत्यभिधीयते। तत्व बोध। 37.2
25. अनन्तकोटिजन्मनां बीजभूतं सत् यतकर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति तत्संचितं ज्ञेयम्। तत्व बोध। 37.4
26. इदं शरीरमुत्पाद्य इह लोके एवं सुख दुःखादिप्रदं यत्कर्म तत्प्रारब्धं भोगेन नष्टं भवति प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति। तत्वबोध। 37.6
27. श्रीमद्भगवद्गीता, शांकरभाष्य, 2/27
28. प्रश्नोपनिषद् प्रश्न 3/10
29. कठोपनिषद् 2/4
30. विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः। तृप्ति प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा यया सदानन्दरसं समृच्छति। विवेक चूड़ामणि 121
31. कठोपनिषद् 1/3/3
32. बृहदारण्यकोपनिषद् 5/11/1
33. विवेकचूड़ामणि 9
34. कठोपनिषद् 1/3/14
35. नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमादि षट्कसम्पत्तिः मुमुक्षुत्वं चेति। तत्व बोध 2.1
36. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः। विवेकचूड़ामणि 20
37. तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः। 21
38. शमो दम उपरमस्तितिक्षा श्रद्धा समाधानं चेति। तत्व बोध
39. मनोनिग्रहः। तत्व बोध 5.3
40. चक्षुरादिबाह्येन्द्रियनिग्रहः। तत्व बोध 5.4
41. बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा। विवेक चूड़ामणि 24
42. सहनं सर्व दुःखानां तितिक्षा। अपरोक्षानुभूति 7
43. निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रेद्धेति विश्रुता। अपरोक्षानुभूति 8
44. चित्तैकाग्रता। तत्व बोध 6.1
45. मोक्षो में भूयाद् इति इच्छा। तत्व बोध 6.2
46. विवेक चूड़ामणि 28
47. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.5

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (181-186) January-June 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक-मनोविज्ञान

DG ज्ञानचंद्रा

श्रीअरविन्द चेतना समाज

6562/1, चमेलियान रोड, दिल्ली

वैदिक के साथ, "मनोविज्ञान" शब्द आधुनिक भाषागत व मनोगत अभ्यास के कारण प्रयुक्त किया गया है। जबकि वेद वस्तुतः, "चेतना-विज्ञान" है। "अग्नि" के अनेक अर्थों और तात्पर्यों में-चेतना, संचेतना, संवित् ही प्रमुख हैं। "मन" इस चेतना तत्व का एक स्तर, अंश या पड़ाव और एक परिस्थिति मात्र है। जो अति महत्वपूर्ण तो अवश्य है पर पूर्ण प्रकाशित नहीं है। वेद के सप्त सोपानीय स्थिति में जो कि, भूः व भुवः से प्रारम्भ होकर सत्यम् तक वर्णित की गई है, उस में "स्वः" अर्थात् शुद्ध और शिव-संकल्प रूप "मन" एक मध्यम स्थिति है। उसके आगे महः/जनः/तपः और "सत्यम्" की चार क्रमिक, उत्तरोत्तर, व्यापक और ऊर्ध्व गतियाँ और स्थितियां और हैं। "महस्" या "विज्ञान" का विस्तार ही विश्व निर्माण का मूल तत्व है।

वेद अभी तक प्राप्त सर्वप्रमुख ज्ञान, विज्ञान संहिताएं हैं। ये अतिशय पुरातन मन्त्र संग्रह हैं। पुरातन के चार भेद इस प्रकार हैं:-

अज्ञेय पुरातन= वेद पूर्व का पुरातन जिसके संकेत वेद में हैं तथा पुराण में हैं।

अज्ञात, अतिपुरातन= वेद, आरण्यक, पुराणों आदि में कुछ निश्चयात्मक वर्णन है।

अल्पज्ञात पुरातन= रामायण / महाभारत / पुराणों में कथा रूप में वर्णित।

ज्ञात पुरातन= बुद्ध महावीर का काल व उसके बाद का काल।

वेद के काल के विषय में परम्परा और आधुनिक ऐतिहासिक मत में गहरा भेद और अंतर है। किन्तु उस अज्ञात पुरातन में भी वेद में मन एवं प्राण रूप दो मुख्य तत्वों में दोनों का ज्ञान इतना गहन, गूढ़ और व्यापक है कि आज तक का विज्ञान-समर्थित मनोविज्ञान मात्र बाल क्रीड़ा जैसा ही लगता है। मनोविज्ञान और प्राणविज्ञान की जो सूक्ष्मताएँ और बारीकियां वेद में वर्णित हैं, वे मानवीय चेतना

विकास व तदनुसार उसके समृद्ध, सफल और दीर्घ जीवन का तार्किक, आनुभविक स्वरूप अति उत्कृष्टता से प्रस्तुत करती हैं। धन-संसाधन से अति समृद्ध, बल और शौर्य से युक्त, उद्देश्य पूर्ण, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की उच्चता व शुद्धता के लिए जो शारीरिक, प्राणिक और मानसिक अभ्यास, क्षमताएं और जीवन की कृतकृत्यता के लिए वांछनीय गुण हैं वे वेद में अल्प या आंशिक नहीं अपितु परिपूर्ण और अति कौशल्य युक्त हैं।

प्रथमतम नियम है मन को पशुत्व के स्वाभाविक अशुभ संकल्प से उच्चतर शुभ संकल्प की ओर ले जाना :-

"चेतना-विज्ञान" के परिधि हीन पयोधि में मानव के सतत उच्चतर स्तरों पर उभरने, व्यापक और गहन होने के विषय भरे पड़े हैं। अभीप्सा, उपाय, प्रार्थना व समर्पण इसी ओर है तो "चेतना" के महत्वपूर्ण अंग "मन" की उपेक्षा क्यों होगी!! अतएव प्रदत्त विषय पर लेखन बहुत विशाल ही हो सकता है। एक सीमित लेख में यह सब भला कैसे आ सकता है। परन्तु यहाँ लेखन के उद्देश्य से कुछ अल्प संदर्भ स-विश्लेषण प्रस्तुत हैं।

ऋग्वेद-मण्डल एक, सूक्त एक का तृतीय मन्त्र ध्यातव्य है-

"अग्नि" द्वारा सम्पदा जो आंतरिक व बाह्य है वह दिन प्रति दिन पोषित/पुष्ट होती जाय-यह चेतना के विकास का ही प्रतीक है जिसमें "मन" तो स्पष्ट ही गण्य और सम्मिलित है।

पुनः ऋग्वेद-1/1 का 8 वाँ मन्त्र ध्यान में लें-"वर्धमानम् स्वे दमे"। अपने गृह में, घर में वर्धित होता है। संसार उस अग्निरूप चेतना का विशाल गृह है मानवीय हृद्देश ह्रस्व गृह है। उसमें अग्नि=चेतना का बढ़ना-इसमें "मन", प्राण आदि सभी का उत्थान और विकास सम्मिलित है।

यजुर्वेद 23/15 में स्वयं अपने सर्वतोमुखी विकास को स्पष्ट रीति से वर्णित किया गया है। "स्वयं यजस्व/स्वयं जुषस्व" तथा "ते महिमा अन्येन न सन्नशे"-तेरी महिमा, विशेषता अन्य के द्वारा नष्ट न हो। यजुर्वेद अध्य०-40 का मन्त्र "ये के चात्महनो जनाः"-में सतत विकास का स्पष्ट और निर्भ्रान्त उपदेश है, जो "मन" के उच्च विकास की प्रेरणा ही है। आत्म हनन के अनेक प्रकार हैं-संसार और जीवन को अहेतुक मानना/व्यक्ति को समुदाय से अधिक महत्व देना या समुदाय के लिए व्यक्ति को महत्वहीन समझना/केवल भोगवाद में संलग्न रहना/अधिक लोभ-लालच करना/आयु क्षयकारी कुकर्मों में लगे रहना/"मन" को अनियंत्रित रखते हुए अधोगति की ओर ले जाने वाले कार्यों में स्वयं को व्यस्त रखना-आदि आदि। यह वृत्ति मानवीय मनोविज्ञान की दृष्टि से विचारणीय व अनुपालनीय है।

"अहं"-के विषय में वेद दृष्टि अतिशय उच्च मनोविज्ञानात्मक है। "अहं" शब्द स्वयं में "अ-हन्यते" के भाव का प्रतीक है। 'अस्मद्' का प्रथमा विभक्ति, एकवचन "अहं" होता है। अविभाज्य अविनाशी आत्मरूप 'अहं' नष्ट नहीं होता, नहीं किया जा सकता। पर अहंकार को सामान्य रूप से अच्छा नहीं समझा जाता। पर यहाँ सम्यक् अर्थ और समझ की बात यह है कि "तुलनात्मक" अहंकार, जिसमें या तो हम स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं या हीन। दोनों ही भूलभरी बातें हैं। प्रत्येक व्यक्ति निरुपम, Unique है तो तुलना कैसी और तुलना नहीं तो हीनभाव-श्रेष्ठभाव का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता।अत: वैदिक दृष्टि से समस्त व्यक्तित्व के विकास के निमित्त, विशेषकर "मन" के विकासार्थ 'अहं' के मूल और शुद्ध रूप को समझना अपरिहार्य है।

"मा गृध:"-लालच मत कर, गृद्ध दृष्टि मत रख,

"त्यक्तेन भुंजीथा"-त्याग भाव से भोग,

"कृतं स्मर"- किये हुए का विचार करता रह। अर्थात् अपने कर्मों का पुनर्मूल्यांकन, Recapitulation and re - evaluation..ये उच्चतम मनोवैज्ञानिक भावनाएं हैं। वस्तुत: जगत् और जीवन दोनों वेद दृष्टि में यज्ञरूप हैं। मानव व्यक्ति जीवन को यज्ञरूप से देखें तो इस प्रकार से उसका वर्णन किया गया है-

शरीर के अंग-अवयव-यज्ञविभाग।

मानव शरीर-यज्ञ-मंडप।

आत्माग्नि-मुख्य अग्नि।

पंच प्राणाग्नि-अन्य अग्नियाँ।

जठर की अग्नि-आह्वनीय अग्नि।

प्रजननेन्द्रिय अग्नि-गार्हपत्य अग्नि।

इंद्रियां-ऋत्विज।

100 वर्ष धर्माचरण-शतक्रतु यज्ञ। इन कथित बिंदुओं को विवेचन, विश्लेषण सहित सम्यक् रूप से समझा जाय तो मानवीय मनोविज्ञान के साथ सम्पूर्ण व्यक्तित्व, तन-मन-प्राण के सुसंगत विकास और उत्थान को ही प्रतीक रूप से, सूत्रात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है।

वेद में मानवीय मनोविज्ञान सम्बन्धी विषय वस्तु भरी पड़ी है। मानव का सर्वतोमुखी और सर्वसमाहारी विकास और प्रगति ही वेद का मुख्य ध्येय है, उस विकास में 'मन' भी एक अंश और एक स्थिति है। क्योंकि वेद इसी पार्थिव भूमि

को स्वर्ग और मानवों को देव बनाने के अभीप्सु हैं, पारलौकिक जीवन के नहीं, अतएव वे शरीर, प्राण और मन के संयुक्त विकास के ही प्रक्रिया प्रदायक ग्रन्थ मैन्युअल हैं। वेद में उत्साह वर्धन, आत्मविश्वास पोषक तथा स्पष्ट लक्ष्य और लक्ष्य की ओर तीव्र गति से अग्रगमन के ही विधि-विधान हैं जिसमें मन को शिवसंकल्प करते हुए, मन से ऊर्ध्वतर तत्व विज्ञान और अतिमानसी स्थिति की प्राप्ति ही ज्ञेय और अनुपालनीय है।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त, संख्या 10/191 तो सामूहिक मनोविज्ञान विकास की पराकाष्ठा है।

संगच्छध्वम्-के चार मन्त्रों में प्रथम मानवीय अभीप्सा है-समृद्धि-सम्पदा के, वसु के लिए। उसकी प्राप्ति की योग्यता और अर्हता है-समाज के प्रत्येक व्यक्ति का अपनी सामर्थ्य, शक्यता, कुशलता व विशेषता का समाज हित प्रयोग, उपयोग व समर्पण। प्रत्येक व्यक्ति की गति, मति, कर्तृत्व, श्रम और क्रम, अभीप्सा और कौशल्य सर्वसमाज व राष्ट्र के हित किये जाएं। वेद में अधिकांश "वयं" एवं "नः" =हम सब का ही प्रयोग है, अहं=मैं का अतिशय ही कम। व्यक्तिगत व सामाजिक मनोविज्ञान का अमृत कोष हैं वेद।

अनुलग्नक 1

वैदिक, चेतना-विज्ञान

वेद के ऋषि, जड़ अश्म यानि प्रस्तर में लुप्त "लगभग" अनुपस्थित चेतना, वानस्पतिक अत्यल्प चेतना, एवं पशु चेतना का भी ज्ञान रखते थे। वे इन सब की चेतना से तादात्म्य प्राप्त करके उनके गुण-धर्म व प्रयोगोपयोग जान लेते थे। परन्तु मनुष्य की चेतना और उससे परिचालित मानवीय मनोविज्ञान के तो वेद-वर्णित तत्व और वैशिष्ट्य के तो वे सागर ही हैं। वैसे तो सभी वेदों में इस प्रकार के मन्त्र प्राप्य हैं। यहाँ हम केवल यजुर्वेद के संदर्भ प्रस्तुत कर रहे हैं।

यजुर्वेद के मनोविज्ञान तत्व प्रकाशक कुछ मन्त्र अंश इस प्रकार हैं। "अगन्महि मनसा सं शिवेन--(2/24)" =हम कल्याणकारी मानस से युक्त हों। वेद में कल्याणकारी से सदा "क्रम-विकासात्मक" तात्पर्य लेना चाहिये। वेद सतत ऊर्ध्व विकास के प्रेरक ग्रन्थ हैं। अविराम अधोगति से बचाते हैं। "चित्तं विज्ञातमग्निम् प्रयुजम् स्वाहा-(11/16)"

=चित्त और मनसोपरि विज्ञान के प्रेरक चैतन्य-अग्नि के निमित हवि प्रदान करते हैं।

"अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः (17/94)"

=हृदय में विद्यमान मन में पवित्रता हो

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः (25/14)

=सभी ओर से शुभतम विचार हमें प्राप्त हों।

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। (39/4)

=मन की कामनाओं और अभीप्साओं के साथ ही वाणी की सत्यता प्राप्त करूँ।

"यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते। (34/3)"

मन-जिसके बिना कोई कार्य किया ही नहीं जा सकता।

"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (34/1)"

वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

मनोविज्ञान का अर्थ ही है, मन की गतियों और स्फुरणों को सम्यक् रूप से जानना और उन्हें विनाशात्मक प्रवृत्तियों से विकासात्मक प्रवृत्तियों की और उन्मुख करना, भद्रता और उत्तमता की ओर प्रेरित करने का अभ्यास करना। आधुनिक फ्रायडीय मनोविज्ञान ने जहाँ मनुष्य मन की निम्नतम एवं अधोमुखी वृत्तियों के विवेचन-विश्लेषण की ओर ही ध्यान दिया है, वेद में अविरल मानव मन के उत्थान और परिष्करण पर दृष्टि केन्द्रित की है। अवचेतन से चेतन व पराचेतन की ओर जा पाने का विचार, सम्भावना और प्रक्रिया का अभी तक आधुनिक पाश्चात्य प्रेरित मनोविज्ञान में अभाव है। उनके साधन हैं वैचारिक ऊहापोह, तर्क और भौतिक दृष्टि से अध्ययन। जबकि वेदानुसार तीव्र आंतरिक ध्यान, तादात्म्य, चेतना की ऊर्ध्वता की ओर तप-साधना के द्वारा चेतना और मन के प्रच्छन्न सत्यों व तथ्यों का आनुभाविक परीक्षित ज्ञान वृत्ति प्रवृत्ति और प्राथमिकताओं में सम्यक् व सही, सर्वप्रकार लाभक चयन की क्षमता ही मनोविज्ञान है, संचेतना की प्रबलता व शुद्धता से परिपोषित मनोविज्ञान और यह विषय वस्तु वेद में विपुल रूप से व बहुलता से प्राप्त है।

अनुलग्नक 2

"वैदिक-मनोविज्ञान"--शब्द पर कुछ समीक्षा।

अंग्रेजी के "मनोविज्ञान-कोष" (Dictionary of Psychology) में मनोविज्ञान की परिभाषा के लिए लिखा है कि-

"मनोविज्ञान की परिभाषा हो ही नहीं सकती। वस्तुतः तो मनोविज्ञान को

श्रेणीबद्ध भी नहीं किया जा सकता। यदि आज हम ऐसा करें तो कल उसे अपर्याप्त ही बोला जाएगा।.....एक अनुशासन के रूप में इसकी जड़ें मात्र एक शताब्दी ही पुरानी हैं, इसी प्रकार इसके सामर्थ्य को चिकित्साशास्त्र एवं दर्शन शास्त्र में ले लिया गया है। (The Penguin Dictionary of Psychology - By : Arthur S.Reber)। साधारण Collins Dictionary में Psychology का अर्थ दिया हुआ है-"मानवीय एवं पाशविक व्यवहार के प्रत्येक रूप का वैज्ञानिक अध्ययन"।

"वैदिक-मनोविज्ञान"- शीर्षक स्वयं में कुछ विरोधाभासी एवं आत्म-विरोधी ही है। वैदिक ज्ञान-विद्या व्यवस्था में "मन" मानव व्यक्तित्व का एक खण्ड-भाग हिस्सा ही है। वेद वस्तुतः "अग्नि-विज्ञान" है। अग्नि के जो 60 के लगभग अर्थ वैदिक विद्वानों ने बताए हैं, उनमें, "चेतना" सर्वोपरि है। वेद इस प्रकार 'चेतना विज्ञान' है। "अग्नि" की स्तुति करते हैं जो पुरोहित है, यज्ञ की, देव की, जो ऋत्विज् है, होता है, रत्नधाता है। 'चेतना' का परमोच्च प्रकल्पन है परमचेतना/ परमतत्व तथाकथित "परमात्मा"। उसका निम्नतम रूप है अचेतना/ निश्चेतना जो प्रस्तर आदि में प्रच्छन्न, अज्ञात, पूर्णतः अस्पष्ट होती है। परन्तु वेद में सम्पूर्ण पृथ्वी को "अग्निवासा" कहा गया है (अथर्ववेद, 12/1/21) तथा पुनः भूमि, औषधि, जल, पत्थर, गौ, अश्व, पुरुष आदि सभी 'अग्नि' से परिपूरित कहे हैं (अथर्ववेद, 12/1/19)। आकाश भी 'अग्नि' से परिपूर्ण है। अतएव यह विषय-शीर्षक यदि, "वैदिक-चेतना-विज्ञान" होता तो अधिक तार्किक और समीचीन होता। (असहमति स्वीकार्य है) भारतीय ज्ञान-परम्परा में, मात्र एक अर्धाली में तथाकथित मनोविज्ञान उत्तम रीति से परिभाषित हुआ है, यथाः-"मन एव मनुष्याणां कारणम् बन्धमोक्षयोः"। =मनुष्यों के बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है। यहाँ पारलौकिक, मरणोपरांत 'मोक्ष' से तात्पर्य नहीं है। यहाँ "आत्म-संतुलन, विशिष्ट आत्म-विकास व आत्म-शक्यता" से ही 'मोक्ष' का प्रयोजन है। "बन्ध" से तात्पर्य है-अधोगति की ओर ले जाने वाली, अनियंत्रित, अपरिष्कृत, विकास व प्रकाश विरोधी पशुसम वृत्ति, गति व स्वभाव। अस्तु।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (187-190) January-June 2018 ISSN 2277-4351

योगिराज श्रीअरविन्द और उनका वेदाधारित नवीन मनोविज्ञान

DG ज्ञानचंद्रा

श्रीअरविन्द चेतना समाज

6562/1, चमेलियान रोड, दिल्ली

श्रीअरविन्द का आध्यात्मिक प्रायोगिक मनोविज्ञान व्यक्ति-चेतना से ब्रह्म-चेतना तक का गहन चैतन्य-विकास विज्ञान है। व्यक्ति की आत्म-चेतना से जागतिक, सार्वत्रिक चेतना का विकास और इस महा प्राप्ति के पश्चात् ब्राह्मिक चेतना का व्यक्ति में अवतरण और विकास-श्रीअरविन्द की साधना पद्धति का यही प्रधान और स्पष्ट चरित्र है।

ऋग्वेद के अग्नि-मन्त्रों पर उनकी व्याख्याएं मनो-आध्यात्मिक और साधना-सूत्र प्रकाशक हैं। केवल शाब्दिक व्याख्याओं और तर्क-वितर्क में उनकी रुचि विशेष नहीं रही। मानव साधक मन की परिधि से ऊपर उठकर अधिमन से होता हुआ महत्तत्त्व तक, विज्ञान तक पहुंचे इसे ही उन्होंने "अतिमानस" का नाम दिया है। वेद के "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"-को जितनी गहनता, व्यापकता और स्पष्टता से श्रीअरविन्द ने स्पष्ट किया है, वैसा पहले के विज्ञ-जनों की लेखनों में नहीं मिलता।

"त्वमग्ने वृजिनवर्तनिम्....." -हे द्रष्टा अग्नि तुम कुटिल राहों पर चलने वाले मनुष्य को स्थायी सत्य में और ज्ञान में ले जाते हो (ऋग्वेदः 1/31/6)

वेद अजीर्ण और अमरणशील विश्वअस्तित्व के विकास में पारलौकिक मुक्ति तथा निर्वाण की बात नहीं करते। वे जगत् के सतत विकास और उसमें सब मनुष्यों के उत्तरोत्तर उत्थान की ही बात करते हैं। "वयं वः नः" 'हम सब' का ही प्रयोग वेद में मिलेगा। इस क्रमिक उत्थान-यात्रा में मन का विशेष स्थान है। उसे शिवसंकल्प बनाने की साधना, वेद निर्देशित आत्मोत्थान का प्रथम चरण है। "उभे पुनामि रोदसी ऋतेन...." =मैं भूलोक और द्युलोक दोनों को ऋत के द्वारा पवित्र करता हूँ। (ऋग्वेद 1/133/1)

इस निम्नतम से उच्चतम की साधना प्रणाली में मन और मनोविज्ञान का अनुपेक्षणीय, अपरिहार्य योगदान है। वह साधना का आवश्यक तत्व है। मनुष्य या

मानव का मूलार्थ ही है, मन वाला/मन के द्वारा/मन का, मन के लिए। अपने Life Divine-दिव्यजीवन महान् ग्रन्थ में मन के ऊर्जात्मक स्वरूप और सामर्थ्य को आवश्यक व निर्णायक मानते हैं श्रीअरविन्द, परन्तु उनका मानना है कि मन की वैचारिकता प्राणिक ऊर्जा के सहयोग के अभाव में क्रियाशील नहीं होती।

"मन की एक सृजनात्मक ऊर्जा होती है तथा सृजनात्मक प्राण शक्ति भी होती है, लेकिन ये दोनों मौलिक और निर्णायक न होकर साधनरूप और आंशिक ही होती हैं।" -**दिव्यजीवन-पृ० 696** यही श्रीअरविन्द की समस्त साधना-प्रणाली का मूल तत्व व केंद्र बिंदु है। तब चूंकि मन और प्राण भी वह नहीं हैं अतः कोई गुप्त चेतना-तत्व होना चाहिए जो प्राण-चेतना या मनश्चेतना से बढ़कर हो-कोई ऐसी ऊर्जा जो भौतिक ऊर्जा से भी अधिक सारभूत हो। चूंकि वह मन से अधिक महान् है अतएव उसे "अतिमानसिक चित्-शक्ति" होना चाहिए जो सभी चीजों का परम सार-तत्व है और द्रव्य है, वह आत्मा की शक्ति है। वेदों में प्रायः विशेष प्रतीकात्मक रूप में कथित इस "अतिमानसिक", मन से बहुत परे की गूढ़-गहन ईश-शक्ति, सामर्थ्य पर श्रीअरविन्द योग की नींव टिकी हुई है जिसका प्रतिफलन मानव की ऊंची से ऊंची सिद्धि का कारण होता है। वेदानुसार--"पृथिव्या अहं....= मैं पृथ्वी से अंतरिक्ष में उठ गया हूँ, अंतरिक्ष से द्युलोक में उठ गया हूँ, द्युलोक के व्योम से मैं सूर्यलोक में, ज्योति में चला गया हूँ। (यजुर्वेद 17/67) इसमें श्रीअरविन्द की अनुभवयुक्त व्याख्या के अनुसार जड़ तत्व से शुद्ध प्राण और शुद्ध प्राण से शुद्ध मन और उससे विज्ञानात्मक अतिमानस के चतुर्लौकिक विकास की ओर ही वेद का संकेत है। "मन" और मनोविज्ञान की आधुनिक विज्ञान वर्णित व्याख्याएं व विवेचन मनुष्य की परमतम स्थिति मानने की अधूरी व धुंधली दृष्टि की तुलना वैदिक दृष्टि में मन और मनोविज्ञान एक मध्यम पथांगित साधन मात्र हैं। हमारी मानसिक चेतना हमारी समग्र ज्ञात व अज्ञात सचेतन सत्ता का केवल लघु भाग है। वह हमारी सम्पूर्ण मानसिकता व मानसता भी नहीं है। इससे पीछे, इससे कहीं अधिक विशाल एक अंतर्लीन या अवचेतन मन है जो हमारे "स्व" का अधिक बड़ा भाग है और उसमें ऐसी ऊंचाइयां और गहराइयाँ हैं जिन्हें अभी तक किसी मनुष्य ने नहीं नापा है, उसकी थाह नहीं ली है। यह ज्ञान हमें शक्ति और उसकी क्रियाओं के सच्चे विज्ञान के लिए एक आरम्भिक बिंदु प्रदान करता है जो कि हमें निश्चित रूप से भौतिक की परिसीमक परिधि और प्रत्यक्ष की भ्रान्ति से मुक्त करता है।" -**दिव्यजीवन-पृ० 85।**

इस प्रकार वैदिक विज्ञानमय चेतना से संजीवित व पृथ्वी पर क्रियाशील जीवन की मौलिक भारतीय प्रकल्पना को ही अपने यौगिक आनुभाविक आधार पर

"अतिमानस" पारिभाषिक शब्द दिया है श्री अरविंद ने इस चेतना का विशिष्ट और विस्तृत वर्णन उन्होंने अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक Life Divine-दिव्यजीवन में दिया है। उसका भावात्मक संक्षेप इस प्रकार है-"विज्ञानमय चेतना एक ऐसी चेतना है जिसमें सभी विरोध या तो रद्द हो जाते हैं या दृष्टि और स्थिति के उच्चतर प्रकाश में, एकीकृत आत्मज्ञान या विश्वज्ञान में एक-दूसरे के अंदर घुल-मिल जाते हैं। विज्ञानमय पुरुष 'मन' के आदर्शों और मानकों को स्वीकार न करेगा वह स्वयं अपने लिए, औरों के लिए, मानवजाति के लिए अथवा राज्य के लिए जीवन जीने को प्रेरित न होगा; क्योंकि, वह इन अर्ध-सत्यों से बड़ी किसी चीज से, दिव्य सद्वस्तु से अभिज्ञ होगा और वह उसी के लिए, अपने भीतर और सबके भीतर उसकी इच्छा के लिए, एक विशाल विश्वात्मकता के भाव में, परात्पर की ही इच्छा के आलोक में जीवन जीएगा।

श्रीअरविन्द के लेखों में गहन वैदिक मनोविज्ञानात्मक कुछ सन्दर्भ-

ये अग्ने चन्द्र ते गिरः शुम्भन्त्यश्वराधसः।
शुष्मेभिः शुष्मिणो नरोदिवश्चिद्
येषां बृहत् सुकीर्तिर्बोधतित्मना।।10/4

=हे शक्तिमय देव, हे आनन्द स्वरूप, ये हैं वे जो जीवन की वेगशील शक्तियों की सुखपूर्ण समृद्धि से युक्त हैं,जो मन के चिन्तन के शब्दों को सुखपूर्ण प्रकाश की ओर मोड़ते हैं, जिनकी आत्माएं वीरोचित शक्ति से शक्तिमान हैं, जिनके लिए द्युलोक (अर्थात विशुद्ध मानसिक सत्ता के शिखर जहाँ मानसिक सत्ता अतिचेतन की विशालता के साथ भेंट करती है तथा उसमें प्रविष्ट हो जाती है), में भी विशालता है। इनके लिए अग्नि की पूर्ण क्रिया अपने आप ही ज्ञान के प्रति जागृत हो जाती है।

(वेदरहस्य-उत्तरार्द्ध पृष्ठ-75-अंग्रेजी से अनुवाद-श्रीजगन्नाथ वेदालंकार/श्रीधर्मवीर वेदालंकार)

वैदिक मनोविज्ञान को समझने के लिए वैदिक लोक-सोपान, लोक परम्परा को समझना परमावश्यक है। इस पर श्रीअरविंद लिखते हैं-

"परमदेव ने विश्व को लोकों की एक जटिल शृंखला के रूप में निर्मित किया है। इन लोकों को हम अपने अंदर और बाहर दोनों जगह पाते हैं। अंदर विषयी रूप से संज्ञात और बाहर विषय-रूप से इन्द्रियों द्वारा गृहीत व संवेदित। यह है पृथिवियों और द्युलोकों की चढ़ती हुई शृंखला। यह नानाविध जलों की प्रधारा है। यह सात किरणों या फिर आठ, नौ, दस किरणों वाली ज्योति है। ऋषि प्रायः इसे त्रिकों

की एक शृंखला के रूप में चित्रित करते हैं। तीन पृथिवियाँ और तीन द्यौ और फिर नीचे एक त्रिविध लोक भी है-द्यौ, पृथिवी और मध्यवर्ती अंतरिक्ष लोक बीच में है त्रिविध जगत्, सूर्य के तीन भास्वर द्युलोक-त्रीणि रोचना एक त्रिविध लोकयाम ऊपर भी हैं-वे हैं, देवाधिदेव के परमोच्च और आनंदोल्लासमय धाम।

वेद को समझने के लिए हमें इस वेदोक्त समानांतर क्रम-शृंखला को हृदयंगम करना होगा और विश्व के उन क्रमिक स्तरों को पृथक्-पृथक् जानना होगा जिनकी ओर यह शृंखला ले जाती है इसप्रकार तत्व और लोक-

1. शुद्ध सत्ता का लोक-सत्यलोक
2. शुद्ध चेतना का-तपोलोक
3. शुद्ध आनन्द-जनलोक
4. सत्य-विज्ञान-महर्लोक
5. मानसिक सत्ता-स्वर्लोक
6. प्राण सत्ता-भुवर्लोक
7. स्थूल अन्नमय-/भूलोक" (वेदरहस्य-उत्तरार्द्ध पृष्ठ-11/12)

इस प्रकार श्रीअरविन्द के अनुसार, मन, मानसिक सत्ता और उनके विश्लेषण के अध्ययन को "मनोविज्ञान" नाम से जाना और अध्ययन किया जाता है। परन्तु, वैदिक ज्ञान मन से बहुत ऊपर जाने के लिए मन को दृढ़ और शुभ-शिव संकल्प बनाने को प्रथम साधन के रूप में लेते हैं।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (191-194) January-June 2018 ISSN 2277-4351

सृष्टि में मन का योगदान

-डॉ. मोनिका मिश्रा

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
माता सुंदरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में मन का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया गया है जिसमें मन के गुण, धर्म, स्वरूप और कार्यों की समीक्षा है।

ब्राह्मण ग्रंथों में मन को ब्रह्म कहा गया है (मनो ब्रह्म, गोपथब्राह्मण 1.2.11) यह सर्वशक्तिमान् और परमात्मा का स्वरूप है अतः ब्रह्म है। मन सृष्टि का कर्ता है अतः उसे ब्रह्मा कहा गया है। इसी कर्तव्य के आधार पर उसे प्रजापति या सृष्टि निर्माता बताया गया है। (**मनो वै प्रजापतिः।** तैतिरीय ब्राह्मण 3.7.1.2) मन की कल्पना से ही ये सारा संसार है मन जैसा चाहता है वैसा होता है अतः उसे सर्वम् (सब कुछ) कहा गया है। मन की शक्ति अनंत है अतः उसे अनंत और अपरिमित कहा गया है। (**अनंतं वै मनः**- शतपथ ब्राह्मण 14.6.1.11)

मनो वा अपरिमितम् (कौषीतकि ब्राह्मण 26.3) मन की दिव्य शक्तियों के कारण उसे देव बताया गया है। मन में प्रेरणा शक्ति है अतः उसे अग्नि कहा गया है। मन एवाग्निः (शतपथ ब्राह्मण 10.1.2.3)

मन कल्पनाओं और शक्तियों का अथाह भंडार है अतः उसे समुद्र बताया गया है। मन विचारों का भंडार है, महानदी है और उसका प्रकाशन वाणी के द्वारा होता है, अतः वाणी को मन की नहर कहा गया है।

मन प्रजापति या ब्रह्मा का विशिष्ट शरीर है। **अपूर्वा (प्रजापतेस्तनू) तन्मनः।** (ऐतरेय ब्राह्मण 5.25)

मन का यही काम है कि वह विभिन्न प्रकार की सृष्टि की रचना करता है। मन निर्लेप है क्योंकि कोई विषय इसके साथ स्थायी रूप से नहीं जुड़ता है। इसमें विषय आते जाते रहते हैं। मन आकाश के समान असंग रहता है अर्थात् उसमें सब विषय रहते हैं किंतु मन किसी से जुड़ता नहीं है, मन आकाश के समान निष्क्रिय भी है। पदार्थ उसमें आते हैं और चले जाते हैं किन्तु वह उन पदार्थों की क्रिया के साथ स्वयं क्रिया नहीं करता, मन ना छोटा है ना बड़ा है वह जिस विषय का चिंतन करता है उसी के आकार का हो जाता है। मन का एक गुण है-काम। अपने से बड़ों

के प्रति श्रद्धा का भाव छोटों के प्रति वात्सल्य और जड़ पदार्थों के प्रति काम–ये मन के ही गुण है।

वेद के अनुसार कोई पदार्थ जड़ नहीं है, इसलिए मन सर्वव्यापक है, मन ही विद्याबल से ज्ञान और अविद्याबल से कर्म बन जाता है।

वस्तुतः सृष्टि का अधिष्ठान क्या है? वह मन से किस प्रकार संबद्ध है? सृष्टि का निमित्त व उपादान कारण क्या है?.... इन प्रश्नों पर विचार करने पर अव्यय पुरुष जगत् का अधिष्ठान है, अक्षर पुरुष निमित्त कारण तथा क्षर पुरुष उपादान कारण है। इन तीनों पुरुषों का उल्लेख गीता में इन शब्दों में है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीता 15.16–17)

अव्यय पुरुष में रस प्रधान है, अक्षर पुरुष में रस और बल दोनों की समान प्रधानता है और क्षर पुरुष में बल प्रधान है। अव्यय पुरुष के मन, प्राण और वाक् से क्रमशः जान भक्ति और कर्म का सम्बंध है। अव्यय आलम्बन है वह ना कर्ता है और ना भोक्ता। अक्षर निमित्त कारण है, यह कर्ता है और भोक्ता नहीं। क्षर उपादान कारण है, यह कर्ता भी है और भोक्ता भी है।

अव्यय पर है, अक्षर परावर तथा क्षर अवर। अवयय आधार है, अक्षर कारण है, क्षर कार्य है–

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥(कठोपनिषद् 1.2.7)

अव्यय अक्षर और क्षर में क्रमशः रस की मात्रा न्यून होती जाती है, अव्यय की आनंद, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पांच कलाएं हैं। मन जब प्राण और वाक् की ओर उन्मुख होता है तो सृष्टि होती है, जब विज्ञान और आनंद की ओर उन्मुख होता है तो मुक्ति होती है।

क्षरपुरुष कार्य है, अक्षर कारण है। अव्यय न कारण है और न कार्य। सुख दुख का स्पर्श अक्षर और क्षर को ही होता है, अव्यय पुरुष को नहीं–

न वै सशरीरस्त सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं
वा वसंतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। (छान्दोग्योपनिषद् 8.12.1)

तीनों पुरुषों में अव्यय कार्यकारणातीत है, अक्षर निमित्त है और क्षर समवायी कारण है।

अव्यय, अक्षर तथा क्षर से मन, प्राण तथा अर्थ का विकास होता है जो क्रमशः प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा तथा भूतात्मा है। इनमें प्रज्ञानात्मा की मुख्यता ये बहिःसंज्ञ, प्राणात्मा की मुख्यता से अन्तः संज्ञ तथा भूतात्मा की मुख्यता से असंज्ञ सृष्टि होती है। अव्यय पुरुष भाव सृष्टि के प्रवर्तक हैं, अक्षर पुरुष गुण सृष्टि के और आत्मक्षरपुरुष विकार सृष्टि के प्रवर्तक हैं।

अव्यय पुरुष की पांच कलाएं हैं-आनंद, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। अव्यय पुरुष के मन और प्राण अतिसूक्ष्म हैं, इसलिए उन्हें श्वोवसीयसमन् तथा मुख्य प्राण कहा जाता है। वाक् अव्यय पुरुष की कलाओं का ही अंश है। इन्हीं पांच कलाओं पर अक्षरपुरुष और क्षर पुरुष अवलंबित हैं।

अव्यय पुरुष की पांच कलाओं में मन, प्राण और वाक् का विशेष महत्व है क्योंकि ये तीनों ही सृष्टि के कारण हैं। वाक्, प्राण और मन त्रिसत्य कहलाते हैं। वाक् सत् है, प्राण असत् है और मन सदसत्। सत् का अर्थ देशकालावच्छिन्न है। प्राण का अनुमान होता है, वह स्वयं दिखाई नहीं देता इसलिए असत् है। मन स्वयं को जानता है किंतु दूसरे के मन को नहीं इसलिए उसे सदसत् कहते हैं।

मन, प्राण और वाक् से क्रमशः ज्ञान, क्रिया और अर्थ उत्पन्न होते हैं। ये तीनों ही संसार के पदार्थों को बनाते हैं, जब तक सीमा न हो केंद्र नहीं बनता केंद्र के बिना कामना नहीं, कामना के बिना क्षोभ नहीं, क्षोभ के बिना विकार नहीं और विकार के बिना सृष्टि नहीं।

मन जब सृष्टि के लिए उन्मुख होता है तो उसमें प्राण और वाक् उत्पन्न होते हैं। प्राण किया रूप है जो स्थूलता में बद्ध होकर वाक् में परिणत हो जाता है। विज्ञान और आनंद विद्या हैं, प्राण और वाक् अविद्या हैं। प्राण का आधार अक्षर पुरुष है और वाक् का आधार क्षरपुरुष बनता है। अक्षर निमित्त है, क्षर उपादान है। अव्यय पुरुष कारणातीत है।

मन इच्छा करता है, प्राण तप और वाक् श्रम करता है। मन का विकंपित रूप काम है, प्राण का विकंपित रूप तप है, तथा वाक् का विकंपित रूप श्रम है। इन तीनों से ही सृष्टि बनती है।

सोऽकामयत। स तपोऽतप्यत। सोऽश्राम्यत्।

(शतपथ ब्राह्मण 14.4.3.10)

मन की वासनायुक्त इच्छा बंधन का कारण है, ईश्वर के मन में कोई वासना नहीं होती अतः वहां बंधन नहीं होता। प्रसार मन की पूर्णता है मन परात्पर जैसा पूर्ण होना चाहता है किंतु प्राण के बलवान् ना होने से वेसा नहीं कर पाता है इसलिए

अपूर्ण रहता है। अपूर्ण मन चंचल होता है, वह प्राणों को प्रेरित करता है। यही काम का स्वरूप है। प्राण का इच्छित पदार्थ को छोड़ना तपस्या है। तप से ही सृष्टि होती है। अपना जो अंश दूसरे को दिया जाता है वह तप है। इसके द्वारा कामनाओं की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण का तप ज्ञान है, क्षत्रिय का तप रक्षा है। यज्ञ, तप और दान तीनों ही तप हैं। मानवभाव को दैव भाव को अर्पण कर देना यज्ञ है। तप में से विराट् का अंश दूसरे को दिया जाता है दान में मन को चारों ओर से काट दिया जाता है।

अव्यय पुरुष ससीम है इसलिए इसका केंद्र भी है, अव्यय पुरुष का यह केंद्र ही मन कहलाता है। क्योंकि यह मन अस्मदादि के मन से भिन्न है इसलिए इसे अलग नाम दिया गया है-

श्वोवसीयस् मन। इसके दो अर्थ हैं-

1. जो श्वः अर्थात् कालभाव से अवसीयस अर्थात् असंग है
2. जो श्वः= सदा वसीयस=वर्धमान है।

मन का धर्म है कामना। अव्यय पुरुष के इन मन में कामना उत्पन्न हुई, किंतु यह कामना उसके मन का सहज धर्म है। इसके पीछे किसी प्रकार का राग द्वेष जैसा भाव नहीं है। यह कामना थी एक से अनेक हो जाने की कामना। जैसे ही यह इच्छा उत्पन्न होती है, एक क्षोभ या एक क्रिया उत्पन्न हो जाती है। यह क्षोभ या क्रिया प्राण का व्यापार है जैसे सृष्टि की कामना करने वाला मन हमारा व्यक्तिगत मन नहीं अपितु अव्ययपुरुष का मन है। वैसे ये प्राण भी अव्ययपुरुष के प्राण हैं।

हमारी कामना उस अव्यय मन की कामना का एक बहुत छोटा हिस्सा है। हमारा प्राण भी उस अव्यय पुरुष के प्राण का एक बहुत छोटा हिस्सा है। यह क्रिया सृष्टि को जन्म देती है, मन की कामना नितांत अव्यक्त है, क्रिया व्यक्ताव्यक्त है, किंतु उस क्रिया से उत्पन्न होने वाले पदार्थ व्यक्त हैं। इन व्यक्त पदार्थों का नाम वाक् है। इन्हें वाक् इसलिए कहा जाता है कि वाक् अर्थात् शब्द आकाश का गुण है और व्यक्त सृष्टि के पंचभूतों में सर्वप्रथम आकाश ही है। ये पंच महाभूत प्राण और मन मिलकर वे सात तंतु हैं जिनसे सृष्टि का पुट बुना गया है।

इस प्रकार सृष्टि का बीज अव्यय मन है, काम उसका प्रथम लक्षण है। मायाबल से असीम परात्पर में सीमा बनने पर केंद्र बनता है। केंद्र के बिना मन नहीं हो सकता है। मन के बिना कामना नहीं हो सकती और कामना के बिना कर्म नहीं हो सकता तथा कर्म के बिना सृष्टि नहीं हो सकती है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (195-201) January-June 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक वाङ्मय में मन का मनोवैज्ञानिक विवेचन

-रश्मि पाल
शोधच्छात्रा, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

सारांश

[पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है। वैदिक वाङ्मय में मनुष्य के श्रेष्ठतम होने के विविध प्रमाण उपलब्ध है जिनमें एक प्रमाण 'मन' है। मन द्वारा होने वाले व्यवहार प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। यह व्यवहार परिस्थिति के अनुसार न्यून और अधिक होता रहता है। शुक्ल यजुर्वेद के शिवसङ्कल्प सूक्त में विशेष रूप से केवल छः मन्त्रों में मन की मनोवैज्ञानिकता को सिद्ध किया गया है जिसमें मन की सत्ता और शक्ति का विशद वर्णन है। मन के भाव के बिना कोई भी कार्य करना संभव नहीं है। यह मनुष्य के हृदय में शरीर के साथ एक उपकरण की भांति रहता है।

अंग्रेजी में संवेग शब्द को म्उवजपवद कहते हैं। Emotion शब्द लैटिन भाषा के Emovere से बना है। म्उवजपवद का शाब्दिक अर्थ भावना है जो कि भाव को बताता है। यही भाव मनुष्य के स्वभाव को निर्धारित करते हैं। परिस्थिति के अनुसार उनके भावों में विविधता दृष्टिगोचर होती है। अतः मन में उठने वाले भाव और संवेग एक ही है उसको चलाने वाला यन्त्र 'मन' है। संवेग चौदह मूल प्रवृत्ति (नैसर्गिक शक्ति) से सम्बद्ध है और इसके प्रवर्तक मनोवैज्ञानिक 'विलियम मैक्डूगल' हैं। चौदह मूल प्रवृत्तियाँ पलायन, युयुत्सा, निवृत्ति और पैतृक भावना इत्यादि से सम्बद्ध संवेग भय, क्रोध, विरुचि और दया आदि मन द्वारा संचालित व्यवहार परिवर्तन से उत्पन्न भाव है।]

वैदिक वाङ्मय में वेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेद (संहिता) ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के अङ्ग है। वेद 'ज्ञान' के प्रतिपादक, ब्राह्मण 'वेद मन्त्रों की व्याख्या', आरण्यक 'ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट रूप में उनकी रहस्यात्मक तथ्यों की व्याख्या करना' और उपनिषद् यथार्थ ज्ञान के रूप में प्रसिद्ध है अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि ये चारों एक ही वाटिका के पुष्प हैं। ज्ञान का अधिष्ठाता मनुष्य है। मनुष्य चेतन गुण से युक्त है। चेतन गुण उसके अन्तःकरण में उपस्थित 'मन' की ओर इंगित करता है। मन मनुष्य को हर्ष-विषाद, सुख-दुःख

और धैर्य आदि की अनुभूति करवाता है। इनमें से कुछ मनोवृत्तियों की अनुभूति उसके साथ जन्म से स्वाभाविक रूप से जुड़ी होती है। ये सभी मनोवृत्तियाँ मनोविज्ञान शब्दावली में 'संवेग' नाम से जानी जाती है और ये मनुष्य की नैसर्गिक शक्ति मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध होती है। प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रतिपाद्य-विषय वैदिक वाङ्मय में 'मन' और मनोविज्ञान विचारधारा के अनुसार मूल प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हुए विलियम मैक्डूगल द्वारा प्रतिपादित चौदह मूल प्रवृत्तियाँ और संवेग का उल्लेख है और मन का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

मनः- वैदिक विचारधारा

जन्म से मनुष्य का स्वभाव उसके अन्तःकरण में उपस्थित मनोवृत्तियों से जुड़ा हुआ है। मनोवृत्तियों का सम्बन्ध सुख-दुःख और हर्ष-विषाद आदि भावों से होता है। मनुष्य के हृदय में उपस्थित 'मन' और उसकी 'पंच ज्ञानेन्द्रियाँ' (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण) मनुष्यत्व को द्योतित करती है। 'मनोमर्याखयं पुरुषः' अर्थात् जिसके पास मन है वही पुरुष है। मनुष्य पंच ज्ञानेन्द्रियों और मन से मनोमय कोश का निर्माण करता है। मनोमय कोश इच्छा शक्ति से युक्त और करण रूप है। मनुष्य की इच्छा शक्ति के कारण मन के भाव परिस्थितियों के अनुसार न्यून और अधिक रूप में परिवर्तित होते रहते हैं।

मनुष्य के अन्तःकरण में उपस्थित मन में उठने वाले अन्तर्द्वन्द्व और संवेगात्मक भावनाओं का परिणाम मनुष्य की परिस्थितियों के अनुकूल-प्रतिकूल रूप में उठते हैं। वह परिस्थितियों का दास बनकर सुख-दुःख और हर्ष-विषाद इत्यादि द्वन्दों को सहन करते हुए उनका आस्वादन करता है। मन अन्तःकरण की वह वृत्ति है जो संकल्प और विकल्प करती है और मन में संकल्प-विकल्प समुद्र की लहर की भाँति निरन्तर उठते-गिरते रहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के शिवसङ्कल्प सूक्त में 'मन' का बहुत मार्मिक और हृदय स्पर्शी विवेचन किया गया है। छः मन्त्रों में निबद्ध 'मन' की सर्वव्यापकता, तीव्रगामी, प्रकाशक और चेतन इत्यादि गुणों का उल्लेख है। मन कामनाओं का केन्द्र बिन्दु है जहाँ पर मनुष्य कामनाओं से प्रेरित होकर कर्मों को करता है। यह सभी इन्द्रियों से पहले उत्पन्न होकर पुरुष को यज्ञ और कर्मों में प्रवृत्त करता है। यह वायु से भी अधिक तीव्रगामी है। यह मनुष्य को जाग्रतावस्था और सुषुप्तावस्था में 'आत्मा' के दर्शन करवाता है। यह सभी इन्द्रियों का प्रकाशक है। यह ज्ञानरूपक, चेतन, प्रकाशक और ज्योति स्वरूप है। यह सदैव एक ही अवस्था का गमन करने वाला अर्थात् जीर्णवस्था को प्राप्त नहीं करता है।

मनुष्य के अन्त:करण में स्थित मन अन्त:दृष्टि द्वारा संसार में त्रय काल संबंधी पदार्थों का दर्शन करता है। वह सदैव मन का पथगामी होकर उसके वशीभूत होकर कार्य करता है। मन मनुष्य की मानसिक शक्ति से युक्त है और जिस कारण वह असम्भव कार्यों को भी सहजता से पूर्ण कर लेता है। अत: वैदिक वाङ्मय में मन को शिव, शुभ सुन्दर और कल्याणकारी रूप में स्वीकार किया गया है।

नैसर्गिक शक्ति (मूल प्रवृत्ति):- मनोवैज्ञानिक विचारधारा

मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ प्रकृति प्रदत्त होती है। वह उसको जन्म से ही प्राप्त होती है उसको प्राप्त करने के लिये उसको किसी पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है लेकिन कुछ प्रवृत्तियाँ उसमें समाज में रहकर उत्पन्न या विकसित हो जाती है। भोजन ढूँढना, भागना और लड़ना इत्यादि प्रवृत्तियाँ मूल प्रवृत्तियाँ है। मनोवैज्ञानिकों की मूल प्रवृत्ति की संख्याओं में मतभेद है जो सौ से भी अधिक है किन्तु विलियम मैक्डूगल द्वारा प्रतिपादित चौदह मूल प्रवृत्तियाँ और संवेग ही मुख्य माने जाते हैं।

मूल प्रवृत्तियों के कारण संवेग उत्पत्ति होती है। मैक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियों को 'नैसर्गिक शक्ति' या 'सहज शक्ति' का नाम दिया है। ये इस शक्ति को यान्त्रिक मानते हैं और उद्दीपक के होने पर अनुक्रिया होती है। मैक्डूगल मतानुसार, ह्नैसर्गिक शक्ति प्राणी का ऐसा वंशानुगत या शरीरगत मानसिक स्वभाव है, जो किसी विशेष वस्तु के सामने उपस्थित होने पर उसे विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए बाधित कर देता है या कम-से-कम उसके भीतर उस तरह का व्यवहार करने की प्रेरणा उत्पन्न कर देता है। नैसर्गिक शक्ति स्वचालित यन्त्र की भाँति कार्य करती है और इसका संचालन हेतु मन की आवश्यकता पड़ती है। मैक्डूगल द्वारा प्रतिपादित चौदह मूल प्रवृत्तियों और संवेग निम्न है-

	नैसर्गिक शक्ति या मूल प्रवृत्ति	**संवेग**
1.	पलायन	भय
2.	युयुत्सा	क्रोध
3.	निवृत्ति	विरुचि
4.	पैतृक भावना	दया
5.	संवेदना-सहानुभूति	दु:ख
6.	संभोग	काम
7.	जिज्ञासा	आश्चर्य
8.	अधीनता	आत्महीनता

9.	स्वाग्रह	आत्माभिमान
10.	यूथ-चारिता	एकाकीभाव
11.	खाद्यान्वेषण	तृप्ति
12.	परिग्रहण	स्वत्व
13.	रचनात्मकता	कृति
14.	हास	आमोद

मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक फ्रायड मूल प्रवृत्तियों को दो भागों में विभाजित करते हैं-

1. जीवन मूल प्रवृत्ति-यह व्यक्ति की आत्मकथा, विस्तार, निर्माण और सृजन इत्यादि भावों से युक्त होती है।

2. मृत्यु मूल प्रवृत्ति-यह व्यक्ति को अपना और दूसरों का जीवन नष्ट करने की प्रेरणा देती है। जैसे-घृणा, वैमनस्य, हिंसा और विध्वंस इत्यादि भाव व्यक्ति को अवसाद की ओर ले जाकर मृत्यु को प्राप्त करवाते हैं।

ये सभी संवेग मनुष्य के व्यवहार से सम्बद्ध है। संवेग मूर्त वस्तुओं और परिस्थितियों से सम्बन्धित होते हैं। यह क्षणिक और तीव्र होते हैं। संवेगों में परिवर्तन प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न होने के कारण व्यक्तिगत होते हैं।

मन का मनोवैज्ञानिक विवेचन

मनुष्य की आन्तरिक विचारों, भावनाओं और द्वन्दों का स्थान 'मन' है जिसमें विभिन्न प्रकार के द्वन्दों और भावों की गतिशीलता बनती रहती है। मन में उत्पन्न विभिन्न भाव मनुष्य की मानसिक शक्तियों का ह्रास और पतन का कारण बनते हैं। संकल्प-विकल्प, श्रद्धा-अश्रद्धा, धैर्य-अधैर्य, सुख-दुःख आदि विरोधी भावों का आश्रय स्थल 'मन' है जिसमें उठने वाले भावों को मनुष्य के शारीरिक क्रियाओं द्वारा सरलतापूर्वक देखकर पहचाना जा सकता है कि वे भाव उसके सकारात्मक या नकारात्मक है।

पाश्चात्य विचारक मैक्डूगल मन में उठने वाली इन्हीं प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्ति मानते हैं और उनकी मूल प्रवृत्तियाँ के संवेग मन की वृत्तियों से सम्बन्धित होते हैं। भय, क्रोध, घृणा, वात्सल्य, प्रेम और आश्चर्य इत्यादि प्रवृत्तियाँ मन से सम्बन्धित है क्योंकि ये सभी चेतन मनुष्य के लिये ही अभिप्रेत है यह स्वतः रूप से क्रियाओं का परिणाम प्रदान करती है और आन्तरिक उत्तेजना में दिखाई देने के पश्चात् व्यवहार को शान्त अवस्था प्रदान करती है।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार आत्मा चेतना है किन्तु आत्मा 'मन' नहीं है क्योंकि मन की अनुभूति किसी को नहीं होती है जबकि चेतना की अनुभूति रूप में उसके विचार, आवेग, इच्छाशक्ति, संवेदना और भावनाएँ इत्यादि सम्मिलित होती है। अत: भौतिक शरीर में अभौतिक 'मन' को स्वीकार करना उचित नहीं है।

व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों (नैसर्गिक शक्ति) के द्वारा स्वत: ही संवेग अपना कार्य करना शुरु कर देते हैं बिना उद्दीपक के वह अनुक्रिया करता है क्योंकि वह उसकी स्वाभाविक अनुक्रियाएँ होती है। जैसे-बच्चा पैदा होते ही माँ का स्तन चूसने लगता है और हिरण का बच्चा पैदा होते ही पानी में तैरने लगता है इत्यादि क्रियाएँ स्वत: ही होती है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुसार व्यवहार करता है। शरीर में स्थित तन्त्रिका-तन्त्र इस कार्य को करता है। तन्त्रिका-तन्त्र में संग्रहित होकर ये सभी व्यवहार सन्तति को आनुवंशिकता के रूप में विरासत में प्राप्त होते हैं। अत: मूल प्रवृत्तियों के कारण संवेग का उद्‌बोधन हेतु 'मन' की कोई आवश्यकता नहीं है। जैम्स तथा लैंग 'भय' नामक संवेग से सम्बद्ध उदाहरण देते हैं कि कोई व्यक्ति 'शेर' को देखकर भाग जाता है तो उसको शेर को देखकर भाग जाना स्वत: अनुक्रिया है क्योंकि वह बचने को भागता है न कि मन द्वारा डर रहा है। शेर को सामने देखकर स्नायुओं में एक स्वाभाविक अनुक्रिया उत्पन्न होती है यदि वह वहाँ से भागता नहीं है तो शेर उसको खा लेगा। यह ज्ञान वंशानुक्रम द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण होता रहता है। अत: स्वयं को शेर से बचाने हेतु भागने पर शारीरिक गति के कारण जो अनुभूति होती है वही 'भय' है।

वैदिक विचारधारा पाश्चात्य विचारधारा का खण्डन करती है कि नैसर्गिक शक्ति में उत्पादित व्यवहार 'आवेग' द्वारा उत्पन्न होता है। आवेग को उत्पन्न करने वाला अभौतिक तत्त्व होता है जो अदृश्य रूप में शरीर में उपस्थित रहकर कार्य को परिणाम के रूप में देता है। यह अभौतिक तत्त्व 'मन' है। मैक्डूगल की प्रत्येक नैसर्गिक शक्ति के साथ प्रत्येक 'संवेग' मन द्वारा उत्पन्न होता है। तभी व्यक्ति उस कार्य को करने के लिये तैयार होता है। कार्य करने के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है वह शक्ति मन की शक्ति से प्राप्त होती है।

वैदिक विचारधारा के अनुसार जो शरीर क्रियात्मक मनोवैज्ञानिक नैसर्गिक शक्ति के संचालन हेतु 'यन्त्र' की खोज करते हैं, उस यन्त्र को चलाने वाला मन (आत्मा) है। मन ही सभी क्रियाओं बन्ध एवं मोक्ष का कारण है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि-'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।' अर्थात् बन्ध एवं मोक्ष का कारण मन ही है।

अतः मन मानवीय शक्तियों का प्रेरक और मनोभावों का संवेग रूप में अवलोकन करना मन का मनोवैज्ञानिक स्वरूप स्थापित करता है।

निष्कर्ष

मूल प्रवृत्ति के संवेग भय, क्रोध, एकाकीभाव, काम और आमोद इत्यादि पूर्णतया मन द्वारा प्रेरित है। वैदिक वाङ्मय में भी मन की वृत्तियाँ यथा-श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य-अधैर्य और सुख-दुःख इत्यादि भाव विद्यमान है। जिस प्रकार उद्दीपक के बिना अनुक्रिया नहीं होती है ठीक उसी प्रकार मन के बिना ज्ञानेन्द्रियाँ द्वारा कोई भी कार्य सम्भव नहीं है और ज्ञानेन्द्रियाँ चेतन शरीर में रहती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि जो भी क्रियाएँ होती है वह चेतन के बिना होती है किन्तु वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार इन प्रतिक्रियाओं को करने वाला मन (चेतन) है यदि चेतन नहीं होता है तो जड़ वस्तुओं और पदार्थों को भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है किन्तु यह अनुभूति केवल मनुष्य को होती है। अतः मन सभी भावों एवं प्रतिक्रियाओं को करने वाला चेतन है और 'संवेग' प्रतिक्रियाओं को प्रेरणा और आवेग देने वाला है और नैसर्गिक शक्ति को प्रेरणा देने वाला मन (चेतन) है। अतः मन की मनोवैज्ञानिकता स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि नैसर्गिक शक्ति (मूल प्रवृत्ति) को शक्ति प्रदान करने वाला मन (चेतन) ही है।

सन्दर्भ-

1. बृहदारण्यकोपनिषद्, 5.6.1
2. मनस्तु ज्ञानेन्द्रियः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति। वेदान्तसार., खण्ड, 20
3. मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। वही, खण्ड, 24
4. मनो नाम सङ्कल्प विकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। वही, खण्ड, 19
5. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। शुक्लयजुर्वेद, 34.2
6. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। वही, 34.1
7. यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। वही, 34.3
8. हत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्। वही, 34.6
9. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। वही, 34.4
10. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ. 90
11. अनन्तं वै मन। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव। बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.1.9
12. महोपनिषद्, 4.105
13. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.1.6

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) मूल-ग्रन्थ

1. उपनिषद्वाक्यमहाकोशः, संपा. श्री गजानन शम्भु साधले, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1996.
2. शुक्ल यजुर्वेद संहिता, रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1991.
3. वेदान्तसार, सदानन्द, संपा. सन्तनारायण श्रीवास्तव, सुदर्शन प्रकाशन, गाजियाबाद, 2005.

(ख) सहायक-ग्रन्थ

1. वैदिक परिशीलन, वीणापाणि पाटनी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2004.
2. वैदिक वाङ्मय : एक झलक, किरीट जोशी, स्टैण्डर्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003.
3. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, 2011.
4. मनोविज्ञान, डॉ. यदुनाथ सिन्हा, प्रकाशक लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, चतुर्थ संस्करण, 1960.
5. मनोविज्ञान, बी.एन. कौल, प्रकाशक श्री शोभन लाल जैन, एस. नगीन एण्ड कम्पनी, जालन्धर, चतुर्थ संस्करण, 1974.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (202-211) January-June 2018 ISSN 2277-4351

श्रीमद्भगवद्गीता में आनन्द का स्वरूप

-उदय प्रकाश वर्मा[1] अरुण कुमार[2]

आज का मनुष्य अपने आपको अपने पूर्वजों से अधिक श्रेष्ठ मानता है। आज हम अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों पर गर्व करते हैं और यह मानते हैं कि हमने अपने पूर्वकालीन पूर्वजों से अधिक उन्नति और विकास किया है मनुष्य यह समझता है कि भौतिक साधनों से उसको खुशी/आनंद प्राप्त होगी, परन्तु सच्चाई यह है कि जिधर भी दृष्टि डालकर देखिए प्रश्नों, परेशानियों, समस्याओं, दुःखों के ही दृश्य दिखाई देते हैं। कोई भी इस भागदौड़ भरे जीवन से संतुष्ट दिखाई नहीं देता है। आज की इस सर्वभक्षी होड़ (आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा) के कारण जीवन के मूल उद्देश्य मानव के प्रति मानव का स्नेह, अनुशासन, सेवा, सहयोग, सहायता तथा बंधुभाव का सर्वथा अभाव होता जा रहा है।[3] वह आनंद प्राप्त करना चाहता है परन्तु दुर्भाग्यवश वह आनंद को भौतिक साधनों में ढूँढ़ रहा है। आनन्द को दुनिया की सबसे अधिक अनसुलझी गुत्थी कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। इसकी अवधारणा किसी के मन में स्पष्ट नहीं है। आनंद वस्तुओं से नहीं मिलता है क्योंकि यह मन की स्थिति है।

मनोविज्ञान की शाखा सकारात्मक मनोविज्ञान व्यक्ति के जीवन को अधिक खुशहाल बनाने के लिए कार्य करती है। इसका मूल कार्य आत्म ऊर्जा और आत्मविश्वास को पुनर्जीवित करना है। भगवद्गीता सकारात्मक मनोविज्ञान के लिए दिशानिर्देशों का कार्य कर सकती है।[4] इसमें भगवान श्रीकृष्ण ने बताया है कि व्यक्ति कैसे आनंद को प्राप्त कर सकता है।

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्।

(महाभारत, शांति० 139/61)

---

1. शोधछात्र, मनोविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड), email id- udayindia2016@gmail.com
2. असिस्टैंट प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड),
3. श्रीराम शर्मा आचार्य, व्यक्तित्व के परिष्कार में श्रद्धा ही समर्थ, पेज-18/19, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा
4. Adhikari, Harasankar(2013), The Bhagwad Gita: A Mirror of Positive Psychology, Indian Journal of Positive Psychology, 4(1), 182-184

दुःख से सभी ऊब जाते हैं और सुख की इच्छा सभी करते हैं। (लोकमान्य तिलक)[1]

भारतीय संतों ने सामान्य चेतना से लेकर आध्यात्मिक आयाम तक पहुँचने के लिए जन्म और मृत्यु, खुशी और दर्द, अच्छे और बुरे जैसे जीवन के सभी दोहरावों से परे मनुष्य को ले जाने का प्रयास किया और आनंद के बारे में बताया जोकि खुशी और कल्याण की मूल स्थिति है। श्री अरविंद के अनुसार-आनंद, सौन्दर्य, प्रेम, सामंजस्य एवं शान्ति अनेक रुपों में प्रकट होता है। सुख-दुःख सापेक्ष अनुभव हैं किन्तु आनंद निरपेक्ष और निर्विरोध है। अतिमानस स्तर पर आनन्द की अबाधित अनुभूति होती है। (चंद, त्रिलोक)[2] आनन्द अर्थात् सनातन परमोच्च दिव्यानन्द अपने स्वरुप में उच्चतम मानवीय हर्ष या सुख से अत्यंत भिन्न एवं उच्चतर है। यह आनंद ही आत्मा का सारभूत और मूल स्वभाव है।[3]

हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता में भी आनंद का वर्णन किया गया है। इसे गीता के नाम से भी जानते हैं तथा इसके लेखक कृष्ण द्वैपायन (वेद व्यास) को माना जाता है[4]। यह भारत के महान् महाकाव्य 'महाभारत' के भीष्मपर्व का हिस्सा है जोकि अर्जुन और श्रीकृष्ण के बीच एक संवाद है।[5] मुक्ति की अवधारणा के साथ ही निर्वाण की अवधारणा गीता के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में से एक है। निर्वाण का पर्याय विमुक्ति, मोक्ष, पूर्ण स्वतंत्रता और संसार (मृत्यु और पुनर्जन्म का चक्र) से मुक्त होने के साथ उच्चतम खुशी से है[6]। निर्वाण की स्थिति में आनंद को माना गया है।

गीता में सुखों के बारे में बताया गया है-

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।[7]

---

1. तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पेज 62, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 110002
2. चंद, त्रिलोक, पातंजलयोग और श्रीअरविंद योग, पेज-129, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,
3. श्रीअरविंद, योगसमन्वय, पेज 505, श्रीअरविंद आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी-605002
4. Fowler, J. D.(2012). The Bhagavad Gita: A Text and Commentary for Students. Eastbourne: Sussex Academy Press.
5. Easwaran, Eknath(2007). The Bhagavad Gita (Classics of Indian Spirituality). 2nd Edition, Tomales, CA: Nilgiri Press.
6. Balslev, A. N.(2014). On World Religions: Diversity, Not Dissension. SAGE publications Pvt. Ltd.
7. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 18, श्लोक 36

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।[1]

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।[2]

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।[3]

तीन प्रकार के सुख इस प्रकार हैं- जिस सुख में साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है-जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकाल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है (इसलिए वह परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्विक कहा गया है। जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहले-भोगकाल में अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है (इसलिए वह सुख राजस कहा गया है। जो सुख भोगकाल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है-वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।[4]

श्रेष्ठ कर्म का तो सात्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है (राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोखधिगच्छति।।[5]

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तखमृतमश्नुते।।[6]

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानंदघनस्वरूप मुझ परमात्मा को तत्व से जानता

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 18, श्लोक 37
2. वही, अध्याय 18, श्लोक 38
3. वही, अध्याय 18, श्लोक 39
4. वही, अध्याय 14, श्लोक 16
5. वही, अध्याय 14, श्लोक 19
6. वही, अध्याय 14, श्लोक 20

है, उस समय वह मेरे स्वरुप को प्राप्त होता है। यह पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारणरुप इन तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दु:खों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है।

आनंद को प्राप्त करने के लिए इंद्रियों का अपने वश में होना, सम्पूर्ण कामनाओं से रहित तथा राग-द्वेष से रहित होना आवश्यक बताया गया है-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।[1]

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।[2]

अपने आधीन किये हुए अन्त:करण वाला साधक अपने वश में की हुई राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्त:करण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। अन्त:करण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दु:खों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[3]

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।[4]

जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है। सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरुप परमानन्द की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि के समान है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।[5]

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 64
2. वही, अध्याय 2, श्लोक 65
3. वही, अध्याय 2, श्लोक 68
4. वही, अध्याय 2, श्लोक 69
5. वही, अध्याय 2, श्लोक 70

में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥[1]

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यमन्तकालेखपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥[2]

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित, अहंकार रहित और स्पृहा रहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है। यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।

आसक्ति रहित व्यक्ति ही आनंद प्राप्त कर सकता है तथा राग-द्वेष को आनंद प्राप्ति में बाधक बताया गया है-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥[3]

कर्मणैव हि सङसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥[4]

इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भलीभॉङति करता रह क्योङकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिए तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने को ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।[5]

इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 71
2. वही, अध्याय 2, श्लोक 72
3 वही, अध्याय 3, श्लोक 19
4. वही, अध्याय 3, श्लोक 20
5. वही, अध्याय 3, श्लोक 34

छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।[1]

संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दु:खादि द्वन्द्वरुप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं।

ज्ञेयः स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।[2]

जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है (क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गम् त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।[3]

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।[4]

अन्त:करण जिसके वश में है ऐसा सांख्ययोग का आचरण करने पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारों वाले शरीररुप घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरुप में स्थित रहता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।[5]

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्त:करण वाला साधक आत्मा में स्थित जो ध्यानजनित सात्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है (तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के ध्यान रुप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 7, श्लोक 27
2. वही, अध्याय 5, श्लोक 3
3. वही, अध्याय 5, श्लोक 10
4. वही, अध्याय 5, श्लोक 13
5. वही, अध्याय 5, श्लोक 21

ज्ञान को भी आनंद प्राप्ति का साधन बताया गया है-

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।[1]

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के-तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरुप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः।।[2]

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकार रहित है, जिसकी इन्द्रियॉ भलीभॉति जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसा कहा जाता है।

भक्ति को भी आनंद प्राप्ति का साधन बताया गया है-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।[3]

वश में किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर मुझ परमेश्वर के स्वरुप में लगाता हुआ मुझमें रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारुप शान्ति को प्राप्त होता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।[4]

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।[5]

जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानंदघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रुप अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 4, श्लोक 39
2. वही, अध्याय 6, श्लोक 8
3. वही, अध्याय 6, श्लोक 15
4. वही, अध्याय 6, श्लोक 27
5. वही, अध्याय 6, श्लोक 28

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।[1]

उस पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही। क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धार के लिए अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।[2]

परम सिद्धि को प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखों के घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते।

ईश्वर को ही आनंद बताया गया है–

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोखप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।[3]

हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी आदिकर्ता और सबसे बडे आप के लिए वे कैसे नमस्कार न करें(क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जे सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्डानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।[4]

मर्म को न जानकर किये हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है(ज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरुप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है(क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।[5]

जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादि वाला परब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 6, श्लोक 40
2. वही, अध्याय 8, श्लोक 15
3. वही, अध्याय 11, श्लोक 37
4. वही, अध्याय 12, श्लोक 12
5. वही, अध्याय 13, श्लोक 12

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।[1]

जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।[2]

उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्य धर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय मैं हूँ।

आनंद को प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लक्षण बताये गए हैं-

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।[3]

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।[4]

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।[5]

भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता, मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण,

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 13, श्लोक 30
2. वही, अध्याय 14, श्लोक 27
3. वही, अध्याय 16, श्लोक 1
4. वही, अध्याय 16, श्लोक 2
5. वही, अध्याय 16, श्लोक 3
6. सिंह, अरुण कुमार(2012), व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, पेज 355, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
7. Diener, E. and Rober-Biswas Diener (2008), Happiness: Unlocking the mysteries of psychological wealth. Blackwell: Oxford.

अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्त:करण की उपरति अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव। तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रु भाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव–ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

निष्कर्ष–

श्रीमद्भगवद्गीता में मानव मन का गहराई से अध्ययन किया गया है। यह आनंद को प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिकता की आवश्यकता को दर्शाती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एब्राहम मैसलो ने भी मानव अभिप्रेरणा के विभिन्न स्तरों पर बात की है जोकि व्यवहार को प्रभावित करती है। मैसलो ने अपने व्यक्तित्व एवं अभिप्रेरण के पदानुक्रमिक मॉडल में आत्मसिद्ध व्यक्ति के जो गुण बताए हैं वे हैं- आत्मसिद्ध व्यक्ति जीवन यात्रा का आनंद लेता है, कार्यों के परिणाम की चिंता नहीं करते हैं। वह सभी व्यक्तियों के प्रति समान दृष्टिकोण रखता है, उसे स्वयं व दूसरे में कोई अन्तर नहीं दिखता है। अनासक्त भाव से किसी कार्य को करते हैं। गीता में जिस व्यक्ति को आनंद प्राप्त करने योग्य बताया गया है वही मैसलो के मॉडल में आत्मसिद्ध व्यक्ति के लक्षण हैं। इसी प्रकार, डायनर ने भी अपनी पुस्तक "Happiness: Unlocking the Mysteries of Psychological Wealth" में कहा है कि आनन्द धन से बढ़कर है जोकि आपके दृष्टिकोण, गतिविधियों एवं लक्ष्यों से प्रभावित होता है। यह आपके संबंधों, कार्यों एवं स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होता है। आनंद सिर्फ खुश होना नहीं है, बल्कि यह एक समृद्ध, विविध एवं सार्थक मानव जीवन के बारे में है।

अंतत: यह कहा जा सकता है कि आनंद हर व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य है। गीता के अनुसार आनंद का स्वरूप अधिक विस्तृत है। यह हमारी इंद्रियों तक ही सीमित नहीं है वरन् इसका संबंध हमारे आत्मतत्व से है जिसे जाने बिना हम आनंद को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। गीता में आनन्द को ही ब्रह्म माना गया है और उसको प्राप्त करने के साधनों के रुप में आसक्ति को छोड़ने पर अधिक बल डाला गया है। भक्ति, ज्ञान और कर्म के द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (212-216) January-June 2018 ISSN 2277-4351

यज्ञ का मनोवैज्ञानिक महत्त्व

(यज्ञ द्वारा उन्माद चिकित्सा)

पवन कुमार[1]

नवीन[2]

यज्ञ शब्द देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थद्योतक यज् धातु से नङ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। जिसके द्वारा ईश्वर की आराधना, विद्वानों का सत्कार, संगतिकरण अर्थात् मेल और हवि का दान किया जाता है। यज्ञ कहलाता है। शतपथ ब्राह्मणकार ने यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा दी है। जिसके करने से हम सभी कामनाओं को पूर्ण कर सकते हैं। यज्ञ का विषय केवल आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त कर्मकाण्ड ही नहीं है अपितु यज्ञ का अपना वैज्ञानिक महत्व भी है। जिसके द्वारा हम विभिन्न प्रकार की शारीरिक व्याधियों या मनोविकारों को समूल नष्ट कर सकते हैं। जिस प्रकार बांध के द्वारा जल के प्रवाह को रोक लिया जाता है उसी प्रकार यज्ञाग्नि के द्वारा भी रोगों का उपचार किया जा सकता है।

आज के समय में मनुष्य शारीरिक व्याधियों से तो पीडित है साथ ही मानसिक व्याधियों से भी बहुत ज्यादा त्रस्त है जैसे तनाव, उत्साह-विषाद अति तीव्र उत्साह, सरल विषाद, तीव्र विषाद, उन्माद जैसी बीमारियों ने मानव को जकड़ा हुआ है, जिससे व्यक्ति रोगी होने पर मानसिक रूप से कमजोर होता है और मानसिक कमजोरी के कारण मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। प्रकृत शोध पत्र में हम मुख्य रूप से उन्माद को यज्ञ के द्वारा किस प्रकार रोका जा सकता है। उन्माद की अवस्था वैसी अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति की मनोदशा एवं आत्म-सम्मान बढ़ा होता है, विचारों की उड़ान की ऊँचाई होती है, मनोपेशीय क्रियायें अधिक होती है, बातूनीयता (Talkative) अधिक होती है, तथा उसमें सुखाभास (Euphorea) का भाव भी होता है। इसमें प्रायः रोगी को मानसिक अस्पताल में उपचार के लिए ले जाना आवश्यक हो जाता है। या इसका निवारण यज्ञ के द्वारा भी किया जा सकता है।

उन्माद (Mania) शब्द मूल रूप से ग्रीक भाषा से लिखा गया है जिसका अर्थ है "क्रोध करना" या क्रोधित होना। Dr. Barrios के अनुसार जब लोग उन्माद युक्त होते हैं, तो आमतौर पर अधिक ऊर्जा होती है। वे अक्सर बहुत मजबूत भावनाएँ रखते हैं, और उनकी मनोदशा बहुत जल्दी बदल सकते हैं।

उन्माद एक लक्षण है न कि बीमारी, कई अलग-अलग चीजें उन्माद का कारण बन सकती है। इन चीजों में अवैध ड्रग्स और मस्तिष्क ट्यूमर शामिल है। हालांकि, ज्यादातर उन्माद द्विध्रुवीय विकार वाले लोगों में होता है। यही उन्माद की अवधि का कारण बनता है जो अवसाद की अवधि के साथ समाप्त हो जाता है।

महर्षि चरक ने बुद्धिविभ्रम, मनोविभ्रम अथवा मन का अत्यन्त चंचल होना, दृष्टि का व्याकुल होना अधीरता, असम्बद्ध बोलना, हृदय की शून्यता को उन्माद का लक्षण माना है।

प्राचीन काल से वर्तमान समय तक चिकित्सा प्रणाली कहीं से कहीं जा चुकी है। चिकित्सा प्रणालियों के क्रमिक विकास में वेद के अन्तर्गत ही कई प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख मिलता है। जब सब प्रकार के उपचार और वैघ रोगी, रोगी को स्वस्थ करने में असमर्थ हो जाते थे। तब रोगी को यज्ञादि के माध्यम से स्वस्थ किया जाता था।

यज्ञ में प्रयुक्त विशेष वृक्ष की समिधा (पीपल, आम, गूलर, जामुन) और रोगानुकूल औषधि मिलकर वाष्प के रूप में सांस द्वारा शरीर की रक्त प्रणाली में पहुँचते ही तत्काल प्रभाव दिखाती है इसलिए वैदिक यज्ञ चिकित्सा का अपना विधान है, विधानानुसार किए गए यज्ञ का परिणाम भी अवश्य ही फलदायी होता है, अतः उन्माद रोग निवारण के लिए भी उपयुक्त विधान किया गया है, निश्चित ही उन्माद से मुक्ति प्रदान कर सकता है। अथर्ववेद में यज्ञाग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि उन्मत्त बंधा हुआ पुरुष, सुनियन्त्रित किया हुआ असम्बद्ध प्रलाप कर रहा है, यह पुरुष उन्माद से मुक्त हो। उन्माद मुक्त होने पर भी वह हविर्भाग प्रदान करता रहे जिससे भविष्य में भी कभी इसे उन्माद न हो।

अथर्ववेद में पुनः प्रार्थना की गई है कि हे मनुष्य यदि तेरा मन उन्माद-मुक्त हो गया है तो यज्ञाग्नि तेरे मन को पूर्णतः शान्त कर दे। ऐसी यज्ञ चिकित्सा करता हूँ जिससे कि मन की उन्मादता का निवारण हो जाए।

इन मन्त्रों के माध्यम से स्पष्ट होता है कि यदि कोई मनुष्य उन्मत्त हो जाए और उसकी अवस्था ऐसी हो जाए कि वह वृथा अलाप करता रहे, यज्ञ चिकित्सा के माध्यम से निवारण सम्भव है।

उन्माद या मानसिक रोगों के निवारण के लिए यज्ञ हेतु समिधा चयन महत्वपूर्ण है जिससे कि उद्धिग्न-उत्तेजित मन-मस्तिष्क को शीतलता प्राप्त हो उसके लिए सुगन्धित वृक्ष अर्थात् वट (Ficus Moraceae), पीपल (Ficus Religosa), गूलर (Ficus Racemosa), पाकर (Mulberry Family), बेल (Aegle Mermelos), चन्दन

(Santalum album), देवदार (Cedrus Deodara), खैर (Senegalia Cetechu), शमी (Prosopis Cineraria), पलाश (Butea Monosperma) आदि का प्रयोग करना चाहिए, जिससे ज्ञोपचार द्वारा शीघ्र निवारण हो सके। शैत्युगुणों रहित समिधाओं का प्रयोग मानसिक रोगों के उपचार में सर्वथा वर्जित है।

यज्ञोपचार में प्रत्येक रोग के लिए भिन्न-भिन्न समिधाओं के साथ भिन्न प्रकार की सामग्रियों का विधान है, जिससे कि पीडित को शीघ्र ही लाभ प्राप्त हो सके। उसी प्रकार उन्माद रोग के निवारण हेतु भी या सामग्री में सात्विक सुगन्धित, बल्य एवं मेध्य रसायनयुक्त वनौषधियाँ मिलाई जाती है। क्योंकि यह रोग नाना विध होता है इसलिए इसमें रक्षोघ्न एवं भूतघ्न औषधियाँ की आवश्यक होती है, इन औषधयुक्त आहुतियों को यज्ञाग्नि में प्रदान करने पर यज्ञाग्नि से निकलने वाली धूम्र ऊर्जा नासिका छिद्रों एवं रोमकूपों के माध्यम से शरीर के अन्दर पहुँचकर रोगी के मन मस्तिष्क के स्नायुमण्डल को शीतलता प्रदान कर उसे चैतन्यता प्रदान करती है। इससे मस्तिष्कीय अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ स्वास्थ्यप्रद, सुखद् एवं मधुर रसायनों का स्राव करने लगती हे, जिसके प्रभाव से व्यक्ति स्वस्थ होने लगता है और धीरे-धीरे सामान्य अवस्था में आ जाता है।

उन्माद रोग हेतु सामग्री- (1) आक-मूल (Calotropis Gigantea), (2) अश्वगंधा (Withenia Somnifera), (3) इलायची (Elottaria Cardamomum), (4) कूठ (Saussures Costus), (5) अजवायन (Trachyspermum Ammi), (6) अपामार्ग (Achyranthus), (7) अजमोद (Apium Graveolens), (8) अतिबला (Sida Rhombifolia), (9) अपराजिता (Clitoria Ternatea), (10) अनंतमूल (Hemidesmus Indicus), (11) इन्द्रजौ (Holarrhena Pubscens), (12) इन्द्रायण (Citrullus Colocynthis), (13) कायपफल (Myristica Frangrans), (14) केसर (Crocus Sativus), (15) कुचला (Strychnos Nuxvomica), (16) कुटकी (Pichrorhiza Kurroa), (17) कपास बीज (Gossypium), (18) काली मिर्च (Piper Nigrum), (19) काला जीरा (Elwendia Persica), (20) सफेद जीरा (Cuminum Cyminum), (21) करेज के बीज (Milletia Pinnata), (22) कुश (Cannabis Indica), (23) गोरखमुण्डी (Saphaeranthus Indicus), (24) गुग्गुल (Commiphora Wightii), (25) जलकुम्भी (Eichhornia), (26) चीड़ (Pinus), (27) तालीसपत्र (Taxaceac), (28) दूर्वा (Cynodon dactylon), (29) नीमपत्र (Melia azadirachta), (30) निशोध (Operculina Turpethum), (31) मिलावा (Semecarpus Anacardium), (32) मैनफल (Randia), (33) शतावर (Asparagus officianlis), (34) बच (Acorus Calamus), (35) सहिजने के बीज (Moringa

Olifera), (36) हींग (Ferula Assa-Fotida), (37) आंवला (Phyllanthus emblica), (38) दारुहल्दी (Berberis), (39) खस (Chrysopogon Zizanioides), (40) चन्दन (Santalum Album), (41) देवदार (Cedrus Deodara), (42) जटामांसी (Nerdostachys), (43) नागकेसर (Mesua Ferrea), (44) तिल (Sessamum Indicum), (45) तुलसी (Ocimum Tenuiflorum), (46) पेठा (Benincasa Hispida), (47) पिप्पली (Ficus Religiosa), (48) मुलहटी (Glycyrrhiza Glabra), (49) बहेडा (Terminalia Bellirica), (50) लौंग (Piper Longum), (51) सर्पगंधा (Rauvolfia Serpantina), (52) सुगंध काकिला (Cinnamomum Cecidodaphne), (53) सौंठ (Foeniculum Velgare), (54) हरड़ (Terminalia Chebula), (55) कपूर (Cinnamomum Camphora), (56) चित्रक (Plumbago Zylanica), (57) गिलोय (Tinospora Cordifolia), (58) तगर (Veleriana Wallichi), (59) दालचीनी (Cinnamomum Verum), (60) नागरमोथा (Cyparus Scariosus), (61) प्रियंगु (Aglia Elaeagnoidea), (62) बला (Sida Cordifolia), (63) पाठा (Cissampelos Pareira Linn Pannel), (64) मण्डूकपर्णी (Centella Asiatica), (65) हल्दी (Curcuma Longa), (66) लोघ्र (Symplocos), (67) शंखपुष्पी (Convolvulus Plurioclis), (68) सौंफ (Toeniculum Vulgare), (69) सरसों (Brassica Nigra), (70) सोमलता (Elphedra Gerardiana Family), (71) त्रायमाण (Gentiana Kurro Family)

उक्त सामग्री को सामान मात्रा में कूटकर उनका दरदरा पाउडर बनाकर यज्ञाग्नि में आहुति प्रदान करने से उन्माद रोग में लाभ प्राप्त होता है।

यज्ञ चिकित्सा की श्रेष्ठता यही है कि इसमें रोगी को औषधि खाने की आवश्यकता नहीं होती अपितु इसके द्वारा शरीर में औषधि एलोपैथी के तीव्र प्रभाव से अधिक शीघ्र शरीर पर अपना प्रभाव डाल देती है। यज्ञाग्नि के इस महान गुणकारी परिणामस्वरूप ही हमारे पूर्वजों ने अग्नि को देवों का मुख स्वीकार किया है। मानसिक रोगो में जो प्रभाव यज्ञ चिकित्सा के माध्यम से हो सकता है, वह किसी अन्य प)ति से सम्भव नहीं है। वायु भूत औषधियों के शरीर में प्रवेश करने का मात्र नासिका मार्ग है। नासिका से सर्वप्रथम सांस फेफडों में पहुँचती है, पर उसका रास्ता मस्तिषक से होकर ही गुजरता है। इसलिए उसका प्रभाव पहले मस्तिष्क पर बाद में फेफडों पर और उसके बाद शरीर के समस्त छोटे-छोटे घटकों तक पहुँचता है। अत: जिससे व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से ऊर्जा का अनुभव करता है।

एलोपैथी की सभी कीटाणु नाशक औषधियों के सम्बन्ध में सभी डाक्टर एकमत हैं कि वे शरीर को हानि पहुँचाए बिना कीटाणुओं का नाश नहीं कर सकती

है। जबकि यज्ञचिकित्सा के द्वारा ऐसे सूक्ष्मतिसूक्ष्म कणों का उत्सर्जन होता है जो शरीर को हानि पहुँचाए बिना सभी रोगों को समूल नष्ट कर सकता है। वैदिक यज्ञ व यज्ञ चिकित्सा का अपना शास्त्रीय विधान है विधानानुसार यज्ञ के द्वारा हम निस्संदेह उन्माद से मुक्त हो सकते हैं।

सन्दर्भ-

1. शोध छात्र, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
2. शोध छात्र, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
3. यज्ञ देवपूजा संगतिकरणदानेषु-भ्वादिगण/धातुपाठ
4. शतपथब्राह्मण-1/7/1/5
5. स्वर्गकामो यजेत, कठोपनिषद्-1/1/17
6. यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।
   एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये।। अथर्व० 6/85/3
7. आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, डॉ. अरुण कुमार सिंह, पृष्ठ 321, 6जी Edition.
8. Mania, Henry George Liddell, Robert Scott, A Greek English Lexicon at persues
9. History of Psychiatry 15 (57 pt. 1), 105-124 Barrior GE.
10. Diagnostic and statistical manual of mental disorders : DSM-5 Washington, DC, American Psychiatric Association, 2013
11. धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पयाकुला पृष्ठिधीरता च।
    अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यंसामान्यमुन्मादगदस्य लिंगम्।। च.सं. 9/5
12. इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
    अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदाऽनुन्मदितोऽसति।। अथर्ववेद-6/111/1
13. अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
    कृणोमि विद्वान् भेषजं यथाऽनुन्मदितोऽससि।। अथर्ववेद-6/111/2
14. यज्ञचिकित्सा, ब्रह्मवर्चस्, हरिद्वार पृष्ठ 222
15. यज्ञ चिकित्सा, ब्रह्मवर्चस्, पृष्ठ 195
16. अग्निर्वै देवानां मुखम्-शतपथब्राह्मण-3/09/01

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (217-226) January-June 2018 ISSN 2277-4351

सौन्दर्यशास्त्र की भारतीय अवधारणा: एक मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि

-प्रो० ज्ञान चन्द रावल

हिन्दी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार - 249404

आर्य संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण साहित्य वैदिक वाङ्मय है और इस वाङ्मय का सबसे सुशोभित सुमेरु है-ऋग्वेद, यह मानव प्रतिमान और चेतना का महान स्मारक है। वैदिक साहित्य के विद्वान् डॉ. फतेह सिंह का कथन है कि 'ऋग्वेद की ऋचाओं में परामनोविज्ञान और मनोविज्ञान सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट विचार उपलब्ध हैं। सौन्दर्य इन दोनों का विषय है' (भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, दो शब्द) आदिकाल से साहित्य और भाषा मनुष्य की संवेदना को उसकी चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित करने का एक अनुभूत साधन रही है। भारतीय मनीषा ने मनुष्य की संवेदना के विस्तार को मात्र लोकरंजन की दृष्टि से विवेचित नहीं किया है अपितु वह संवेदना के विविध आयामों के अंतर्निहित प्रकल्पों उसमें मनुष्य के आत्मिक उत्थान के तत्वों को प्रमुखता से दृष्टिगोचर करती है। भारतीय मनोविज्ञान मन को मात्र एन्द्रिक उक्ति के रूप में परिभाषित नहीं करता है बल्कि यह मन को व्यापक सन्दर्भों में स्थापित करता है। भाषा और साहित्य के परिप्रेक्ष्य में मन मात्र अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति का केंद्र नही बल्कि यह चेतना की अनुभूतियों को संरक्षित करके उन्हें मूल्यों के रूप में विकसित करने के एक समृद्ध तंत्र के रूप में कार्य करता है।

बाह्य स्वरूप के अनुसार सौन्दर्य की अवधारणा 'बोध' से जुड़ी हुई प्रतीत होती है परन्तु 'बोध' के लिए जिस अंतर्दृष्टि की आवश्यकता होती है वह एक मनो-दार्शनिक अवस्था की स्वाभाविक मांग करती है। मन का कोई आकार न होते हुए भी मन का विस्तार अपरिमेय है इसलिए मन की भूमिका सौन्दर्यबोध की दृष्टि से अति व्यापक हो जाती है। भारतीय मनीषा के अनेक आचार्यों ने सौन्दर्यशास्त्र पर अलग-अलग दृष्टिकोणों से टीकाएँ की हैं परन्तु सौन्दर्यशास्त्र की भारतीय अवधारणा का एक अनिवार्य तत्व मनोविज्ञान से भी जुड़ा हुआ है।

मनुष्य की दैहिक और मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कला के विभिन्न माध्यमों में होती है और इन अभिव्यक्तियों के माध्यम से मनुष्य की चेतना और संवेदना का संयुक्त युग्म उपस्थित होता है जिसके माध्यम से अनुभूतियों के विचित्र और वृहद संसार को प्रभावशाली ढंग से समझा जा सकता है। परिवेशीय प्रभाव और उनकी सौन्दर्यबोध के निर्धारण में तयशुदा भूमिका की विवेचना जब मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से की जाती है तब वस्तुतः भारतीयता की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र को अवलोकित करने का एक सुअवसर प्राप्त होता है।

भरत मुनि के रस सिद्धांत में सूक्ष्म मनोविज्ञान विद्यमान है। शब्द-रूप-रस-स्पर्श-गन्ध के माध्यम से ही मनुष्य किसी द्रव्य की सुन्दरता का आकलन करता है।भरत के रस सिद्धांत में इन सभी इन्द्रिय बोधों की समग्र चेतना व्याप्त है। भरत मुनि सौन्दर्य को व्यक्ति सापेक्ष मानते है। किसी व्यक्ति को कोई वस्तु किसी समय में बहुत सुन्दर लग सकती है, दूसरे को वही वस्तु सामान्य और तीसरे को वही वस्तु उसी समय में असुन्दर प्रतीत हो सकती है। इसके मूल में व्यक्ति की रुचि, मनोदशा या मनोसंरचना ही प्रमुख कारण है। इसलिए सौन्दर्यबोध में मनोरंचना की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

भरत मुनि मूलतः रस सिद्धांत के आचार्य हैं मगर उनकी दृष्टि में सामाजिक परिवेश एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है इसलिए वे सौन्दर्य को स्थिति सापेक्ष भी मानतें है। सामाजिक मानसिक परिस्थितियों के आधार पर भी सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में परिवर्तन देखा जा सकता है। इन सब परिस्थितियों में मन ही कारण है। क्योंकि सौन्दर्य की न्यूनता अधिकता या उदासीनता को मन ही तय करता है। मन में व्याप्त स्थायी भाव आदि ही तो रसानुभूति के प्रमुख कारक है। इस प्रकार से मनःस्थिति का मूल्यांकन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

सौन्दर्यशास्त्र को भारतीय मनीषा की दृष्टि से समझने के लिए मनोविज्ञान के महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों यथा प्रत्यक्षण, संवेदन, स्मृति आदि के माध्यम से विवेचित करने से स्पष्टतः ज्ञात होता है मन के त्रिस्तरों (चेतन, अर्द्ध-चेतन, अवचेतन) के माध्यम से एक परिष्कृत अनुभूति और अभिव्यक्ति का निर्माण, संयोजन एवं सम्प्रेषण संभव हो पाता है।

सौन्दर्यशास्त्र की भारतीय अवधारणा को समझने के विभिन्न आचार्यों की दृष्टि का विवेचन करना भी समीचीन उद्यम होगा और निश्चित रूप से उनकी स्थापनाओं में भी मनोविज्ञान के तत्व विद्यमान हैं। जिसका विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः सौन्दर्य शास्त्र का मूल उद्यम 'सौन्दर्यबोध' का केन्द्रीय तत्व मन ही है। वह इस बोध को एक अंतर्दृष्टि में रूपांतरित करता है और मनुष्य की अनुभूति रस से

लेकर विवेक तक की यात्रा पूर्ण करती है। मनोवैज्ञानिक तत्वों के कारण अनुभूति प्रज्ञासम्पन्न होकर चेतना का मार्ग प्रशस्त करती है और एक स्वस्थ सौन्दर्यबोध वाले समाज का निर्माण करती है।

साहित्य और सौन्दर्य का अटूट सम्बन्ध है। सौन्दर्य ही काव्य को मंगलमय बनाता है। विस्तृत सौन्दर्य को संगीतमय अर्थात् छन्द के बन्धन में जकड़ लेना ही काव्य है। काव्य में सौन्दर्य किस रूप में व्याप्त रहता है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो कह सकते हैं कि प्रारम्भिक युग से ही मनुष्य की सौन्दर्योपासिका प्रवृत्ति अभिव्यक्ति में भी सुन्दरता का समावेश करने के लिए व्याकुल हो उठी होगी। उसकी इच्छा हुई कि जो कुछ वह लोगों के सम्मुख रखे, अभिव्यक्त करे, वह आकर्षक और प्रभावशाली हो, रमणीय हो और सुन्दर हो। यहीं से अभिव्यक्ति के बाह्य शरीर का जन्म हुआ। शब्दों को नग्न रूप में न रखकर, उसें वस्त्राभूषणों से सजाकर, अलंकृत कर लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। इसी सिद्धि के लिए मानव का अन्त:करण, उसकी कल-कोमल कल्पनाएं, उसकी भावुकता, उसकी कामनाएं, सब गतिशील हो उठीं। प्रभावोत्पादकता और रमणीयता की अभिवृद्धि के विचार से मनुष्य साहित्यिक अभिव्यक्ति में संगीतत्व का सम्मिश्रण कर उसे "कविता" नाम से सम्बोधित करने लगा। काव्य में रस की अनुभूति मन के विभिन्न प्रकल्पों को तृप्ति प्रदान करती है। चेतना के पूर्व संकलित अनुभवों और अनुभूतियों को संरक्षित करने की मनोवैज्ञानिक कामना काव्य में सौन्दर्य प्रतिमान को ग्राह्य बनाती है।

कलाओं के शृंगार से सजी कविता-कामनी का प्रथम अवतरण अलौकिक आनन्द और उल्लास का अद्‌भुत क्षण रहा होगा। यह अलौकिक विभूति मानव-मानस की कल्पना, भावना, अनुभूति, चेतना और रमणीयता का लोकोत्तर प्रतिनिधित्व करती हुई शब्द और अर्थ के सहयोग से लोक-विचित्र सृष्टि का सर्जन करके मानव जगत् का जो संस्करण और परिष्करण कर पाई, वह मानव को मानव बनाने में बहुत कुछ समर्थ हो सकी है। अनेक धर्म-सूत्रों और स्मृतियों द्वारा मानव-मानस का जो उपकार नहीं हो सका वह साहित्य द्वारा बड़ी सरलता तथा मोहकता से सम्पन्न हुआ है। इसीलिए काव्य को भारतीय साहित्याचार्यो ने कान्तासम्मित उपदेश कहा है। "सद्य: परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे"[1] इसी दृष्टि से साहित्य और काव्य के महत्व का प्रतिपादन करते हुए राजशेखर ने "सकलविद्यास्थानैकायतनं पंचदशकाव्यं विद्यास्थानम् इति यायावरीय:" "तथा पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीय:"[2] अस्तु कहने का

---

1. मम्मट, काव्य प्रकाश
2. राजशेखर, काव्यमीमांसा

तात्पर्य यही है कि परमानन्द दायक साहित्य अपनी रमणीयता से ही मनुष्य हृदय को मुग्ध करके उसका संस्कार और परिष्कार करता है। पर साहित्य की इस रमणीयता का सर्जन कवि करता है, काव्य जगत का निर्माता कवि ही होता है। और उसके उपादान है शब्द और अर्थ। यद्यपि कविता में संगीतत्व का भी सम्मिश्रण रहता है तथापि वह उसका मुख्य उपादान नहीं है। कविता में सौन्दर्य-सृष्टि की प्रधानता शब्द और अर्थ के द्वारा उत्पन्न होती है। किन्तु शब्द एवं अर्थ का सीधा-साधा प्रयोग काव्य नहीं होता, कोरा वर्णन अथवा कोरा उपदेश भले ही हो। शब्द और अर्थ का सहयोग तभी कविता को प्रतिष्ठा तथा आदर प्राप्त करा सकता है, जब वह "जगच्चेतश्चमतकारि" हो, सहृदयाह्लादकारी निस्यन्द सुन्दर हो। और इन उपयुक्त गुणों का काव्य में सर्जना होती हो, तभी कवि की क्रान्तिदर्शिता से, उसकी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से, लोक विलक्षण कल्पना से और सबसे अधिक उसकी सहृदयता, अपनी प्रतिभा, कल्पना, भावुकता एवं रुचिर कला से कवि अपने कविता-संसार को लोकहृदयकारी एवं जगच्चेतश्चतत्कारी बना देता है। इसी में सफलता प्राप्त कर लेना कवि-व्यापार, कविकर्म की सफलता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कवि की शब्द और अर्थ को इस भांति सजाकर संसार के सामने रखने में सफलता है, जिसमें वह रमणीय हो उठे, अलौकिक हो उठे। वक्रोवित-जीवितं ग्रन्थकार कुन्तक ने इसी को वक्रोक्ति, शब्दार्थ की वैदग्धपूर्ण विच्छित्ति भणिति कहा है।[1] शब्द और अर्थ की सौन्दर्यपूर्ण रमणीय उक्ति में कवि की अभिव्यक्ति अपनी चरम सफलता को प्रकट करती है। अभिव्यक्ति की इसी सौन्दर्ययोजना में कवियों की निपुणता, कविकर्म की कुशलता चिरकाल से मानी गयी है। कवियों की उक्तियों में साहित्य-शास्त्रियों ने इन्हीं के अध्ययन का यत्न करते हुए, अपनी-अपनी दृष्टियों के अनुसार उनकी विवेचना की है। अर्थात् काव्य का विवेचन करने की दृष्टि ही सौन्दर्यशास्त्र है।

भारतीय प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से सौन्दर्य पर विचार अवश्य किया। सौन्दर्य मूलतः सभी कलाओं से जुड़ा रहा है। भारतीय काव्य-शास्त्र की समग्र परम्परा काव्य भाषा के महत्व को स्वीकार करती है। इसीलिए वह कलाबद्ध होते हुए भी सार्वकालिक है। आधुनिक भारतीय काव्य शास्त्र में सौन्दर्य पर गम्भीरता से विचार किया है। डॉ. नगेन्द्र, डॉ. कुमार विमल जैसे काव्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र और एस्थेटिक्स में कोई अन्तर नहीं माना है। डॉ. विमल ने इस प्रसंग में यहां तक कहने का साहस किया है कि "सौन्दर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला-चौतन्य का समन्वित रूप है।"[2] भारतीय काव्यशास्त्र में रस,

---

1. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्
2. डॉ.कुमार विमल, सौन्दर्य शास्त्र के तत्व, पृ.सं. 16

ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, अलंकार और औचित्य सिद्धांतों का विशेष महत्व है। प्रत्येक सिद्धान्त का सौन्दर्य चिन्तन से सम्बन्ध है।

(क) सौन्दर्य और रस-भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के आदि आचार्य भरतमुनि की दृष्टि वस्तुनिष्ठ रही है। भरतमुनि ने रस को समझाते हुए कहा है- आस्वाद ही रस है। यह निष्पत्ति ही संयोग की परिणति है[1] अर्थात् सहृदय को जो आनन्द की अनुभूति हो रही है वही रस है। भरतमुनि के परवर्ती आचार्यों ने भी इसी रसास्वादन को स्वीकार किया है। रसवादी आचार्य भावों में ही सौन्दर्य देखते हैं क्योंकि सौन्दर्य चेतना मानवीय अनुभूति से जुड़ी हुई है। मात्रा-भेद का अन्तर होना स्वाभाविक है। रसवादी आचार्य तदाकार परिणति को सौन्दर्य मानते हैं। यही सौन्दर्य चेतना मन के ब्रह्म कमल को खिलने के उपयुक्त वातावरण प्रदत्त करती है और मन रसास्वादन के साथ स्मृतियों के निर्माण की भूमिका में भी रेखांकित होता है। सुखद अनुभूतियाँ स्थायी संरक्षण की मनोवैज्ञानिक गति को प्राप्त हो जाती है आचार्यों ने इसे ही काव्य सुख भी माना है।

भारतीय आचार्य रसशास्त्र में सौन्दर्य विवेचन के पूर्णता का कारण एस्थेटिक्स को मानने के पक्षधर हैं। डॉ.गणपतिचन्द्र गुप्त का मत है कि- "रसशास्त्र ऐसा शब्द है जो एस्थेटिक्स के सभी अर्थों को ध्वनित करने में समर्थ हैं"[2] प्रो. एस.सी. शास्त्री नो कहा है कि "पूर्व में हम जिसे रस कहते हैं वही पश्चिम में सौन्दर्य के नाम से पुकारा जाता है।"[3] वस्तुत: सौन्दर्य का मूलाधार रस ही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को रमणीयता का आधार माना है। रमणीयता सौन्दर्य का ही आधार है। "रस रमणीयतामावहति"[4] डॉ. परेश के अनुसार- "कहीं-कहीं सौन्दर्य शास्त्रीय चर्चाओं में सौन्दर्य सम्वेदना शब्द का उल्लेख मिलता है। यह सम्वेदना शब्द किसी भी अर्थ में आस्वाद से भिन्न स्थिति नहीं है।"[5] सौन्दर्य सम्वेदना में एक अंतर्निहित सात्विक दृष्टि विद्यमान रहती है जो काव्य-सृजना के सकारात्मक उपयोग और मानसिक उन्नयन की एक सुदृढ़ भूमिका का निर्माण करती है। वस्तुत: भारतीय आचार्य दार्शनिक थे इसीलिए उन्होंने अन्त:सौन्दर्य को बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक महत्व दिया।

(ख) सौन्दर्य और अलंकार- डॉ.नगेन्द्र ने आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर

---

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र
2. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृ.सं. 133
3. प्रो. एस.सी. शास्त्री, रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृ.सं. 135
4. पंडितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, अ. 1-6
5. डॉ.परेश, सूरदास की लालित्य चेतना, पृ.सं. 9

सौन्दर्य चेतना के दो मूलाधार माने हैं- (1) प्रीति, (2) विस्मय। प्राचीन काव्यशास्त्रीयों ने प्रीति के आधार पर रस तथा विस्मय के आधार पर अलंकार शास्त्र का विकास किया।[1] वस्तुतः अलंकार का अर्थ ही सौन्दर्यवर्द्धक तत्व से है। प्रीति काव्यानुराग का प्रथम लक्षण है प्रीति की यात्रा निर्विवाद रूप से ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य आदि से गुजर कर पूर्णता को प्राप्त करती है। प्रीति स्वयं में एक मनोवैज्ञानिक तत्व है और विस्मय अनुभूति की एक स्वतः स्फूर्त प्रतिक्रया इसलिए इन दोनों मूलाधारों को सौन्दर्य को ग्रहण करने के दो आवश्यक मनोवैज्ञानिक साधन कहना अधिक श्रेयस्कर होगा।

अलंकारवादी प्रथमाचार्य भामह ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है- 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः'[2] अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रता ही अलंकार है। उन्होंने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण माना है। यह वक्रता ही सौन्दर्य का व्यंजक मानी जा सकती है। आचार्य वामन ने तो सौन्दर्य को ही अलंकार माना है। और उनकी अवधारणा है कि अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य और उपादेय होता है।[3] इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य के कारण ही काव्य ग्राह्य और उपादेय है।

अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार के दो पक्ष किये है एक पक्ष अलंकार को काव्य का स्थाई धर्म मानता है दूसरा पक्ष अलंकार को काव्य का बाह्य तत्व स्वीकार करता है। आचार्य भामह कहते हैं- सुन्दर स्त्री का भूषण रहित मुख शोभा नहीं देता।[4] निष्कर्षतः अलंकार चाहे आन्तरिक तत्व के रूप में हो या बाह्य तत्व के रूप में, वे प्रत्येक स्थिति में सौन्दर्य की वृद्धि ही करते हैं। इसीलिए अलंकार का सम्बन्ध निश्चित रूप से सौन्दर्य के साथ जुड़ा हुआ है। सौन्दर्य का साधन अलंकार है।

(ग) सौन्दर्य और रीति सिद्धान्त-आचार्य वामन ने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। रीति शब्द का सामन्य अर्थ मार्ग, प्रणाली या शैली है। आचार्य ने रीति की परिभाषा इस प्रकार की है-'विशिष्ट पदरचना रीति'।[5] इस पद रचना की विशिष्टता अलंकार, गुण और दोष रहित होने को महत्व देते हुए रीति को काव्य की आत्मा कहा है।[6]

---

1. डॉ. नगेन्द्र, रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृ.सं. 68
2. भामह काव्यालंकार, अ. 2-3
3. वामन, काव्यालंकार, सूत्रवृति, अ. 1-2
4. भामह, काव्यालंकार, अ. 2-5
5. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, अ. 2-5
6. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, अ. 1-2-7

यह सिद्धान्त गुणों पर आधारित था और गुण सौन्दर्य उत्पादक कहे जा सकते हैं। गुण रस के धर्म तो है ही, वे सौन्दर्य के भी धर्म हैं। काव्य में शैली भी सौन्दर्य उत्पन्न करने में सहायक हैं। अत: उसका सम्बन्ध भी सौन्दर्य से जुड़ जाता है।

(घ) सौन्दर्य और ध्वनि-'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की परिभाषा देते हुए लिखा है- "जहां शब्द अपने अर्थ को और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर अन्य अर्थ की व्यंजना करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् ध्वनि कहते हैं"[1] आगे चलकर आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को लावण्य के समान कहकर सौन्दर्य की स्थापना की है- "ललनाओं के अंगावयवों से भिन्न लावण्य होता है। महाकवियों की वाणी में ध्वनि भी उसी प्रकार प्रतीयमान होती है जिस प्रकार ललना का लावण्य"।[2] उनका प्रतीयमान अर्थ सौन्दर्य की ओर संकेत करता है। उन्होंने काव्य सौन्दर्य के चमत्कृत रूप को स्वीकार किया है। सौन्दर्य वस्तु का धर्म है। चमत्कृति चेतना का धर्म है। यह कहना समीचीन है कि किसी अनुभव में निहित चमत्कार के विधान में चमत्कृति सौन्दर्य के प्रति ही होती है। "यह चमत्कृति लोकोत्तर होती है।[3] आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में सौन्दर्य का प्राण अभिव्यंजना का सौन्दर्य ही है। इस अभिव्यंजना के द्वारा ही सम्वेदना और रूप में सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति होती है।

ध्वनि भी एक प्रकार का व्यंग्यार्थ है। जहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार पूर्ण अधिक रमणीय और अधिक मर्मस्पर्शी होता है वहाँ उसे ही ध्वनि कहते हैं। आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त से लेकर प्राय: सभी संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने कविता में ध्वनि को सौन्दर्य विधायक सर्व प्रमुख तत्व माना है। ध्वनि में भी रस ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए रस को सर्वसुन्दर माना है। आधुनिक युग का तत्वज्ञाता तटस्थ साहित्य-समीक्षक यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि रसध्वनि की महत्ता स्वत: सिद्ध है। रसानुभूति के भीतर साधारणीकृत सहज भावों की प्रेषणीयता (संवेदनशीलता) के कारण मानव की अंत:करणस्थ भावनाओं को जो मर्मस्पर्शी उद्‌बोधन होता है वह सहज ही मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। मानव-हृदय में संस्कार रूप से निहित रत्यादि स्थायी भावों का विभावादि द्वारा साधारणीकरण तन्मयता की एक ऐसी अवस्था है जो अतीव मर्मस्पर्शी है। साहित्य-जगत में उसे पारिभाषिक शब्दों में चाहे हम स्वीकार

---

1. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, अ. 1-13
2. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, अ. 1-4
3. निर्मला जैन, रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, पृ.सं. 68

करें या न करें, पर विभावादि के द्वारा भावों का उद्‌बोधन सभी को स्वीकार करना पड़ता है। कविता के सौन्दर्य का अभिव्यंजन सबसे अधिक रमणीय और कलात्मक होता है। रमणीयता और कलात्मक दोनों ही दृष्टि से काव्य और सौन्दर्यबोध का विवेचना करने पर यह ज्ञात होता है कि कला के विभिन्न साधन मनुष्य के अवचेतन का एक अमूर्त प्रतिबिम्ब होते है, और अज्ञात को जानने का कौतुहल उसे कला के माध्यमों की तरफ आकर्षित करता है। जहां रमणीयता एक बाह्य परिवेश पर आश्रित तत्व है वहीं कलात्मक दृष्टि से देखा जाए तो कलात्मक चाह मन के जटिल मनोवैज्ञानिक संजाल की तुष्टि का एक लौकिक साधन भी है। सौन्दर्यबोध की दृष्टि से देखा जाए तो सृजन का मूल उद्देश्य भले ही विरेचन हो मगर सृजन की प्रतिक्रया अनुभूति के स्तर पर 'आत्मतुष्टि' से जुड़ी प्रतीत होती है।

(ड) सौन्दर्य और वक्रोक्ति–इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। इन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय का विरोध करने के लिए 'वक्रोक्तिजीवतिम्' ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना की है। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित रूप माना है।

कुन्तक से पूर्व वक्रोक्ति एक अलंकार के रूप में मान्य था। बाद के ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने भी इसे अलंकार के रूप में माना है। भामह ने इसे अवश्य सभी अलंकारों का मूल माना है।

आचार्य कुन्तक ने वर्ण–विन्यास वक्रता, पद–वक्रता, प्रत्यय–वक्रता, वाक्य–वक्रता, प्रकरण–वक्रता तथा प्रबन्ध–वक्रता के द्वारा काव्य को सुन्दर बनाने वाले सभी तत्त्वों का समाहार किया है। उन्हेांने 'लोकोत्तर आह्लादकारि वैचित्र्य सिद्धये'[1] कहकर सौन्दर्य की ओर संकेत किया है। लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने वाला वैचित्र्य निश्चित रूप से अभिव्यंजना शैली का एक प्रकार ही है। किन्तु कवि प्रतिभा और कवि–कौशल को महत्त्व देने के कारण उस में अन्तः तत्त्व की अपेक्षा नहीं की गयी है। डॉ. सुरेन्द्र नाथ सिंह ने कहा है– कवि प्रतिभा अपनी कृति को चमत्कारमयी बनाने के लिए जिन साधनों– प्रसाधनों का अवलम्ब ग्रहण करती है, उन में कर्म का साक्षात्कार करने के लिए वक्रोक्ति सिद्धान्त निश्चय ही अतीव सहायक है।[2]

आचार्य कुन्तक की दृष्टि में 'न्यूनातिरिक्त रमणीयत्व तथा परस्पर स्पार्द्ध चारूत्व' के कारण शब्दार्थ गौण हो जाता है तथा किसी अन्य तत्व की प्रधानता हो जाती है। कवि के अभ्यंतर का उद्रेक होने के कारण काव्य–सौन्दर्य ही सृष्टि–सौन्दर्य

1. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवतम्
2. डॉ. सुरेन्द्र नाथ, प्रसाद के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन, पृ.सं. 155

है। वे कवि कर्म को ही सभी प्रकार के सौन्दर्य का मूल स्रोत मानते हैं।[1] अत: स्पष्ट है कि सौन्दर्य वस्तुगत न हो कर आत्मगत है। सौन्दर्य का आत्मगत होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अर्थ रखता है क्योंकि 'आत्म' चेतना और संवेदना की संयुक्ति से निर्मित होता है।

आचार्य कुन्तक ने शोभा को ही साहित्य का प्रमुख तत्व माना है। सहृदय श्लाघ्य द्वारा भी सौन्दर्य को हृदय के सम्वाद के कसौटी के रूप में प्रतिस्थापित करते हैं।[2] सौन्दर्य कवि कर्म है और सहृदय द्वारा उसकी स्वीकृति उसका मानदण्ड है। उन्होंने सौन्दर्य का काव्य के प्रतिमान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है।

(च) सौन्दर्य और औचित्य-आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा में प्रथमत: 'उचित' का लक्षण दिया है तदन्तर उचित के भाव को औचित्य कहा है।[3] काव्य संरचना के अवयवों का सादृश्यभाव उनका औचित्य है और यही काव्य को जीवित बनाता है। जैसे श्यामा के भाल पर चन्दन तिलक शोभा देता है और गौरांगना के भाल पर कस्तूरी तिलक उसी प्रकार उचित पद के प्रयोग से काव्य-वाक्य शोभा सम्पन्न होता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को जीवन शक्ति कहा है। औचित्य सिद्धांत मूलत: काव्य के रसास्वादन में प्रज्ञा के उपयोग का पक्षधर है। काव्य की हेतुकी को समझने के लिए विवेकपूर्ण होना अनिवार्य है और विवेक अथवा बुद्धि का कार्य मात्र अनुभूति में डूबना भर नही है बल्कि विवेकपूर्ण काव्य के प्रयोजन को आत्मसात करना भी है। विवेक का निर्माण बोध से प्रत्यक्ष: जुड़ा हुआ है। बोध स्वयं में एक मनोवैज्ञानिक संप्रत्यय है और यही सौन्दर्य को उसके वैविध्य में ग्रहण करने में भी सहायक होता है।

औचित्य की परम्परा सुदीर्घ रही है। आचार्य भरतमुनि ने अभिनय के संदर्भ में भामह ने काव्य के उत्कर्ष के संदर्भ में, इस की आवश्यकता पर बल दिया है। भोजराज, रुद्रट्, आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने विविध संदर्भों में इसके महत्त्व को स्वीकारा है। क्षेमेन्द्र ने चमत्कृति के लिए लावण्य शब्द का प्रयोग किया है[4] अर्थात् लावण्य अथवा सौन्दर्य ही रचना का मूल है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर लावण्य का कोई सार्वभौमिक स्वरूप नही हो सकता है, यह मनोदशा सापेक्ष अथवा सौन्दर्यबोध सापेक्ष ग्राह्य होता है।

---

1. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्
2. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्
3. आचार्य क्षेमेन्द्र (विश्वनाथ), औचित्य विचार चर्चा, पृ.सं. 7
4. आचार्य क्षेमेन्द्र (विश्वनाथ), औचित्य विचार चर्चा, पृ.सं. 15

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने लावण्य (सौन्दर्य) की चर्चा की है। वे सौन्दर्य के लिए लावण्य, रम्य, रमणीय, सुन्दर आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे सभी एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। इससे सौन्दर्य की व्यापकता का पता चलता है यह सौन्दर्य की व्यापकता सैद्धांतिकी से निकल कर जब ग्राह्यशीलता और बोध के स्तर पर रूपांतरित होती है तो उसके पीछे एक व्यापक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी सम्मलित होती है। सौन्दर्य मन और प्रज्ञा का विषय है इसलिए सौन्दर्यबोध के विस्तार के मूल स्रोत मन और विवेक दोनों ही है। विचार और संवेदना की युति काव्य का बाह्य आकार अवश्य तय करती है मगर आत्मसात करने के स्तर पर 'आत्म' को बोध की अनिवार्य सहायता लेनी पडती है तब वह चेतना और सम्वेदना का स्थायी अंग बन पाता है।

वस्तुतः सौन्दर्यबोध की भारतीय अवधारणा में 'मन' और 'विवेक' की बड़ी व्यापक भूमिका है और इन दोनों के संयोजन में बहुत से मनोवैज्ञानिक आयाम समाविष्ट रहते है यथा प्रत्यक्षण, संवेग, बुद्धि, स्मृति आदि, इसलिए विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद गद्य अथवा पद्य मनुष्य के सौन्दर्यबोध का अंग बनता है और उसकी चेतना तथा सम्वेदना की यात्रा को परिष्कृत करता है।

✦✦✦

1. उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, अरुण कुमार सिंह, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी
2. व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, अरुण कुमार सिंह, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (227-232) January-June 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक सिद्धान्तों के आलोक में उदारीकृत भौतिकवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उपभोक्ता व्यवहार का मनो-आर्थिक विश्लेषण।

-डॉ. हरवीर सिंह चौधरी
सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
जे.वी. जैन कॉलेज, सहारनपुर (उ.प्र.)

सारांश

नियन्त्रण भोग की सीमा निर्धारित करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपभोक्ता की मनोस्थिति का विश्लेषण विस्तारपूर्वक करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है, क्योंकि आज उपभोक्तावादी सभ्यता अपने चरमोत्कर्ष पर है। विश्व में अधिकतर व्यक्ति चार्वाक दर्शन के अनुरूप व्यवहार कर रहे हैं। आज भारतीय दर्शन गाँधी जी के अपरिग्रह का नहीं चार्वाक के भोगवादी मॉडल का अनुसरण कर रहा है। थेलर ने अपनी पुस्तक 'नज' (2008) में इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि 'आर्थिक एवं वित्तीय फैसले सदैव तार्किक नहीं होते हैं। 'बल्कि ज्यादातर वे मानवीय हदों में बन्धे होते है। आम धारणा है कि उपभोक्ता वित्तीय मामलों में हमेशा समझदारी से फैसले लेता है। लेकिन थेलर का शोध इसे खारिज करता है। वर्तमान में भी औसतन 02 किसानों द्वारा प्रतिदिन अपना जीवन समाप्त किया जा रहा है। जिसका प्रमुख कारण उदारीकरण के आरम्भ के बाद कृषि क्षेत्र के पिछड़ने को व साथ नयी भौतिकवादी व्यवस्था को माना जा रहा हैं।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ -चार्वाक (सर्वदर्शनसंग्रह)

प्रस्तावना:

अर्थशास्त्र मानव व्यवहार का अध्ययन है मानव व्यवहार मनोविज्ञान की विषय-सामग्री का महत्वपूर्ण अंग है मानव व्यवहार प्रकृति से ही परिवर्तनशील होता है। देशकाल, परिस्थितियों एवं संशाधनों की उपलब्धता के परिवर्तनों के साथ ही मानव व्यवहार परिवर्तित होता रहता है। जहाँ वैदिक संस्कृति में भौतिक सुखों को

पूर्णरूप से वर्जित तो नहीं किया गया था, लेकिन उसकी सीमायें निश्चित अवश्य की गई थी। आधुनिक काल के अणु विज्ञानी जॉन डॉल्टन से भी हजारों वर्ष पूर्व द्रव्य के परमाणु का रहस्य उद्घाटित करने वाले महर्षि कणाद षड्दर्शनों में से एक वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक थे, जिन्होंने भौतिक सुख के साथ आध्यात्मिक सुख को धर्म कहा है।

यतोऽभ्युदयनिश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः। –कणाद

वही वेदवाणी के अनुसार: **शन्नोदेवीरभिष्टय**
आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्त्रवन्तु नः। –यजुर्वेद 36.12

अर्थात् भौतिक सुख (इस लोक का सुख) तथा मोक्ष का सुख अमरत्व की प्राप्ति ही पूर्णानन्द है।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। –मनु

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"। –कठोपनिषद् 1.27

नचिकेता ने यमाचार्य को प्रत्युत्तर में कहा है कि "धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती है।"

वहीं कौटिल्य ने चाणक्य सूत्र में लिखा है–

सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलम् अर्थः
अर्थस्य मूलं राज्यम्। राज्यस्य मूलम् इन्द्रियजयः।

अन्तिम चरण इन्द्रियों पर नियन्त्रण है, नियन्त्रण भोग की सीमा निर्धारित करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपभोक्ता की मनोस्थिति का विश्लेषण विस्तारपूर्वक करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है, क्योंकि आज उपभोक्तावादी सभ्यता अपने चरमोत्कर्ष पर है। विश्व में अधिकतर व्यक्ति चार्वाक दर्शन के अनुरूप व्यवहार कर रहे हैं। आज भारतीय दर्शन गाँधी जी के अपरिग्रह का नहीं चार्वाक के भोगवादी मॉडल का अनुसरण कर रहा है।

इस बदले मानवीय व्यवहार ने अनेक नये आर्थिक क्षेत्र आरम्भ कर दिये हैं जिनका विस्तृत अध्ययन अभी शेष है। विश्व के समस्त देश इस विषय के महत्व को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। अभी वर्ष 2017 में अर्थशास्त्र के मनोवैज्ञानिक अर्न्तसम्बन्ध को मानवीय चेहरा प्रदान करने वाले अमरीकी अर्थशास्त्री रिचर्ड एच. थेलर को बिहेवियरल इकोनॉमिक्स के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य के लिये नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। थेलर ने अपने शोध में निर्णय में आर्थिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बीच सेतु का कार्य किया। थेलर ने अपनी पुस्तक 'नज' (2008) में

इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि 'आर्थिक एवं वित्तीय फैसले सदैव तार्किक नहीं होते हैं। बल्कि ज्यादातर वे मानवीय हदों में बन्धे होते है। आम धारणा है कि उपभोक्ता वित्तीय मामलों में हमेशा समझदारी से फैसले लेता है। लेकिन थेलर का शोध इसे खारिज करता है। उदाहरण द्वारा उन्होंने स्पष्ट करते हुऐ बताया है कि पेट्रोल की कीमत कम होने की स्थिति में अर्थशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर उपभोक्ता बचे पैसों को अपनी अन्य जरूरी आवश्यकताओं को पूरा करने पर व्यय करेगा, जबकि अधिकतर पाया गया कि शेष बचे पैसों को भी वह पेट्रोल पर ही खर्च करेगा। पैसे के साथ मनुष्य का रिश्ता उलझा हुआ हैं, भविष्य का डर, लालच, परम्परायें एवं व्यय करने से पैदा होने वाला अपराध बोध ऐसे जज्बात हैं जो इसे और अधिक पेचीदा बनाते हैं। बिहेवियरल इकोनॉमिक्स के द्वारा हम पैसे से जुड़े व्यवहार को समझने की कोशिश करते हैं।

भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में उदारीकरण के बदले परिप्रेक्ष्य में उपभोक्ता व्यवहार का अध्ययन करने पर अनेक ज्वलन्त एवं महत्वपूर्ण विषय दृष्टि गोचर हो रहे हैं जहाँ वैश्वीकरण के कारण बाजार की सीमाएं समाप्त हो गई हैं विश्व के किसी भी राष्ट्र का उत्पाद स्थानीय बाजार में उपलब्ध होने के कारण अधिकतर उपभोक्ता इसके सम्पर्क में आ रहे हैं।

वर्तमान भौतिकवादी व्यवस्था चार्वाक दर्शन के पूर्णरूप से अनुकूल है विश्व बैंक की 2017 की अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सांख्यिकी के अनुसार ऋणी देशों की इस सूची में भारत, चीन, ब्राजील के बाद तीसरा देश हैं वहीं व्यक्तिगत ऋण की स्थिति के अध्ययन में पाया गया। विश्व के अनेक उन्नत देशों की भाँति ही भारत में भी गृहकर, व्यवसायिक, निजी कर, वाहन कर के साथ अन्य छोटे बड़े उत्पादों जैसे मोबाइल इत्यादि के लिए भी व्यक्ति नि:संकोच ऋण ले रहे हैं।

वहीं अब इस व्यवस्था में गति प्रदान करने का कार्य प्लास्टिक मनी भी कर रही है जिसके उदाहरण डेबिट/क्रेडिट कार्ड है भारत में प्रमुख 56 बैंकों के आँकड़ों के अनुसार मार्च 2017 में कुल 771649172 डेबिट कार्ड व 29842235 क्रेडिट कार्ड जारी किये वहीं अक्टूबर 2017 तक यह आँकड़ा 826.3 मिलियन डेबिट कार्ड व 33.87 मिलियन क्रेडिट कार्ड को पार कर गया। प्लास्टिक मनी का प्रयोग करने वालों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है।

क्रेडिट कार्ड एक प्लास्टिक का छोटा सा कार्ड होता है। जिसके धारकों को यह अधिकार होता है कि वे इस कार्ड द्वारा अपनी उपभोग आवश्यकताओं को पूर्ण कर लें जिसका भुगतान वे बाद में कर दें। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो

पाते है कि यदि व्यक्ति वास्तविक मुद्रा में भुगतान करता है तो उसे किसी वस्तु के खरीदने पर किये गये भुगतान से अनुपयोगिता (कष्ट) महसूस होता है जबकि प्लास्टिक मनी द्वारा खरीद भुगतान पर यह आभास (कष्ट) कम प्रतीत होता है। क्योंकि जहाँ डेबिट कार्ड के भुगतान में उपरोक्त अपने बैंक खाते से आँकड़े परिवर्तित ही होते देख पाता है वही क्रेडिट कार्ड से वस्तुओं की खरीद पर आनन्द की अनुभूति करता है। वे वास्तविक भुगतान के कष्ट को तुरन्त महसूस नहीं करता। इस उधारवादी व्यवस्था के अन्य अनेक उदाहरण किसान क्रेडिट कार्ड योजना इत्यादि हैं। इस व्यवस्था में आँकड़ों अनुसार (कृषि ऋण न चुकाने के कारण किसानों और खेती और मजदूरों ने आत्महत्या) किसान और कृषि मजदूरों द्वारा ऋण वापस न चुका पाने के कारण आत्महत्या जैसा कदम उठाया जा रहा हैं, जो दुःखद ही नहीं अपितु अपूर्णीय क्षति है। राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालय, भारत द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों में 1995 से 2011 के बीच 17 वर्षों में 7,50,860/- किसानों ने आत्महत्या की है। वहीं 2014 के किसानों की आत्महत्या के मामलों की तुलना में 2015 में 42 पफीसदी की वृद्वि हुयी है। वर्तमान में भी औसतन 02 किसानों द्वारा प्रतिदिन अपना जीवन समाप्त किया जा रहा है। जिसका प्रमुख कारण उदारीकरण के आरम्भ के बाद कृषि क्षेत्र के पिछड़ने को व साथ नयी भौतिकवादी व्यवस्था को माना जा रहा हैं। वहीं अनेक युवा इस अवस्था में राह से भटक कर अपराधिक कदम उठाने से भी नहीं चूक रहे हैं। दहेज-प्रथा भी इसी भौतिकवाद की परिणिति है जहाँ अनेक युवा साधनों के अभाव में अपनी अतृप्त इच्छापूर्ति हेतु दहेज का सहरा लेते है। दहेज मांगना किसी व्यक्ति विशेष की मानसिक विकृति के साथ समाजिक बुराई भी है। इसके उपरान्त भी दहेज माँगने वालों का बहिष्कार नहीं किया जाता अपितु अधिक दहेज मिलने पर सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ने जैसा प्रदर्शन किया जाता है। जिसकी बलि अनेक बेटियाँ/बहुएं चढ़ गई। सरकारों द्वारा इस भयाभयता के दृष्टिगत अनेक कानून बनाये लेकिन आज भी 'दहेज पाप न होकर प्रतिष्ठा' ही समझा जाता है।

शुभ लाभ वाली भारतीय व्यावसायिक व्यवस्था में भी भौतिकवाद के चलते तथाकथित धनलोलुप व्यवसायी मिलावट जैसा अपराध करने से नहीं चूकते। मिलावट के दुष्परिणामों के भय के कारण सरकार द्वारा अधिकतर उन्नत देशों की भाँति स्वास्थ्य हानि की रोकथाम हेतु 1954 में सम्पूर्ण देश में खाद्य-अपद्रव्यीकरण निवारण अधिनियम (प्रिवेंशन ऑफ फूड ऐडल्टरेशन ऐक्ट) लागू किया इसके अर्न्तगत अपद्रव्यीकरण खाद्य बेचना दण्डनीय है। इसके बावजूद अपराध जारी है। जिसके परिणाम स्वरूप आज अधिकतर लोग निम्न गुणवत्ता के खाद्यों द्वारा अनेक असाध्य रोग जैसे उच्च रक्त-चाप, किडनी के रोग, कैंसर, ड्राप्सी, भोज्य विषाक्तता

इत्यादि लोगों का असमय जीवन समाप्त कर रहे हैं। अनेक कानूनों के बावजूद भारत में मिलावट, कालाबाजारी, घूसखोरी इत्यादि समस्या बढ़ती जा रही है। जिसका बड़ा कारण अपरिगृह की प्रवृत्ति है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान भौतिकवादी व्यवस्था में नैतिक शिक्षा के अभाव में चार्वाक दर्शन का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। उपभोक्ता अधीर है। वह किसी भी प्रकार से अपनी उपभोग आंकाक्षाओं को शीघ्र पूर्ण करना चाहता है। इस व्यवस्था ने देश की सीमाओं के बन्धन तोड़ दिये है। विश्व की कोई अर्थव्यवस्था विकसित हो या विकासशील उपभोक्तावादी सभ्यता से अछूती नहीं है। जिससे उदारवादी व्यवस्था उधारवादी व्यवस्था में परिवर्तित हो रही है। जब यह उधार एक सीमा से अधिक बढ़ जाता है तो व्यक्ति प्राप्त उच्च जीवन स्तर को त्यागने को तैयार नहीं होता है। ऐसी अवस्था व्यक्ति को मानसिक तनाव/अवसाद की ओर धकेल देती है और भौतिकवाद की दौड़ में उसके सगे-सम्बन्धी उसकी कोई सहायता नहीं कर पाते हैं।

भारतीय सभ्यता वसुधैव कुटुम्बकम् के सार्वभौमिक विचार पर आधारित है। जिसे विश्व के देश वैश्विक अर्थव्यवस्था के रूप में जानते हैं। यहाँ कठोपनिषद् का शान्ति मन्त्र :-

ऊँ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥
ऊँ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः। -कठोपनिषद् पृ. 18

सभी के कल्याण की कामना और सुख शान्ति की सुशिक्षा प्रदान करता है। जिसका अनुसरण कर व्यक्ति विश्व शान्ति के साथ आत्मिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। जहाँ एक ओर चार्वाक दर्शन आधुनिक व्यवस्था की लोकप्रिय प्रणाली है, वहीं वैदिक और नीतीगत शिक्षा (मूल्यप्रद शिक्षा) जीवन को सरल सुगम बनाने में सहायक हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. लीलाधर शर्मा पांडेय, 'ज्ञान गंगोत्री', ओरियंट पेपर मिल्स, अमलाई, म.प्र., पृ. -138।
2. महर्षि कणाद 'वैशेषिक दर्शन'।

3. अष्टावक्र गीता, 9.32 9.8
4. कौटिल्य 'चाणक्य सूत्र' 1-6
5. कठोपनिषद् (1.27)
6. World Bank, International Dept. Statistics 2017.
7. सुलिवान अर्थर : स्टीवन एम शेफ्रिन (2003) 'इकोनॉमिक्स : प्रिंसिपल इन एक्शन अपर सैंडल रिवर, न्यू जर्सी 07458 : पियर्सन प्रेन्टिस हॉल। पृ० 261 ISBN 0-13-063085-3
8. RBI Bank wise ATM/POS/Card Statistics Report 31 March 2017.
9. राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालय, दिल्ली।
10. Dr. Vandana shiva, Kumar Jalees "Farmers Suicides in India" Research Foundation for Science, Technology and Ecology; A-60 Hauz Khas, New Delhi-110016 (INDIA)

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (233-240) January-June 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक मनोविज्ञान

(सुभाषित-संग्रह)

–डॉ. कपिलदेव द्विवेदी
विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही) उ०प्र०

1. **अथो भगस्य नो धेहि।** –अथर्व. 19.4.3
हमें ऐश्वर्य दो।

2. **अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः।** –अथर्व. 9.2.7
प्रतापी एवं बलवान् इच्छाशक्ति मेरा संचालक है।

3. **अन्यत्र पापीरप वेशया धियः।** –अथर्व. 9.2.25
दुष्ट विचारों को दूर रखो।

4. **अभि द्यां महिना भुवम्।** –ऋग्. 10.119.8
मैंने मनोबल से द्युलोक को पराजित किया है।

5. **अभूमानागसो वयम्।** –ऋग्. 10.164.5
हम निष्पाप हो गए हैं।

6. **अवधीत् कामो मम ये सपत्नाः।** –अथर्व. 9.2.11
मेरे मनोबल ने शत्रुओं को नष्ट कर दिया है।

7. **असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता।** –अथर्व. 8.4.8
असत्यवादी का नाश हो।

8. **अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे।** –अथर्व. 7.5.4
संकल्पशुद्धि सर्वोत्तम यज्ञ है।

9. **अहं गृभ्णाणि मनसा मंनासि।** –अथर्व. 3.8.6
मैं मन से तुम्हारे मन को वश में करता हूँ।

10. **अहमिन्द्रो न परा जिग्ये।** –ऋग्. 10.48.5
मैं इन्द्र हूँ, कभी पराजित नहीं होता।

11. **आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।** –ऋग्. 10.128.4
मेरे मन के संकल्प सफल हों।

12. **आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे।** –अथर्व. 19.4.2
इच्छाशक्तिरूपी देवी को सबसे आगे रखता हूँ।

13. **आकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।** –अथर्व. 6.73.2
मन में संकल्पशक्ति रहती है।

14. **आकूत्या न उपा गहि।** –अथर्व. 19.4.3
संकल्पशक्ति के साथ हमारे पास आवो।

15. **आ न एतु मनः पुनः, क्रत्वे दक्षाय जीवसे।** –यजु. 3.54
पुरुषार्थ, दक्षता और जीवनशक्ति के लिए मनोबल है।

16. **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।** –यजु. 25.14
शुभ विचार सभी ओर से हमारे पास आवें।

17. **इदं यत् परमेष्ठिनं मनः।** –अथर्व.19.9.4
मन ईश्वरीय शक्ति–सम्पन्न है।

18. **ईर्ष्याम् उद्नाग्निमिव शमय।** –अथर्व. 7.45.2
ईर्ष्यारूपी अग्नि को शान्तिरूपी जल से शान्त करो।

19. **ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः।** –अथर्व. 13.3.19
प्राकृतिक नियमों को मन से जानते हैं।

20. **एनो मा नि गां कतमच्चनाहम्।** –अथर्व. 5.3.4
मैं किसी प्रकार का कोई पाप न करूँ।

21. **एवा दाधार ते मनो जीवातवे।** –ऋग्. 10.60.8
जीवनी शक्ति के लिए तेरे मन को रोकता हूँ।

22. **कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्।** –अथर्व. 9.2.2
मैं इच्छाशक्ति का आश्रय लेकर उन्नत होता हूँ।

23. **कामज्येष्ठा इह मादयध्वम्।** –अथर्व. 9.2.8
संकल्पशक्ति–प्रधान देवगण आनन्दित हों।

24. **कामस्तदग्रे समवर्तत।** –अथर्व. 19.52.1
सबसे पहले संकल्पशक्ति उत्पन्न हुई।

25. **कामेन मा काम आगन्।** –अथर्व. 19.52.4
संकल्पशक्ति से मुझमें इच्छाशक्ति आई।

26. **कामेनाजनयन् स्वः।** –अथर्व. 19.52.3
इच्छाशक्ति ने आनन्द को जन्म दिया।

27. **कामो अन्वेत्वस्मान्।** –अथर्व. 19.4.4
इच्छाशक्ति हमें प्राप्त हो।

28. **कामो जज्ञे प्रथमः।** –अथर्व. 9.2.19
संकल्पशक्ति सबसे पहले उत्पन्न हुई।

29. **किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः।** –ऋग्. 10.48.7
नास्तिक मेरी क्या निन्दा कर सकते हैं? कुछ नहीं।

30. **चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः, पृष्टीरपि शृणाञ्जन।** –अथर्व. 19.45.1
आँख से टोना करने वालों की पसली तोड़ दो।

31. **चिकित्विन्मनसं धियं, प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम्।** –ऋग्. 8.95.5
बुद्धि मन को चेतना देती है और ऋत से पुष्ट होती है।

32. **ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतः।** –अथर्व. 9.2.23
इच्छाशक्ति चर और अचर से श्रेष्ठ है।

33. **ज्योतिषां ज्योतिरेकम्।** –यजु. 34.1
मन प्रकाशों का प्रकाशक है।

34. **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।** –यजु. 34.1-6
मेरा मन शुभ विचारों वाला हो।

35. **तृतीये नाके साधनादं मदेम।** –अथर्व. 6.122.4
शुद्ध मन से मुक्तिधाम में आनन्दित रहें।

36. **त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितः।** –अथर्व. 19.52.2
मनोबल अपने सामर्थ्य से प्रतिष्ठित है।

37. **त्वं धियं मनोयुजं सृज।** –ऋग्. 9.100.3
बुद्धि का मन से समन्वय करें।

38. **त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः।** –अथर्व. 19.52.2
मनोबल अदम्य है। वह युद्धों में विजयी होता है।

39. **देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्।** –अथर्व. 9.9.18
मन दिव्य है। कहाँ से उत्पन्न हुआ है?

40. **धियो यो नः प्रचोदयात्।** –यजु. 36.3
परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर प्रेरित करे।

41. **न पर्वतासो यदहं मनस्ये।** –ऋग्. 10.27.5
मेरे निश्चय को पर्वत भी नहीं टाल सकते।

42. **न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन।** –ऋग्. 10.48.5
मैं कभी भी मृत्यु के वश में नहीं होता हूँ।

43. **न वै वातश्चन काममाप्नोति।** –अथर्व. 9.2.24
वायु भी इच्छाशक्ति को नहीं पा सकता है।

44. **पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति।** –ऋग्. 10.177.2
आत्मा मन के द्वारा वाक्तत्त्व को धारण करता है।

45. **परोऽपेहि मनस्पाप।** –अथर्व. 6.45.1
हृदय से पाप के विचार दूर हों।

46. **पर्यचामि हृदा मतिम्।** –ऋग्. 10.119.5
मैं हृदय से बुद्धि को परिष्कृत करता हूँ।

47. **पाकत्रा स्थन देवाः।** –ऋग्. 8.18.15
देवता पवित्र हृदय में रहते हैं।

48. **बहुधा जीवतो मनः।** –ऋग्.10.164.1
मनुष्य का मन अनेक विचारों वाला है।

49. **ब्रह्म वर्म विततम् अनतिव्याध्यं कृतम्।** –अथर्व. 9.2.16
इच्छाशक्ति ज्ञानरूपी कवच है और अभेद्य है।

50. **भगः सं वो अजीगमत्।** –अथर्व. 5.74.1
ऐश्वर्य का देवता तुम्हें संगठित करे।

51. **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।** –यजु. 25.21
हे देवो! हम कान से अच्छी बातें सुनें।

52. **भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।** -यजु. 15.39, 40
पापों के नाश के लिए मन पवित्र करो।

53. **मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचत्।** -ऋग्. 8.100.5
मन ने हृदय से कहा। मन हृदय का निर्देशक है।

54. **मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।** -यजु. 39.4
मन की इच्छा और संकल्पों को तथा वाणी की सत्यता पाऊँ।

55. **मनसाऽमर्त्येन।** -अथर्व. 7.5.3
मन अमर है।

56. **मनसा सं कल्पयति।** -अथर्व. 12.4.31
मन से संकल्प या विचार करता है।

57. **मनसा सं शिवेन।** -यजु. 2.24
हम पवित्र मन से युक्त हों।

58. **मनसे चेतसे धिये।** -अथर्व. 6.41.1
मन के कार्य हैं- चिन्तन, चेतना और अवधान।

59. **मनो अस्या अन आसीत्।** -अथर्व. 14.1.10
मन एक रथ है।

60. **मनो दक्षमुत क्रतुम्।** -ऋग्. 10.25.1
मन में दक्षता और कर्मठता हो।

61. **मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन।** -यजु. 3.53
जन-हितकारी स्तुतियों से मन का आह्वान करते हैं।

62. **मनो मेधामग्निं प्रयुजं स्वाहा।** -यजु. 11.66
मन मेधारूपी अग्नि है और प्रेरक है।

63. **मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः।** -अथर्व. 9.2.11
चारों दिशाएँ मेरे आगे झुकें।

64. **मा ते मनो विष्वद्र्यग् वि चारीत्।** -ऋग्. 7.25.1
तेरा मन इधर-उधर न जावे।

65. **मा युष्महि मनसा दैव्येन।** -अथर्व. 7.52.2
हम दिव्य मन से वियुक्त न हों।

66. **म्रोको मनोहा खनो निर्दाहः।** –अथर्व. 16.1.3
मनोबल के नाशक हैं– घातक, नाशक और दाहक विचार।

67. **यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्।** –यजु. 34.1
दिव्य मन जागृत अवस्था में दूर तक जाता है।

68. **यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।** –यजु. 34.3
मन मनुष्य के अन्दर विद्यमान अमर ज्योति है।

69. **यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु।** –अथर्व. 9.2.16
इच्छाशक्ति का संरक्षण उत्कृष्ट एवं तीन प्रकार से रक्षक है।

70. **यत्ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्।** –ऋग्. 10.58.2
मन द्यावापृथिवी में दूर तक जाता है।

71. **यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।** –ऋग्. 10.58.12
मन तीनों कालों में दूर तक जाता है।

72. **यत्ते विश्वमिदं जगत्, मनो जगाम दूरकम्।** –ऋग्. 10.58.10
मन सारे संसार में दूर–दूर तक जाता है।

73. **यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च।** –यजु. 34.3
मन के कार्य हैं– जानना, स्मरण और धारण।

74. **यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।** –अथर्व. 6.105.1
मन विचारों के साथ बहुत तीव्र गति से उड़ता है।

75. **यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्।** –यजु. 34.2
मन मानव शरीर में अनुपम और पूज्य है।

76. **यद् वो मनः परागतं ..... तद् व आ वर्तयामसि।** –अथर्व. 7.12.4
तुम्हारे दूर गए मन को मैं लौटाकर लाता हूँ।

77. **यमैच्छाम मनसा सोऽयमागात्।** –ऋग्. 10.53.1
हमने मन से जिसको चाहा, वह हमें मिल गया।

78. **यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते।** –यजु. 34.3
मन के बिना कोई काम नहीं किया जा सकता है।

79. **यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि।** –यजु. 34.5
मन में ही ऋग्, साम और यजुर्वेद प्रतिष्ठित हैं।

80. **यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्।** –यजु. 34.5
मन में ही संसार का चित्त ओत-प्रोत है।

81. **युञ्जते मन उत युञ्जते धियः।** –यजु. 5.14
विद्वान् परमात्मा में मन और बुद्धि लगाते हैं।

82. **येनेदं भूतं भविष्यत् परिगृहीतम्।** –यजु. 34.4
मन में ही वर्तमान, भूत और भविष्य संलग्न हैं।

83. **येनैव ससृजे घोरं, तेनैव शान्तिरस्तु नः।** –अथर्व. 19.9.4
मन ही दु:खद की रचना करता है, वही शान्ति दे।

84. **वशा माता स्वधे तव।** –अथर्व. 10.10.18
चेतना की माता वाक्तत्त्व है।

85. **वातो वा मनो वा.....ते अस्मिन् जवमादधुः।** –यजु. 9.7
वायु और मन ने मनुष्य को वेग दिया है।

86. **सं जानामहै मनसा।** –अथर्व. 7.52.2
हम मनसे सबसे एकता स्थापित करें।

87. **संज्ञपनं वो मनसः।** –अथर्व. 6.74.2
तुम्हारे मन की एकता हो।

88. **संज्ञानं नः स्वेभिः, संज्ञानमरणेभिः।** –अथर्व. 7.52.1
हमारा अपने और परायों से ऐकमत्य हो।

89. **सं मनांसि समु व्रता।** –अथर्व. 6.74.1
तुम्हारे मन और कर्मों में समन्वय हो।

90. **सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि।** –यजु. 2.24
हम तेज, दुग्धादि और स्वस्थ शरीर से युक्त हों।

91. **सं वो मनांसि सं व्रता, समाकूतीर्नमामसि।** –अथर्व. 3.8.5
तुम्हारे मन, कर्म और विचार एकरूप हों।

92. **समित् तमघमश्नवद्, दु:शंसं मर्त्यं रिपुम्।** –ऋग्. 8.18.14
निन्दक को ही पाप का फल मिले।

93. **सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते।** –अथर्व. 9.2.5
संकल्प की पुत्री वाणी कामधेनु है।

94. **स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम्।** –अथर्व. 19.71.1
मैंने वरदा वेदमाता की स्तुति की है। देव मुझे प्रेरणा दें।

95. **हनो वृत्रं जया स्वः।** –ऋग्. 8.89.4
दुर्विचारों को नष्ट करो और सुख पावो।

96. **हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्।** –यजु. 34.6
मन हृदय में रहता है। वह फुर्तीला और तीव्रगामी है।

97. **हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।** –ऋग्. 10.177.1
विद्वान् हृदय और मन को समन्वित करके देखते हैं।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (241-246) January-June 2018 ISSN 2277-4351

The Mind : As described in the Vedic Literature

- Prof. Dinesh Chandra Shastri (Editor)

-Dr. Amit Kumar (Haridwar)

Vedic Rishies fully envisaged the importance of Mind and thus gave a clear and detailed description of its constitution and working in all respects.

Vedic work for Mind is Mana (मन). It has been derived from the root मन=Man, to think, to see, to intend. It includes the intellectual power of man, he understanding. It has memory, it is something which thinks.

Greek word for Mind is "Menos". At some place the word "Noos" is also used.

Accroding to Vaisheshika Philosophy, Mind in one of the nine substance. Earth, water, fire, Air, Ether, Time, Space, Soul and will or Mind are the nine substance called *Dravya.*[1] The word Dravya is further explained as under- *Kriyagun Vastamavayikarnamiti dravyalakshnam* (V.D. 1-1-15). A substance is that which has energy, properties or even properties alone. Mind, however, possesses both. Substance is that which is real, that which consitutes a thin really, that which exists independently and unchangeably, that in which the divine attributes inhere. Mind is the pivot of the human body.

Some Shastras compare its paramountly with that of mother Bee, because wherever the Mind goes, all the Senses follow it. Man performs the same action what his Mind guide him. In fact, Mind is the real man it can lead him to salvation and, on the other hands, keeps him in bondage.[2]

---

1. Prithvyapastejo Vayurakashah Kalo Digatma Mana eti Dravyani (1/1/5)
2. Mana eva manushyanam karanam bandhamokshayoh (Maitrayani Upanishad 4/11)

Functions of the Mind are very important is human body. sometimes it appears that *ego* (अहंकार) in lost in it. It is *Chetana* (चेतना) activity itself.

Apparently, id does not behave like a material substances. It is an interlinking material between soul and the outer world.

It is well recognized universal principle that fine or *subtler* (सूक्ष्म) an object is the more force it possesses. The discovery of Atom and Homeopathy have amply proved it. Mind is also a very *subtler* (सूक्ष्म) matter; hence it possess as force and power. Mahatma Gandhi laid great stress on mental force and this force prompted him to start *satyagraha* (सत्याग्रह) against the most powerful British Empire. He believed that all forceful weapons of war are no match to the potent metal force of the public. Vedic *Gaupayanah* (गौपायनः) Rishi indicated O'man! you have been given the mind for obtaining dexterity all round for leading an active live and for contemplation of God.[1] This Mind, besides working during awakening stage, is also active during sleep. Again Rishi Says-"O Blissful Lord! you have bestowed on us this Mind and through its working we abide by laws laid by you it is only through this monarch of the body that we protect our progeny to live happily"[2]. Both these above important mantras occur in the Yajurveda also.[3]

It is through Mind that intellect gets knowledge. There is a clear distinction between mind and intellect.

Mind is a part of the *internalbody* (सूक्ष्म शरीर), viz, *Antakarana Chatushtaya* (अन्तःकरण चतुष्टय) which comprises of *Mind* (मन), *Chitta* (चित्त), *inteelect* (बुद्धि) and *ego* (अहंकार).

Not only that the Mind is powerful, it is equally full of speed. It is the fastest traveling thing in the world. The speed of its travel is said to be at the rate of 81,00,000 miles per second.[4]

The third major quality of Mind is that is very very unsteady, turbulent tenacious and it is difficult to control it as to control the wind.

1. Aa ta etu manah punah cratve dakshay jeevase. Jyokcha suryam drishe. (Rig. 10/57/4)
2. Vayam soma Vrata tava manastanooshu bibhratah prajavantah sachemahi (Rig 10/57/6)
3. See, Chapter 3/54-56
4. See, Chips from a Vedic Workshop. P. 47

The following two *shlokas* of *Shrimadbhagawad gita* are very clear on the faculty of Mind.

Chanchalam hi manah Krishna Pramathi balavad dridham.
tasyaham nigraham manye, vayoriv sudushkaram.(6.34)

In this *Sholka,* three factors of Mind are stated, namely (i) it is unsteady (Chanchal), (ii) Mind is strong and powerful (*balaved dridham*) and (iii) it is very difficult to control (*nigraham sudushkaram*). In reply to Arjun's above version, Lord Krishna suggests the ways to control the Mind.

Asanshayam mahabaho mano durnigraha chalam.
abhyasen tu kaunteya vairagyen cha grihyate. (6.35)

Mind is undoubtedly unsteady and difficult to keep under control; but by proper attempts, it can be brought under control through dispassion and constant practice in meditation. In this *shloka*, two says for controlling the Mind have been suggested, namely (i) constant practice (*Achyasa*), (ii) detachment (*Vairagya*). According to Yoga Philosophy, the same idea is supported.[1]

When we have understood the force of Mind, we must know how to utillise the force properly. Control over Mind and intellect can lead to salvation.

According to the Rigveda-

Yunjate mana uta yunjate

Dhiyo vipra viprasya brihato vipashchitah. (5.81.1)

The devotees (*Viprah*) concentrate (*Yunjate*) their Mind in the Great Lord, the all-knowing, and so doing this they concentrate intellect (*dhiyah*).

Let loose, this mind can create havoe. It can lead to vices and sensuous pleasured destroying one's health. In that case, this Mind is described a long-tongued dog, i.e., The mind which is avaricious and voluptuous- "*apa shvanam shnathishtana sakhaya deerghahuhvyan,* (Samveda 697)."

In 10th Mandala of the Rigveda there is complete Sukta (No. 58th) which reletes to the calling back of the Mind to the centre (Manaavvartanam). The sukta goes on the repeating that your Mind, which runs about hither and tthither, has to be brought back to one point so that you concentrate on the problems of life.

---

1. Abhyasavairagyabhyam tannirodhah Tatra sthitau yatno abhyasah (1/12-13)

Kathopnishada describes Mind through a beautiful simili *"Aatmannam tathinam viddhi, Shareeram rathamev thu buddhim thu sarathim viddhi manah pragrahamev cha."* (3.37)

In this human body, which is like a chariot, Soul in its owner, intellect is its driver and Mind is the reins (in a chariot, horse is controlled through reins). so in this body, Mind is like reins, controlling the whole show.

Function of the Mind is to carry out the message received from the soul. Mind then activates the brain for taking final decision. What brain ultimately decides, action is taken according to that by concerned senses. This is the brain-mind relation according to vedic theroy.

Kanad Philosophy described Mind as an infinitely small (अणु) object.[1] Mind is a point in the dimension of time and space. It things of only one thing at a time. in conjunction with the relevant sense (इन्द्रिय). There is only one Mind in one body.[2]

It here were more than one Mind, one could contemplate many things at one time, thus causing confusion. This is time-space. When you see, you do not hear, and when you hear, you do not think. Mind is one of the most wonderful organs. When senses connect themselves with Mind they work, Mind is a spectrum between senses (इन्द्रियाँ).

At the time to sleep, Mind closes its shutters, because, at that stages, it is away from senses and it neither see nor scents. At the dreaming stage, it works but without senses. Dreams depict the real image of the man. Whatever he does, scents sees during awkening stage, Mind depicts the same in dreams.

Action of Mind have been discussed in detail beautifully in chapter 34 of the Shuklayajurveda. The subject matter of the first six mantras of this chapter is Mana=Mind and the exponent is Rishi shivsankalpa (शिवसंकल्प).

Mantra No.1:

Yajjagrato duramudaiti daivaim tadu suptasya tahaiveti.

Durangamam jyatisham jyotirekam tanme manah
shivasankalpamastu.

---

1. See- vaisheshike 1/23- Tababhavadanu manah
2. See- Nadarshan 3/2/59- Jnanayaugapadydekam manah

The one which runs away whilst awakened and similarly which runs away when asleep. one which move afar, which is the light of light,[1] that my mind be of blissful ideas.

Mantra No.2 :

Yena karmanyapaso manishino yajne krinvanti vidatheshu dhirah. Yadapurvam Yakshamantah prajnam tanme manah shivasankalpamastu.

By which yajna and, on another occasions, the learned, wise and the intelligent persons perform their actions, one which is the best amongst the organs of senses, that my Mind be of blissful ideas.

Mantra No. 3 :

Yataprajnanamuta cheto dhritischa

yajjyotirantaramritam prajasu. Yasmanna rite kin chana Karma kriyate tanme manah shivasankalpamastu.

On which is the instrument of knowing (*prajnana*), thinking (*chetah*), retaining (*Dhritieh*), one which is the immortal light of all senses, one without which not a single deed in performed, that may mind be a blissful ideas.

Mantra No.4 :

Yanedam bhutam bhuvanam bhavishyat parigrhita mamritena sarvam. Yena yajnastayate saptahota tanme manah sihvasankalpamastu.

By which coupled with immortal God, the past present and future appears as if all within reach, by which is ordained the yajna of seven Hotas (the seven organs in the head-two eyes, two ears, two nostrils and mouth). That my Mind be of blissful ideas.

Mantra No. 5 :

Yasminnrichah sama yajumsi yasminprastisthita rathanabhavivarah yasminschittam sarvamotaim prajanam tanme manah shivasankalpamastu.

wherein the Richa, Sama yajurveda and the Atharvaveda, like spokes within the wheels of a cart, are included, and all the knowledge of human

---

1. See- R.T.H. Griffith also- The lights's one light: the illuninator of all the perceptive senses.

beings is woven, many that my mind be activated with noble resolve of propagating the Vedas.

Mantra No. 6 :

susarathivasraniva yanmanusyanneniyate, bhisubhirvajina ivahritpratistham yadajiram javistham tanme manah shivasankalpamastu.

As a skillful charioteer drives with reins, the flert, tool, horses, so does the Mind control man. It dwells within the heart, is free from age, drives man into sensuality and is most rapid. May that my Mind be moved by right intention.

These six verses quoted, above fully depict the usefulness, functions and position of Mind in all respects. The only prayer sought that is that is should be actual with noble resolves. Thus the crux of the whole problems of Mind is because it is normally driven away towards viees have this repeated prayer.

Cited books-

1. Arya Muni, Vaishesikaryabhashya, Rohtak: Haryana Sahitya Sansthan, 1st edition, 2039 Vikram Samvat.
2. Griffith, R.T.H. Yajurveda Samhita-English translation, Delhi: Parimal Publication, 2002.
3. Khosala, I.D. Chips from a vedic workshop, Delhi: DAV College Managing Committee, 1993, 1st Edition.
4. Maharshi Balmiki, Yagavashistha, Bombay: Tukaram Jawaji, Nirnana Sagar Press, 1918.
5. Panashikar, V.L. Isadi Astottarasatopanisada, Varanasi: Chowkhamba Vidyabhawan, 1991.
6. Rigveda Samhita, Delhi: Veda Pratisthan, 1977.
7. Saraswati, Satyaprakash et al., Yajurveda Samhita English Translation, Delhi: Veda Pratisthan, Arya Samaj Mandri Marg, 1996.
8. Srimadbhagaved Geeta, Gorakhpur: Geeta Press 2048 vikran Samvat, 148th Edition.
9. Yogadarsan (small size). gorakhpur: Geeta Press, Samvat 1993 6th edition (only surta).

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (247-255) January-June 2018 ISSN 2277-4351

Mental Health and Mind in Indian Perspective

-Naveen Pant

Assistant Professor (Adhoc),
Department of Psychology,
Gurukula KangriVishwavidyalaya,
Haridwar, Uttarakhand,

ABSTRACT

The concept of mental health is old is as new as it is. Mental health and related constructs such as well-being, wellnessand psychological health have been discussion of research and study from a long time because of the uncertainties in the psychological concepts. This review study explores the modern perspectives on mental health and mind, thenhave a look on Indian perspectives as the key to mental health. Most of the studies indicate that improvement of spiritual and religious qualities; values and resources affect the health and intervention. Finally this study explores the stuff of health, mental health and mind in Indian Psychology/ Philosophy to cure it authentically, such as: CharakSamhita (SutraSthan 1/ 56) identified mental health as balance in Trigunas-"Vat, Pitta and Kapha are Physical Disorders and Rajoguna and Tamoguna are Mental Disorders."

KEY WORDS: mental health, mind, Indian Psychology

Introduction

Health is one of the most concepts being study, research, discussion and controversy among scholars of different areas. After a long research and experiments, modern science has many positive and negative results in terms of physical and mental health. So far the physical health as a single concept is concerned modern science has done enough and still the

research is going on, along with the Indian perspectives have proved his effectiveness as Yoga and other theories. In spite of getting such results and facts, the concept of health seems to be incomplete because of inability *to conceptualize the concept health including mental health*. This study is an attempt to find out the concept of mental health and mind in Indian Philosophical/ Psychological context.

As it is discussed earlier mental health/ health, from a long time is very controversial concept. That is why WHO couldn't become able to define mental health without any controversy. This problem leads our attention to this which is specific, different and above the scientific approach. Today we shall discuss the causes of uncertainty and solutions of these problems with the help of Indian Philosophy/ Psychology. According to 'Sankhya Karika' there lie 3 types of evidences (Praman) in the world:

1. Sensory (Pratyakshya)
2. Logical (Anuman)Words (Shabd)

Science believes only first two of them Pratyakshya and Anuman. All these things which lie in the area of sensory world, is called Pratyaskhyapraman. On the other hand all the things or thoughts which lie in thelogical world, is called Anumanpraman.

Modern Perspectives on Mental Health and Mind

Mental health is as important as physical health to the overall well-being of individuals, societies and countries. Yet only a small minority of 450 million people suffering from mental or behavioural disorders are receiving treatment. Advances in neuroscience and behaviouralmedicine have shown that, like many physical illnesses, mental and behavioural disorders are the result of a complex interaction between biological, psychological and social factors. While there is still much to be learned, we already have the knowledge and power to reduce the burden of mental and behavioural disorders worldwide (The World Health Report, 2001).

As we know the mental health and normality are very controversial concepts among psychologists, it is very hard to define mental health in single sentence because of personal, cultural and other differences. Before discussing the meaning of mental health and defining it operationally, we will have a short look on the meaning of health.

The English word 'health' comes from the Old English word hale,

meaning ôwholeness, a being whole, sound or well. As word meaning indicates generally health means to be well and free from disease. Scientifically if say health is the level of functional or metabolic efficiency of a living being. The World Health Organization (1946) defined health in its broader sense as "a state of complete physical, mental, and social well-being and not merely the absence of disease or infirmity." This definition of health was challenged due to some confusion made by this definition. According to An article in The Lancetpublished in 2009, WHO definitions of health will not do in an era marked by new understandings of disease at molecular, individual, and societal levels.The Definition has not been amended since 1948. During the Ottawa Charter for Health Promotion in 1986, the WHO said that health is: *öa resource for everyday life, not the objective of living. Health is a positive concept emphasizing social and personal resources, as well as physical capacities.ö* Generally the concept of health is taken as the physiological health while it include both Physical and mental health. Medilexicon's medical dictionary (n.d.) has three definitions for health-

1. The state of the organism when it functions optimally without evidence of disease or abnormality.
2. A state of dynamic balance in which an individual's or a group's capacity to cope with all the circumstances of living is at an optimal level.
3. A state characterized by anatomic, physiologic, and psychological integrity, ability to perform personally valued family, work, and community roles; ability to deal with physical, biologic, psychological, and social stress; a feeling of well-being, and freedom from the risk of disease and untimely death.

What is Mental Health? So far the meaning of mental health is concerned it describes a level of psychological well-being, or an absence of a mental disorder. From the perspective of positive psychology or holism, mental health may include an individual's ability to enjoy life, and create a balance between life activities and efforts to achieve resilience. Mental health can also be defined as an expression of emotions, and as signifying a successful adaptation to a range of demands. The World Health Organization defines mental health as ôa state of well-being in which the individual realizes his or her own abilities, can cope with the normal stresses of life, can work productively and fruitfully, and is able to make a

contribution to his or her communityö(Wikipedia). According to The American Heritage« Dictionary of the English language (2009) mental healthis ôA state of emotional and psychological well-being in which an individual is able to use his or her cognitive and emotional capabilities, function in society, and meet the ordinary demands of everyday life.ö And in other words he defines mental health as a person's overall emotional and psychological condition.

Some psychologists study, mental illness exploring the concept of mental health. So the question arises that what the mental illness is? Is it a disease entity, as in the standard medical model, or a myth, as in postmodern critiques, or something in between? A discussion of mental illness needs to begin with a discussion of illness in general, followed by specific matters related to psychiatric conditions. In this section we review this general issue conceptually. Illness can be defined as something distinct from health. A common view, perhaps the most parsimonious, in medicine is that illness is the absence of health. Hence illness is defined negatively: the opposite of health. A potential problem with this view is that it shifts the burden to defining what health is, and there are as many different views about the nature of health as there are about the nature of illness. An alternative is to define illness based on a specific set of requirements, leaving aside any definition of health. On this perspective, health is the absence of illness. Illness is defined positively, and health negatively. The psychiatrist Aubrey Lewis (1967) took this approach and contrasted it to the other one. He begins by quoting the World Health Organization's broad definition of health as "a state of complete, physical, mental, and social well-being and not merely the absence of disease or infirmity". Lewis goes on to provide criteria for illness based on the process of medical practice: "The criteria of physical illness and health depend upon: first, the patient's account of how and what he feels, i.e., upon subjective statements; secondly, manifest signs of satisfactory or impaired function or structure; and thirdly, occult signs of such adequacy or impairment, detected by special instruments or procedures." Up to this point, Lewis has not discussed psychological or social aspects of physical illness. He does not feel that such aspects are necessary parts of the definition of physical illness, but they are nonetheless important.

The psychiatrist and philosopher William Fulford (1989) agrees in his book, Fulford engages in a tightly reasoned expositionof the nature of psychiatric diagnosis. He begins with the simple butpowerful critique by

Thomas Szasz (1974), who argued that physical diseaseconcepts are facts, whereas mental illness concepts are value-laden. Since medicaldisease requires the absence of value judgments, mental illness is not amedical disease. In that respect, one cannot differentiate concepts of physical and mental illness.

Fulford focused on the concept of "action failure" as being the common thread. In both mental and physical illness, the patient experiences an inability to function in daily living owing to physical or psychological difficulties.

Hence Daniels identifies mental and physical illness, though admitting the need to base such identification on evidence for a biological basis for mental illness. He concludes by agreeing with Lewis's critique of the broad WHO definition of health. "The biomedical model has controversial features. First, some insist it too narrowly defines health as the absence of disease. In contrast, some (like WHO) view health as an idealized level of well-being. But health is not happiness, and confusing the two over-medicalizes social philosophy. Nor does a 'narrow' biomedical view of disease mean that we should ignore its social etiology" (Daniels, 1985).

If we study the concept of normality deeply we find different meanings of it, as Offer and Sabshin (1966) have surveyed in Psychology, Psychiatry, Sociology and Anthropology. *Normality as health:* in this meaning, common to both traditional medical-psychiatric and lay usage, normality simply means "not sick." *Normality as ideal (utopia):* it seeks a definition of normality in terms of a desirable or ideal state. Views of positive mental health (e. g., Jahoda, 1958) or those which emphasize the goal of psychological development as self-actualization (Maslow, 1954; Goldstein, 1939), becoming a "fully functioning person" (Rogers), or attaining the "mature personality" (Allport, 1961) are of this class. *Normality as average:* a third perspective derives from the statistics of measurement on NPC. *Normality as socially acceptable:* it believes that behaviour can only be judged in terms of the social context within which it occurs. If it conforms the normative expectations of society, it is normal; if it does not, it is deviant or abnormal (of ill mental health). *Normality as process:* it attempt to characterize normality in terms of processes over time rather than in cross-sectional perspective.

Mind in modern science : The word Psychology is made of two

words Psycho + Logy, which mean study of soul, later altered into study of mind in the period of Dr. Sigmund Freud and presently taken as the study of behavior and mental process.So far the concept of mind is concerned; it is mostly discussed by the Dr. Sigmund Freud and his followers in his workings.

Indian Perspectives on Mental health and Mind

As per Indian Psychology/ Philosophy the ultimate goal of life is to achieve ultimate truth (Paramatma). To get this goal healthy body and the mind is needed. An Indian scholar'Maharshi Charak' in his famous creation 'CharakSamhita' described the importance of the health (aarogya):

धर्मार्थकामोक्षाणामारोग्यम् मूलमुत्तमम्

Dharmarthkaamokshaanaamarogyammoolmuttamam,

रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च

Rogastsyaphartarahshreyasojeevitasya cha.

प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्

Pradurbhootomanusyanaamntaraayoomahaanayam,

कः स्याक्तेशां भामोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः

Kahsyakteshaambhamopayityuktwadhyanmasthitaa.

(Essence: The foremost quest of mankind is health. Fulfillment of all goals either worldly or spiritual is dependent on health) - CharakSamhita/ Sutra Sthan - 15, 16

To get health and mental health the major need emphasized by the Ayurveda is the balanced diet plan (ahaar), enough sleep (needra/ swapn) and control over the material desires (brahmcharya).

त्रयं उपस्तंभा इति आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति

Trayaupastambhaitiaharahswapnobrahmcharyamiti

(Aahar (diet) is one of the factors of TraiyaUpstambha, others being Nidra & Brmhacharya.) - CharakSamhita/ Sutra Sthan - 11-35

In *Ayurvedic* science, health and ill health all are the result of the kind of food an individual consumes. Further even if good quality of food is ingested it cannot amount to well-being until it is properly digested and assimilated. Thus good health depends on both the quality and quantity of food ingested, as well as the body's capability to assimilate it. This

capability or power of assimilation is called *Agni* .in *ayurvedic* medicine. *Agni* is described to be *Jathragni* at level of digestion, and *Dhatwagni* and *Bhutagni* at the level of assimilation. Finally if talk about the definition of the health in Indian Philosophy/ Psychology, it is described as the balance of the body and the mind by the maharishi Shushrut an ancient Indian Surgeon:

समदोषः समाग्निश्चसमधातुमलक्रियः।

Samdosahsamagnischsamdhatumalkriyah

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

Prasannatmendriyamanaswasthityabhidheeyate.

(Balance in vaat, pitta and kaph (doshas), flames or metabolic fires (agni), tissues (dhatu), eliminating processes of waste products (malkriya) and happiness of soul or consciousness (aatama) and senses is called health (swasthya). - ShushrutSamhita, 15/41

The major cause of the all the physical problems is the mental illness as it is found in modern and ancient studies. Frequent occurring and observable problem of current time is faulty life style and aimless life. Mentality of the society has become to get economy and have material fun. That is why Bhagwan Shree Krishna in Bhagwadgeeta told:

ध्यायतो विषयान्पुन्सः संगस्तेषूपजायते

Dhyayatovishyanpunsahsangasteshoopjaayate,

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते

Sangaatsanjaayatekaamahkaamaatkrodhobhijayate.

(Essence: The origination of diseases is only due to lust of human being towards life and physical world. Diseases originates because of faulty life style and perceptions) - Shreemad Bhagwadgeeta, 2/ 62

Psychology assumes metal health to be, absence of the psychological diseases or presence of the psychological wellbeing. And Indian Psychology assumes mental health to be increase in the Rajoguna and the Tamoguna. According to CharakSamhita (SutraSthan 1/ 56):

"Vat, Pitta and Kapha are Physical Disorders and Rajoguna and Tamoguna are Mental Disorders." - CharakSamhita (SutraSthan 1/ 56):

Same as in Mahabharata (Santiparva 16/13) the mental health is defined as:

सत्वं राजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः।

(satvamrajastamitimaanasaahsyustrayogunaah),

तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्

(tesamgunanamsaamyamyaktdaahuhswasthlakshanam).

(Satva, Raja and Tama are three mental traits. The balancing state of the three traits is the state of actual mental health) - Mahabharata (Santiparva 16/13)

PatanjaliYogasutra is leading creation of MahamuniPatanjali, which totally describes the psychological concepts with their clinical use also. The famous and root sutra of PatanjaliYogasutra where Yoga is explained as :

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

(Yogashchittavrittinirodhah)

(Yoga is restraining the mind-stuff (Chitta) from taking various forms (Vrttis) -Patanjali Yoga Sutras, 1/2

REFERENCES

Allport, G. W. (1961). *Pattern and growth in personality.* New York: Holt, Rinehart and Winston.

Daniels, N. (1985). *Just Health Care.*Cambridge: Cambridge University Press.

Fulford, K. W. M. (1989). *Moral theory and medical practice.*Cambridge: Cambridge UniversityPress.

Goldstein, K. (1939). *The organism.* New York: American Book Company.

Jahoda, M. (1958).*Current concepts of positive mental health*. New York: Basic Books.

Lewis, A. (1967). *The state of psychiatry: Essays and addresses.* New York: Science House.

Maslow, A. H. (1954). *Motivation and personality.* New York: Harper.

Offer, D., and Sabshin, M. (1966).*Normality: Theoretical and clinical aspects of mental health*. New York: Basic Books.

Szasz, T. S. (1974). *The myth of mental illness: Foundations of a theory of personal conduct.* Rev.Ed. New York: Harper and Row.

The American heritage« dictionary of the english language, (2009). Houghton Mifflin Company (4th ed.).Retrieved from http:// www.thefreedictionary.com/Mental+health

World Health Organization (1946, June19û22). *WHO definition of Health*, Preamble to the Constitution of the World Health Organization as adopted by the International Health Conference: New York.

World Health Report (2001). *Mental health: new understanding, new hope*. The World Health Organization.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (256-263) January-June 2018 ISSN 2277-4351

Gayatri Mantra: A Technique of Relaxation

Dr. KC Barmola[1]

Abstract

It is clearly depicted by the scientific studies that stress has been one or other causal factor in physical and psychological illness in human. Hence numerous ways are being explored to manage stress in our day today lives by researchers. Current study is an effort to find an alternative ways to handle stress. This is done with the help of literature available in the social domains. Finding suggests that *Gaytri Mantra* can be one the easiest, cheapest and little time consuming technique of relaxation. It is recommended to conduct more and more qualitative and quantitative researches on *Gayatri Mantra* to gather more and more scientific evidences to present *Gayatri Mantra* as a therapy to treat stress in human lives.
Keywords: Gayatri Mantra, Relaxation, Technique, Stress, physical and psychological illness.

Introduction

There is life at times full of enjoy and other full of sufferings. The philosophy of Vedanta divides *dukha* in three forms-*Aadi daihik, Aadi Bhoutik, Aadi daivik*. In a basic text (*Tattva Samasa*) for Yoga philosophy (*Sankhya*) the author *Kapila* talks about three sources of pain with which we create our own suffering. He says in *Sutra 22*: *trividham dukham* (three kinds of pain/suffering). And these are caused by separate mechanisms, which he introduced in *Sutra 7*: *adhyatmam; adhibhutam, adhidaivam*. '*Adhi*' means "related to", thus first group *adhyatman* relates to suffering caused by our self; *adhibutam* is suffering by the world of elements, in other words external world, whether people or situations. The third is *adhidaivam*, suffering caused by powers beyond us or divine powers. Similarly philosophy of Budha also states that world is full of suffering. With reference to suffering and pain in human life the scenario

1. Assistant Professor, Amity Institute of Behavioural and Allied Sciences, Amity University Rajasthan, Jaipur

has bit changed. Now the terminology has changed. Instead of suffering and pain, tension and stress is commonly used. Which somewhere or other represents the same suffering. Hence the purpose of the current study is also to find that how tension and stress has replaced the word suffering and pain and to find a new ray of hope to remove tension and suffering from human lives.

Any intrinsic or extrinsic stimulus that evokes a biological response is known as stress. There are number of emotional and physical disorders that are linked to tension and stress. It can include depression, anxiety, heart attacks, stroke, hypertension, immune system disturbances, a host of viral linked disorders ranging from common cold and herpes to AIDS and even some types of cancers, also autoimmune diseases such as rheumatoid arthritis and multiple sclerosis. In addition to said above stress can have also direct effects on the skin (rashes, hives, atopic dermatitis, the gastrointestinal system (GERD, peptic ulcer, irritable bowel syndrome, ulcerative colitis) and may contribute to insomnia and degenerative neurological disorders like Parkinson's disease. In fact, it's very difficult to find any disease where stress is not playing any part of the body that is not affected (see stress effects on the body stress diagram) or. This list will undoubtedly grow as the extensive ramifications of stress are increasingly being appreciated (https://www.stress.org/stress-effects/). Stress has both positive and negative effects. The positive effects of stress include maintaining homeostasis, which can make survival continue. Usually as a nature of man, the harmful effects of stress received more attraction by an individual on account of its role in various diseases.

Stress effects on the body stress diagram

As has been discussed in this review, various factors, for example, hormones, neuroendocrine mediators, peptides, and neurotransmitters are involved in the body's response to stress. Numerous disorders come from stress, especially if the stress is severe and prolonged. The medical science needs to pay greater importance for the role that stress can play in much illness and treat the patient accordingly using both medicine and alternatives (lifestyle style, exercise, nutrition, and stress management programs) therapeutic interventions.

The compensatory responses to stresses are called stress responses. Based on the type, timing and severity of the applied stimulus, stress can exert various actions on the body ranging from alterations in homeostasis

to life-threatening effects and death. In many cases, the pathophysiological

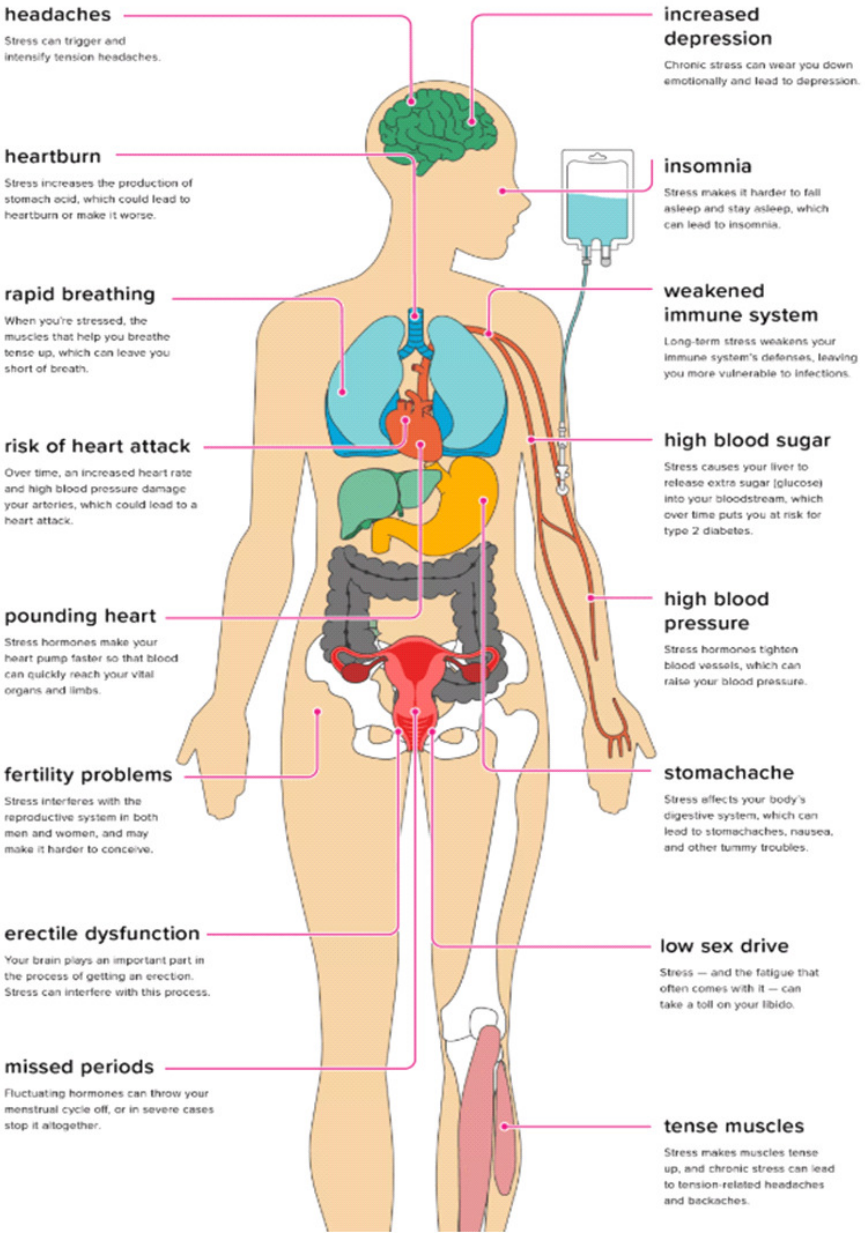

complications of disease originated from stress and are subjects to exposed stress, e.g. those that work or live in stressful environments, have a higher likelihood of many disorders. Stress can be initiated as factor for many diseases and pathological conditions. (Yaribeygi, et al, 2017). Studies have suggested that chronic exposure to stress may have an influence on increased blood pressure. Individuals who had stronger responses to stressor tasks were 21% more likely to develop blood pressure increase when compared to those with less strong responses (Gasperin, et al, 2009).

There are number of other researches that show stress has got severe effects. Present study is more focused on treatment part. Therefore one among various alternatives ways to treat stress is being explored in the current study. However current study is not only an attempt to review the available literature on *Gayatri Mantra* as techniques of relaxation but also propose *Gayatri Mantra* as a technique of relaxation.

Gayatri Mantra:- *Gayatri Mantrai i*s a Vedic prayer to ignite the intelligence, it is also known as one of the well-known and widely chanted mantra. This is originated from Rig Veda (III.62.10). This is related to the sun energy within and without. Vedic mantra is energy based on sounds and is of a great help in treating physical and mental illnesses. Vedic mantra treatment emphasizes the chanting of mantra and Vedic style of living. *Gayatri Mantra* is as follows:-

"Om bhoor bhuvah swah tatsaviturvarenyam bhargo devasya dhimahi dhiyo yo nah prachodayaat"

(May Almighty illuminate our intellect and inspire us towards the righteous path)

Review of Literature

There are some of the current reviews discussed here as an attempt to find *Gayatri Mantra* as a relaxation technique. A comparative study based on *Gayatri Mantra* (GM) and Poem Chanting (PL) on Digit Letter Substitution (DLST) concluded that both GM and PL led to improvement in performance, as assessed by DLST. But the influence of GM had significantly higher than PL in net score of female group (Pradhan and Derle, 2012). The effect of collective yogic practices on social adjustment of college students in urban area by Verma & Gurvendra (2016) indicated the effectiveness of the yogic practices in improving social adjustment among urban collage students.

Findings of Tomasino, et al. (2013) state that chanting of mantra triggers activation in the interior frontal gyrus, prefrontal cortex, anterior cingulated cortex, limbic and superior parietal areas, middle cortex, and precentral cortex. Another study of Rees (2013) concludes that Transcendental Meditation(TM) practice can reduce symptoms of posttraumatic stress (PTS).

A research by Singh, et al (2012) evaluated the effect of Yogic practices on Autonomic Function Examination (AFE) Scale in incomplete Spinal cord injured patients. It was found a significant impact of Yoga (*Gayatri Mantra* or similar prayer) on AFE scale among spinal cord injured patients. Chakraborty (2015) studied prayer and mantra as a healer. It enhances one's subconscious level which leads to clarity of mind and thought. It also concluded that prayer and mantra are two prime ways of spiritual healing. A study by Deekshitulu (2015) found that mantras can have beneficial effects on the health of the body as well as positive results in Mental & Physical levels. Mantras have become an important tool in today's Mental Illness our in society. According to Verma, et al (2017) in which its assessed the efficacy of selective hath yogic practices (Savita and dhyan-28 min, *Gayatri mantra* chanting-2min and etc) on general wellbeing of mankind finally, and firmly stated that Hath yoga practices can play an efficient role in the enhancement of positive general wellbeing in the adults. Mantras can also help the general psychological well-being of college Students. Volunteers selected and listened to the mantra of their choice in the test period. Psychological tests were conducted before and after the test period. The findings revealed a clear improvement in the general cheerfulness and clarity of mind of the subjects (Lolla, 2018). A study conducted by Sharma and Misra (2018) on Religio-Spiritual Interventions for Health and Well-Being found that religio-spiritual facilitated coping with diverse health challenges. The effect of *Gayatri Mantra* was also helpful for elders. Sang, et al (2018) studied the effects of mindfulness with *Gayatri Mantra* on Decreasing Anxiety in the Elderly. Mindfulness with *Gayatri Mantra* could decrease anxiety in the elderly Hindus. This therapy can be used as an alternative to prevent the recurrence of anxiety in the elderly.

Gaytri Mantra has played significant role in handling stress. A study by Singh & Adhikari (2016) examined the impact of Yoga Practices on Occupational Stress among Indian Army Personnel. Result revealed that participants experienced a statistically significant ($p < 0.05$) reduction of

stress at work place. The finding suggests the beneficial effects of yoga practices as well as yoga-based intervention in the management of emerging occupation related stress and associated hazards among force personnel. Another study by Kumar and Sharma (2017) assessed the effect of selective Hath yogic practices on stress (*Gayatri Mantra* Chanting and etc). The result was statistically significant and found effectiveness of hath yogic practices in decreasing the level of stress among cricket players. A similar study conducted by Deekshitulu (2017) argues that complete presentation of various Indian cultural methods (Mantra and others) can reduce the stress and related mental and physical illnesses like Stress anxiety, depression etc. Indian cultural methods can also enhance physical and mental, and reduce stress.

Conclusion

Health and wellness of a man is of utmost importance. Having reviewed briefly about the consequences of stress (emotional and physical disorders linked to tension and stress, depression, anxiety, heart attacks, stroke, hypertension, immune system disturbances, a host of viral linked disorders ranging from common cold and herpes to AIDS and even some types of cancers) in human lives. In another words stress cam be one or other causal factor in physical and psychological illness in human. However there are several techniques of managing stress but the importance of alternative approaches like Chanting of *Gayatri Mantra* (which not only contributed in the cognitive development of students but also enhanced general well being of human) cannot be ignored. Though there are little evidences on *Gayatri Mantra* as a relaxation technique in present scenario even if author is optimist on the basis of current study about *Gayatri Mantra* as one of the best emerging relaxation technique in future that would be easiest, cheapest and little time consuming.

Recommendations:

There are following suggestions proposed by author to build a strong ground for *Gayatri Mantra* as a relaxation techniques in future:-

1. Researchers need to take more and more empirical initiative in testing *Gayatri Mantra* as an alternative medicine in treating clients.
2. Investigators need to show courage in experimenting with *Gayatri Mantra* as a relaxation technique in various settings.

3. One needs to utilize interdisciplinary platform to present *Gayatri Mantra* as a strategy to handle stress.

References

Chakraborty, S. (2015) Prayer and Mantra as a Provenance of Healing: A Sociological Analysis. *Scholarly Research Journal for Interdisciplinary studies, 3(21),* 1118-1125

Chamoli, D., Kumar, R, Singh, A. and Kobrin, N. (2017) The effect of mantra chanting on the performance IQ of children. *Indian Journal of Positive Psychology, 8(3),* 288-290

Deekshitulu, B.P.V. (2015) Role of Mantras in Mental Health. *International Journal of Humanities & Social Science Studies, 1 (4),* 34-39

Deekshitulu, B. P. V. (2017) Stress management for mantra techniques. *MOJ Yoga Physical Therapy. 2(2)*, 42-43 (https://www.stress.org/stress-effects/)

Gasperin, D., Netuveli, G., Dias-da-Costa, J. S. and Pattussi, M. P. (2009) Effect of psychological stress on blood pressure increase: a meta-analysis of cohort studies. *Cad Saude Publica, 25(4),* 715-26

Kumar, A. and Sharma, G. D. (2017) Stress Management in Cricket Players Through Yogic Techniques. *International Journal of Yoga and Allied Sciences, 6 (2),* 123-126

Lolla, A. (2018) Mantras Help the General Psychological Well-Being of College Students: A Pilot Study. *Journal of Religion and Health, 57(1),* 110û119

Malhotra, V., Goel, N., Dhar, U., Garg, R and Tripathi, Y. (2016) Comparison of Mind Control Techniques: An Assessment of Reaction Times. *Bangladesh Journal of Medical Science, 15 (04),* 596-600

Pradhan, B. and Derle, S. G. (2012) Comparison of effect of Gayatri Mantra and Poem Chanting on Digit Letter Substitution Task. *Anc Sci Life, 32(2),* 89-92. doi: 10.4103/0257-7941.118540.

Rees, B., Travis, F., Shapiro,D. and Chant, R. (2013) Reduction in Posttraumatic Stress Symptoms in Congolese Refugees Practicing Transcendental Meditation: *Journal of Traumatic Stress, 26(2),* 295-298.

Sang, A. K. C., Meidiana, D. and Widyastuti, R. H. (2018) Effects of Mindfulness with Gayatri Mantra on Decreasing Anxiety in the Elderly. *Holistik Nursing and Health Science 1(1),* 35-45

Sharma, S. and Misra, G. (2018) Religio-Spiritual Interventions for Health and Well-Being. *Psychosocial Interventions for Health and Well-Being*, 203-213

Singh, V. K. And Adhikari, R. (2016) Impact of Yoga Practices on Occupational Stress among Indian Army Personnel. *International Journal of Yoga and Allied Sciences, 5(2),* 108-112

Singh, A., Sharma, V. P., Trivedi, J. K., Shukla, R., Tiwari, S. and Kumar, K. (2012) The effect of Yogic practices on Autonomic Function Examination (AFE) Scale in incomplete Spinal cord injured patients. *Indian Journal of Preview Social Medicine, 43(4),* 409-413

Tomasino, B., Fregona, S., Skrap, M. and Fabbro, F. (2013) Expertise and Modality Effects on Meditation Network: An ALE meta-analysis study. (T. Wager, Ed.) *Frontiers in Human Neuroscience , 6,* 1-11.

Verma, S. and Gurvendra, A. (2016) A Study on the Effect of Collective Yogic Practices on Social Adjustment of Collage Students in Urban Area. *International Journal of Science and Consciousness, 2(1),* 36-40

Verma, S., Kumar, K. and Meena, R. (2017) The efficacy of selective hath yogic practices. *International Journal of Science and Consciousness, 3(4),* 78-83

Yaribeygi, H., Panahi, Y., Sahraei, H., Johnston, T. P., & Sahebkar, A. (2017). The impact of stress on body function: A review. *EXCLI Journal, 16,* 1057-1072. doi:10.17179/excli2017-480

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (264-269) January-June 2018 ISSN 2277-4351

Yoga: Control of Divergent Modifications (Vrittis) of Mind

-Rajjan Kumar

Department of Applied Philosophy
M.J.P. Rohilkhand University,
Bareilly-243006, UP, India

Abstract

Yoga is nothing but bringing under control the activities of one's own mind. It is a state of equanimity or balance of mind. It shows the higher perspective of action, which comes through detachment. Many of us believe or think that Yogasadhana is a spiritual realization comes only through divine benediction and to be spiritual; one has to abandon worldly duties and enjoyments and lead an ascetic life. This view seems to be baseless when we go deeper into the problem. The yogin simultaneously practices both aspects of life, empirical and spiritual, without any botheration. It is not the simple practice of asana-pranayama and mind concentration but a great art of successful life and skilful action.

Introduction

The word 'Yoga' means communion of the petty self with the higher universal Self, and 'psychology' is the science of the psyche or soul. Psychology, according to Indian Philosophy, aims at concentration of mind in its totality, so that the ultimate truth may be realized. Aphorisms of Yoga not only enunciate the laws and principles of controlling the mind, but also teach how to translate them into action.

Yoga and *Trividha Duhkha*

Yogasadhana is an ideal stage that helps to curb own passions and maintains calmness at quite opposite situation i.e. in cold and heat, in joy and sorrow, in honor and dishonor. It is the truly state of happiness with having perfect stage of health-physical and mental. Yoga is not yoga in its true sense. "Yoga" means union of our individual consciousness with the Universal Divine Consciousness in a super conscious state known as *Samadhi*.

Man is a complex of intellect, will and emotion; he is a being who thinks wills and feels. Intellect has given rise to the philosophy of knowledge; will to the philosophy of Action; and emotion to the philosophy of Devotion. All these three show the different aspects of health and happiness of man. It is stated that health means a state of physical, mental, social and spiritual well-being of an individual self or man. Health includes balanced mind, controlled senses, intuitive intellect and integrated ego to have perfect evolution of all-important faculties (viz. action, emotion, will and wisdom) of personality into the state of Self-realization. On the other hand happiness means practical realization and annihilation of the three kinds of pains[1]-*adhyatmika* (physical and mental sufferings produced by natural and intra-organic causes), *adhibhautika* (physical and mental sufferings produced by natural and extra-organic organic causes) and *adhidaivika* (physical and mental sufferings produced by supernatural and extra organic causes).

Yoga, *Samskara* and *Trividha Sarira*

Modern philosophers, thinkers and scientists are taking significant interest in Yoga. Even today, there are some people who ignore the existence of mind beyond gross body, not to speak of the subtle states of mind - conscious, subconscious and super conscious. ôThe behaviorist school claims that man is practically a machine and that consciousness itself is only an illusion". According to Freud, Jung and others mind can be compared with iceberg, for, its major part- subconscious and superconscious - is actually submerged and unfathomed. The state of Samadhi and the path of achievement are unknown to the modern thinkers.

Irrespective of that Indian ancient thinkers always attached a great significance to it and impressed its vital bearing on the mind of man. This hidden portion of mind is called *samskara* by ancient Indian Psychologists. To some extent, they could explain the sputa (sleeping), *svapna* (dreaming), *jagrata* (awakened) states under conscious and subconscious categories. The *turiya* state (superconscious), however, remained untouched. Even telepathy, clairvoyance and the extrasensory powers are also not to be confused with the state of the fullest concentration and control of mind and other organs (*Samadhi*).

---

1. अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:] *Samkhyadarsana* (Kapil) 1/1, Gajananshastri Musalgaonkar (edt.2000), Choukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi; C.D.Sharma(1994), A Critical Survey of Indian Philosophy, Motilal Banarasidass, Varanasi.

Body and mind are two different but integral part of human being. Mind plays pivotal role in health, health management and attainment of happiness. The concept of health adopted by the World Health Organization is, "a state of complete physical, mental and social well being and not merely an absence of disease of infirmity" On the other hand happiness may be understood as a state of mind. This mental state is not proportional to material acquisition or material comforts (they may be considered as one aspect of happiness but not as a whole), however it broadly depends on conditions of mind.

In normal situation when one talks about health and happiness he considers physical health and material attainments more or less belong to physical comfort. Human being as we know is not only a component of different systems of physical body. It is not a composite of skin, muscles, blood, flesh and bones only but he possesses three forms of bodies. These are[1]- a. Physical, b. Astral and c. Causal. For achieving goal of perfect health and happiness it is essential to render these three bodies devoid of all ailments. Three bodies are grouped in five sheaths (*panca-kosa*) [2], -1. *Annamayakosa* (food sheath), 2. *Pranamayakosa* (vital sheath), 3. *Manomayakosa* (mental sheath), 4. *Vijnanamayakosa* (intellect sheath) and 5. *Annandamayakosa* (bliss sheath).

Causal body is the innermost plane of man. It is the source of astral and physical body. It is exclusively experienced in deep sleep and Samadhi (higher form of super consciousness). During the experience of joy or grief it is the causal body that operates. Its constitutes *are avidya* (ignorance), *asmita* (ego), *raga* (attachment), *dwesa* (deattachment), *abhinivesa* (clinging to life) and *jivatma* (soul)[3]. Causal body and *Anandmayakosa* are same. Astral body consists of three sheaths e.g.- vital, mental and intellectual, consequently its gradients are intellect, mind, senses and the vital force. Physical body consists of food sheath that gives rise to flesh, bones, blood and nerves.

Avidya or ignorance is the disease of the causal body. It is the source of all diseases of body and the mind. Due to the presence of ignorance,

---

1. *Samkhyakarika* (*Isvarakrsna*), 40-42, Suryanarayan Shastri (English Translation), Madras University; *Samkhyadarsana* (Kapil), 3/7 and pp. 409-415
2. *108 Upanisada-Jnanakhanda, (Pt. SriRam Sharma Acarya and Devi Sharma-Edt., 1997), Taitriyaopnisada, Brahmanandavalli,* 2-6, Brahmavarcasa, Shantikunj , Haridwar
3. *Yogadarsana* (*Patanjali*), 2/54, Harikrishana Goyandaka-Tikakara (Samvat 2065), Gitapresa, Gorakhpur

astral body becomes infected by greed, egoism, hatred, vanity, jealousy, wrath, selfishness, violence, instable cravings of sense-enjoyments, various complexes and repeated experience of birth and death. Diseases of the mind are called *adhi*. Diseases of the body are called *vyadhi*. Avidya or ignorance causes both the disease-physical and mental and originates pains opposite of pleasures or happiness. Practice of Yoga helps to cease the causes of *avidya* and beneficial for the attainment of good health and true happiness in many ways.

Yoga, *Vyaktitva* and *kles*

Personality or *vyaktitva* is an important aspect of Yoga that ascertain with the two components[1] -*Purusa* (conscious or *cetana*) and *Prakrti* (unconscious or *Jada*). To Yoga personality is nothing but it is an impure formation of an individual self (*Purusa*). Human body is the base for the expression and growth of personality. All systems of Indian Philosophy including Yoga analyze this body, its various organs and functioning. To Yoga Personality is characterized by *cittavrittis, klesas, bhumis* etc. *Cittavrittis*[2] are the phenomenal ego or Jiva, which is subject to birth and death and transmigration and to all painful and pleasurable experiences, and which imagines itself as the agent and the enjoyer. *Citta* is the first evolutes of *Prakrti* and has the predominance of Sattva. It is in itself unconscious. But being finest and nearest to *Purusa*, it has the power to reflect the *Purusa* and therefore appears as if it is conscious. When it gets related to any object, it assumes the 'form' of the object. This form is called *Vrittis* or modification.

The light of consciousness that comes from the *Purusa* and illuminates this 'form' is called '*jnana*'. *Purusa* is essentially pure consciousness and is free from the limitations of *Prakrti*. But it wrongly identifies itself with its reflection in the *citta* and appears to be undergoing change and modification. *Citta*, therefore, is the physical medium for the manifestation of the spirit. When the *Purusa realizes* that it is completely isolated and is only a passive spectator, beyond the play of the *Prakrti*, it ceases to identify itself with its reflection in the citta with the result that the light is withdrawn and the modifications of the *citta* fall to the ground. This cessation of the modifications of the *citta* through meditation is called '*Yoga*'. It is the return of the *Purusa* to its original perfection. So far concern about Citta in respect of personality it means the three internal organs of

---

1. *Samkhyakarika,* 2,3
2. *Yogadarsana*, 1/5,6

Samkhya[1]- *buddhi* or intellect, *ahankara* or ego and *manasa* or mind. *Citta* is the same as *ahankara*. It is *mahat* or *buddhi*, which includes *ahankara* and *manasa*.

Vrittis are also considered as the activities or states or modification of mind and are five in numbers- *Pramana* (valid knowledge), *vipryaya* (misunderstanding), *vikalpa* (imagining), *nidra* (sleeping), *smriti* (remembering). Valid or right knowledge or cognition is of three kinds- a. perception (*prtyaksa*), when the *Citta*, through the sense-organs, comes into contact with the external object and assumes its form, or comes into contact with the internal mental state. b. Inference (*anumana*), when the *Citta* cognizes the generic nature of things, and c. verbal testimony (*sabda*). *Viparyaya* is positively wrong knowledge like that of a rope-snake. *Vikalpa* is mere verbal cognition like that of a hare's horn. *Nidra* is called absence of cognition, yet it is mental modification because after sleep a person says'I slept sound and knew nothing' and therefore there must be some mental modification to support this absence of knowledge. *Smrti* is the recollection of past experience through the impressions left behind.

In fact Purusa is the eternally pure and transcendental consciousness. It is the *Citta* with the reflection of the *Purusa* in it or the *Purusa* reflected in the *Citta*, which is the phenomenal ego or *Jiva* that express, transmigrates and imagines the different forms of experiences. In the terminology of Yoga it has been considered kles (sufferings) and is five in numbers[2]- a.*avidya* (ignorance), b.*asmita*-ego, c.*raga*-attachment, d.*dvesa*-aversion and e.*abhinivesa*-cinging to life and instinctive fear of death. The bondage of the self is due to its wrong identification with the mental modifications and liberation, therefore, means the end of this wrong identification through proper discrimination between *Purusa* and *Prakrti* and the consequent cessation of the mental modifications[3]. It is the aim of Yoga to bring about this result and also help to redefine personality.

Yoga, Bhumis and *Vrittinirodha*

There are five levels of mental life (*cittabhumi*)[4]-*Ksipta* (restless), *Mudha* (torpid), *Viksipta* (distracted), *Ekagra* (concentrated) and *Niruddha* (restricted). The difference in the levels is due to the predominance of the different *gunas*. The lowest level is called restless, because the mind here

1. *Samkhyakarika*, 33
2. *Yogadarsan*, 2/. 26
3. *Patanjala Yogapradipa, Swami Omananda Tirtha* (*Samvat*, 2061), *Samadhipada, pp* 147-49, *Gitapress, Gorakhpur*.
4. *Yogadarsana*, 1/2

is restless due to the excess of *rajasa* and tossed about like shuttlecock between different sense-objects. The second is called torpid. The mind here is has the predominance of *tamasa* and tends towards ignorance, sleep and lethargy. The third is called distracted. Here *sattva* predominates, but *rajasa* also asserts itself at times. The fourth is concentrated or the object of meditation. The fifth and the highest level is called restricted. Here the mental modifications are arrested through their latent impressions remain. The first three levels are not at all conducive to Yogic life, but the last two are chosen for practice of Yoga.

Health and happiness depend upon the action and intention of a man that he possesses. Yoga[1] is nothing but bringing under controls the activities of one's own mind. It is a state of equanimity or balance of mind[2]. It shows the higher perspective of action, which comes through detachment[3]. The *sadhaka* of Yoga is the ideal ascetic who curbs his passions and maintains calmness at quite opposite situation i.e. in cold and heat, in joy and sorrow, in honor and dishonour[4]. It is the truly state of happiness with having perfect stage of health- physical and mental. It can be defined in very poetic form; 'Where seeing the self by the self, one is satisfied in oneself; where one experiences the absolute bliss, known only to higher reason, but ever beyond the senses, and standing where one swerves not from the truth; where no other gain is considered greater, and where one is not moved by the greatest pain- that state free from misery is Yoga or *Vrittiniroddha*'[5].

Thus, Yoga, the very science of psychology, has developed by the ancient Indians as they studied the methods by which they reached the highest religious experience-the superconscious state (*samadhi*). It is the only method of understanding and controlling the mind in order that a higher consciousness may be reached.

1. योगस्थःकुरु कर्माणि..... समत्वं योग उच्यते] *Shrimadbhagvadgita*, 2/48, *Gitapress, Gorakhpur, Samvat* 2065
2. बुद्धियुक्तो जहातीह.....योगः कर्मसु कौशलम् Ibid. 2/50
3. Ibid, VI, 7,8;XIV,23, 24
4. Ibid, VI, 20,23
5. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, Yogadarsana, 1/2

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 10 (270-271) January-June 2018 ISSN 2277-4351

Review

शोधपत्र–वैदिक चिन्तन के आलोक में गॉड पार्टिकल (हिग्स बोसोन)

लेखक–डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, सम्पादक 'वैदिक वाग् ज्योतिः'

Vol. I, No. 1 (I-XII) July-December 2012

– ममता भारद्वाज

Dr. B.R. Ambedkar College of Education,
Khedi Markanda (Kurukshetra) Haryana

लेखक जेनेवा स्थित यूरोपियन आर्गेनाइजेशन फॉर न्यूक्लियर रिसर्च (सर्न) द्वारा कुछ समय पूर्व की गयी गॉड पार्टिकल (हिग्स बोसोन) की खोज से प्रेरित और रोमांचित है। इस खोज में पहचाने गये कणों को ईश्वरीय कण या ब्रह्मकण या दैवकण इत्यादि से सम्बोधित किया गया जो सदियों से चली आ रही भारतीय वैदिक मान्यता और दर्शन से सिद्धान्ततः मेल खाते हैं। लेखक डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के वेद विभाग में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष हैं। प्रस्तुत लेख से स्पष्ट होता है कि लेखक वेदाध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण सुरुचिपूर्ण ढंग से रखते हैं। ***वैदिक वाग्–ज्योतिः*** एक उच्च स्तरीय मूल्यांकित शोध पत्रिका है जिसके जुलाई–सितम्बर, 2012 अंक में पृष्ठ 01–12 पर संदर्भित शोधपत्र प्रकाशित किया गया है।

शोध पत्र में लेखक ने बहुत ही वैज्ञानिक तरीके से ब्रह्माण्ड के उस 90 प्रतिशत हिस्से को जानने में मदद मिलने की संभावनाएं व्यक्त की हैं जिसे आधुनिक युग में अज्ञात हिस्सा मानते हुए डार्क मैटर कहा जाता है। यह शोधपत्र मूलतः वेदाश्रित है किन्तु वैज्ञानिक खोज से सम्बद्ध करने का इसमें अद्वितीय प्रयास किया गया है।

जेनेवा के पास स्विट्जरलैंड तथा फ्रांस की सीमा पर लार्ड हेड्रन कोलाइडर नामक महामशीन को लगाकर इस खोज परियोजना की आवश्यकता और संभावित उपलब्धियों को लेखक ने अतिउत्तम तरीके से व्यक्त किया है ताकि इस कठिन

तकनीकी विषय को आसानी से समझा जा सके। लेखक ने जटिल खोज के भाव को समझाकर सामने लाने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक ने इस खोज से प्राप्त और प्राप्त होने वाले ज्ञान को वेदों में पूर्व में ही उपलब्ध होना सप्रमाण सिद्ध किया है। इस लेख में लेखक ने जहां एक ओर ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति प्रकरण को उद्धृत किया है, वहीं दूसरी ओर जेम्स जीन्स की The Mysterious Universe तथा J.H. Holms की Is Science Winding Religion तथा प्लूटो की Christianity and Greek Philosophy के उद्धरण भी दिये हैं जो निश्चित ही अकाट्य हैं।

शोध-पत्र का विषय तकनीकि, असाधारण तथा जटिल है। लेखक ने स्वयं वेद के स्थापित विद्वान् होने के बावजूद अत्यधिक क्लिष्ट भाषा के प्रयोग से बचने का प्रयास किया है। परिणाम स्वरूप इसकी विषय वस्तु सरलतापूर्वक ग्राह्य हो गयी है। बारह पृष्ठों के इस लेख में बहुत ही संजीदा तरीके से गम्भीर विषय को समझाया गया है और लेखक यह समझाने में सफल रहा है कि सृष्टि की रचना में ब्रह्मसत्ता प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है। गॉड पार्टीकल उसी दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

✦✦✦